परम श्रद्धेय

आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन महोदयको

उनके बासठवें वर्षमें प्रवेश करनेके

अवसरपर

लेखककी विनम्र भेंट

भूमिका

'कबीर' लिखते समय नाना साधनाओंकी चर्चा प्रसंग-वश आ गई है। उनके उसी पहलूका परिचय विशेष रूपसे कराया गया है जिसे कबीरदासने अधिक लक्ष्य किया था। पाठक पुस्तकमें यथास्थान पढ़ेंगे कि कबीरदास बहुत-कुछको अस्वीकार करनेका अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने तत्काल प्रचलित नाना साधन-मार्गोंपर उग्र आक्रमण किया है। कबीरदासके इस विशेष दृष्टिकोणको स्पष्ट रूपसे हृदयगम करानेके लिए मैंने उसकी ओर पाठककी सहानुभूति पैदा करनेकी चेष्टा की है। इसी लिए कही कहीं पुस्तकमें ऐसा लग सकता है कि लेखक भी व्यक्तिगत भावसे किसी साधन मार्गका विरोधी है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। जहाँ कही भी अवसर मिला है वहीं लेखकने इस भ्रमको दूर करनेका प्रयास किया है, पर फिर भी यदि कही भ्रमका अवकाश रह गया हो तो वह इस वक्तव्यसे दूर हो जाना चाहिए। कबीरदासने तत्कालीन नाथपन्थी योगियोंकी साधन-क्रियापर भी आक्षेप किया है, यथास्थान उसकी चर्चा की गई है। पुस्तकके अधिकांश स्थलोंमें 'योगी' शब्दसे इन्ही नाथपन्थी योगियोंसे तात्पर्य है। समाधिके विरुद्ध जहाँ कहीं कबीरदासने कहा है वहां 'जड़-समाधि' अर्थ समझना चाहिए। यथाप्रसंग पुस्तकमें इसकी चर्चा आ गई है। वैसे, कबीरदास जिस सहज-समाधिकी बात कहते हैं वह योगमार्गसे असम्मत नहीं है। यहाँ यह भी कह रखना जरूरी है कि पुस्तकमें भिन्न भिन्न साधन-मार्गोंके ऐतिहासिक विकासकी ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है।

पुस्तकके अन्तमें उपयोगी समझकर 'कबीर-वाणी' नामसे कुछ चुने हुए पद्य संग्रह किये गये हैं। उनके शुरूके सौ पद श्री आचार्य क्षिति-मोहन सेनके संग्रहके हैं। इन्हींको कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने अंग्रेजीमें अनूदित किया था। आचार्य सेनने इन पद्योंको लेनेकी अनुमति देकर हमेंकागो, अनुगृहीत किया है।

पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने स्वाभाविक प्रेम और उत्साहके साथ पुस्तकको प्रकाशित किया है, इसके लिए लेखक अत्यन्त कृतज्ञ है। भाई श्री मोहनलालजी वाजपेयीने नाना भावसे सहायता करके पुस्तकको अधिक त्रुटियुक्त होनेसे बचा लिया है। अनेक लेखकों और प्रकाशकोंके अमूल्य ग्रन्थोंकी सहायता न मिली होती तो पुस्तक लिखी ही न गई होती। जिन लोगोंके मतका कहीं कहीं विरोध करना पड़ा है उनके प्रति मेरी गम्भीर श्रद्धा है। वस्तुतः जिनके ऊपर श्रद्धा है उन्हींके मतोंकी मैंने समीक्षा की है। इनमें कई मेरे गुरुतुल्य हैं। सब लोगोंके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन
फाल्गुनी पूर्णिमा, १९९८

हजारीप्रसाद द्विवेदी

संकेत विवरण

[जिन पुस्तकोंका पूरा नाम और विवरण प्रथमें ही दिया हुआ है उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।]

अ० रा०—अध्यात्म रामायण, श्रीमुनिलालका अनुवाद, गोरखपुर, स० १९८९

अष्टो०—ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, चतुर्थ सस्करण, १९३२

उपासक०—भारतवर्षीय उपासक सप्रदाय, श्रीअक्षयकुमार दत्त प्रणीत, कलकत्ता १३१४ बगाब्द (द्वितीय सस्करण)

क० ग्र०—कबीर ग्रथावली, श्रीश्यामसुन्दरदास संपादित, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, १९२८

क० वच०—कबीरवचनावली, श्री अयोध्यासिह उपाध्याय-संपादित, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, १९१६

क० मन०, मनसूर } कबीर मनसूर, स्वामी परमानंदकृत, भानजी कुबेरजी पेंटर द्वारा प्रकाशित, बम्बई, १९०२

गोरक्ष० वि० गोरक्षविजय } —गोरक्षविजय, श्रीअब्दुल करीम संपादित, कलकत्ता, १३२४ बगाब्द

गोपी०—गोपीचन्द्रेर गान, कलकत्ता विश्वविद्यालयद्वारा प्रकाशित और श्री विश्वेश्वर भट्टाचार्यद्वारा सकलित

गो० सि० स०—गोरक्ष-सिद्धान्त म० म० गोपीनाथ कविराज सम्पादित, सरस्वतीभवन टेक्स्ट्स नं १८, काशी, १९२५

चर्या०—चर्याचर्यनिश्चय, बौ० गा० दो० में संकलित

जाति०—भारतवर्षमें जातिभेद, श्री क्षितिमोहनसेन लिखित, कलकत्ता, १९४०

ज० डि० लै०—Journal of the Department of Letter Vol. XXVIII कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३४। इसमें श्रीबागची द्वारा सम्पादित निम्नलिखित ग्रन्थ—(१) तिल्लोपादका दोहा कोष, (२) सरहपादका दोहा (३) कण्हपादका० (४) सरहपादीय दोहा-सग्रह (५) प्रकीर्ण दोहा-संग्रह

डायसन०—The system of vedant by P Ducssen. शिकागो, १९१२

पचदशी—विद्यारण्यस्वामीविरचित, निर्णयसागर, बम्बई १९१८

पदा०—शब्दा० देखिये

प्राण०—प्राणसगली, सन्त संपूरणसिहजी सम्पादित, तरनतारन, पंजाब

फर्कुहर—An Outline of the Religious Literature of India by J N Farquhar, Oxford, 1920

बौ० गा० दो०, —बौद्ध० } बौद्ध गान ओ दोहा, म० म० हरप्रसाद शास्त्री संपादित कलकत्ता, १३२३ (बगाब्द)

भ० र० सिं० भक्ति० र० } भक्तिरसामृतसिंधु, श्रीरूपगोस्वामिपादविरचित, मुर्शिदाबाद १३३१

मनसूर—क० मन० देखिये

मिडिएवल मिस्टि०—Medieval Mysticism of India, श्री क्षितिमोहनसेन लिखित, लंडन, १९३५

विचार०—साधु श्रीविचारदासजीकी टीका, 'कबीरसाहबका बीजक' पर, काशी, स० १९८३

विश्व०—'बीजक कबीरसाहब' पर श्रीविश्वनाथसिंहजू देव बहादुर कृत पाखण्डखण्डिनी टीका, वेंकटेश्वर प्रेस, बबई, स० १९६१

वेदान्त०—वेदान्तसार, कर्नल जे० ए० जैकोब सम्पादित द्वितीय संस्करण, निर्णयसागर, बम्बई १९१६

शब्दा०—शब्दावली, कबीरसाहबकी, वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, १९०० ई०

शारदा०—शारदातिलक तंत्रम्—Arthur Avalon द्वारा सपादित Tantric Text Society Vol. XVI कलकत्ता, १९३३

शिव०—शिवसंहिता, पाणिनी ऑफिस, इलाहाबाद १९१४

शुक्ल०—प० रामचन्द्र शुक्लका हिंदी साहित्यका इतिहास, प्रयाग, सं० १९९०

स० क० सा०—सत्य कबीरकी साखी, वेकटेश्वर, बम्बई, स० १९७७

सहजा० सहजाम्नाय० } —सहजाम्नायपंजिका, बौ० गा० दो० में सकलित

हठ०—हठयोगप्रदीपिका, पाणिनि ऑफिस, इलाहाबाद १९१५

हिंदुत्व—श्रीरामदास गौड रचित, ज्ञानमंडल, काशी, १९९७

हिं० भा० सा० वि०—हिन्दी भाषा और साहित्यका विकास, पं० अयोध्यासिह उपाध्याय, लहेरियासराय, १९९७

विषय-सूची

कबीर

१—प्रस्तावना

कबीरदासका लालन-पालन जुलाहा-परिवारमें हुआ था, इसलिए उनके मनका महत्त्वपूर्ण अंश यदि इस जातिके परंपरागत विश्वासोंसे प्रभावित रहा हो तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। यद्यपि 'जुलाहा' शब्द फारसी भाषाका[1] है, तथापि इस जातिकी उत्पत्तिके विषयमें संस्कृतके पुराणोंमें कुछ न कुछ चर्चा मिलती ही है। ब्रह्मवैवर्त पुराणके ब्रह्मखंडके दसवें अध्यायमें बताया गया है कि म्लेच्छसे कुविन्द-कन्यामें 'जोला' या जुलाहा जातिकी उत्पत्ति हुई है[2]। अर्थात् म्लेच्छ पिता और कुविन्द मातामें जो सन्तति हुई वही जुलाहा कहलाई। पुराणकारने म्लेच्छ और कुविन्दके सम्बन्धमें कोई सन्देह नहीं रहने दिया है। विश्वकर्माने शूद्राके गर्भसे नौ शिल्पकार पुत्र उत्पन्न किये थे माली, लुहार, शंखकार, कुविन्द, कुम्हार, कँसेरा, बढ़ई, चित्रकार और सुनार। इस प्रकार

---

[1] प्रसिद्ध विद्वान् राय कृष्णदासजीने अपने एक पत्रमें मुझे बताया है कि 'जुलाहा' शब्द संस्कृत 'चोलवाय' से बना है। परन्तु मुझे संस्कृत साहित्यमें 'चोलवाय' शब्दका कहीं प्रयोग नहीं मिला।

[2] म्लेच्छात् कुविन्दकन्यायां जोला जातिर्बभूव ह।
जोलात् कुविन्दकन्यायां शराकः परिकीर्तितः॥

[3] विश्वकर्मा च शूद्रायां वीर्याधानं चकार ह।
ततो बभूवुः पुत्रास्ते नवैते शिल्पकारिणः॥
मालाकारः कर्मकारः शंखकारः कुविन्दकः।
कुम्भकारः कांसकारः षडेते शिल्पिनां वराः॥
सूत्रधारश्चित्रकारः स्वर्णकारस्तथैव च।
पतितास्ते ब्रह्मशापाद् अजात्या वर्णसंकराः॥

कुविन्द एक शिल्पी या कलाकार है और उसका कार्य वस्त्र बुनना है। क्षत्रिय पिता और शूद्रा माताके संयोगसे म्लेच्छकी उत्पत्ति हुई। यह उत्पत्ति जिस समय हुई इस समय माता ऋतुदोषसे अपवित्र थी और पिताके मनमें पाप-भावना थी। इसीलिये इस संयोगसे बलवान्, दुरन्त और पाप-परायण म्लेच्छ जातियोंका प्रादुर्भाव हुआ। वे जातियाँ क्रूर, निर्भय, दुर्धर्ष और विधर्मी हुईं[1]। इस प्रकार हिन्दू पुराणोंके मतसे जुलाहा जातिका प्रादुर्भाव मुसलमान पिता और कुविन्द माताके आकस्मिक संयोगसे हुआ। इस देशमें इस प्रकारके आकस्मिक संयोगसे नई जातिका पैदा हो जाना अपरिचित घटना नहीं है। आज जो सहस्रोंकी संख्यामें जातियाँ वर्तमान हैं, वस्तुतः उनमें कई इसी प्रकार बन गई हैं, परन्तु जुलाहोंके संबन्धमें पुराणोंकी यह व्यवस्था कई कारणोंसे मानने योग्य नहीं मालूम होती।

हिन्दू पुराणों और धर्मग्रन्थोंकी यह प्रवृत्ति रही है कि किसी जातिकी उत्पत्तिके लिये निम्नलिखित पाँच कारणोंमेंसे किसी एकको मान लेना

(१) वर्णोंके अनुलोम विवाहसे,
(२) वर्णोंके प्रतिलोम विवाहसे,
(३) वर्णोंकी संस्कार-भ्रष्टताके कारण,
(४) वर्णोंसे बहिष्कृत समुदायसे और,
(५) भिन्न संकर-जातियोंके अन्तर्विवाहसे।

इन पाँच कारणोंके अतिरिक्त कोई छठा कारण हिन्दू पुराणों और स्मृतियोंमें नहीं बताया गया। जब किसी नई जातिका आविर्भाव भारतीय भूमिपर हुआ है तभी कोई न कोई ऐसा ही मिश्रण सोच लिया गया है। यह धारणा केवल शास्त्रीय विवेचनाओंतक ही सीमित नहीं रही है, साधारण जनतामें भी बद्धमूल हो गई है।

इस प्रकारकी कल्पनाएँ जातिकी सामाजिक मर्यादाओंका नियमन भी करती हैं। स्मृतियों और पुराणोंकी कथाओंपरसे यह अन्दाजा भी लगाया जा सकता है कि

[1] क्षत्रवीर्येण शूद्रायामृतुदोषेण पापतः।
बलवन्तो दुरन्ताश्च बभूवुर्म्लेच्छजातयः॥
अविद्धकर्णाः क्रूराश्च निर्भया रणदुर्जयाः।
शौचाचारविहीनाश्च दुर्धर्षा धर्मवर्जिताः॥

जिस समय ये कथाएँ लिखी गई थी उस समय किसी जातिकी सामाजिक मर्यादा क्या और कैसी थी। यह ध्यान देनेकी बात है कि कई जातियोंके सम्बन्धमे संस्कृत-ग्रन्थोंमे जो कथाएँ कही गई हैं उन्हे वे जातियाँ स्वयं नहीं मानती। प्रायः आर्येतर जातियाँ अपनी उत्पत्ति और मर्यादाके विषयमे कोई न कोई पौराणिक कथा बताया करती है। इन कथाओमे साधारणतः उनका श्रेष्ठत्व प्रतिपादित किया गया होता है और कभी कभी यह भी बताया गया है कि वर्त्तमानकालमे उनकी सामाजिक मर्यादा किस अभिशापवश या किस धोखेके कारण हीन हो गई है। उदाहरणार्थ, पटवेगर नामक कपड़ा बुननेवाली जाति अपनी उत्पत्ति शिवकी जिह्वासे बताती है और यह दावा करती है कि मानव-जातिकी लज्जा बचानेके लिए शिवजीने इन्हे वस्त्र बुननेका सबसे पवित्र कार्य सौपा है। इनके आदि पुरुषोको उपवीत और वेद प्राप्त हुए थे[1]।

आधुनिक कालमे मनुष्य-गणनाके समय जुलाहा जातिके सम्बन्धमे जो तथ्य प्राप्त हुए है उनपरसे पुराण-समर्थित आकस्मिक संयोगवाली बातका समर्थन नहीं होता। जुलाहे मुसलमान हैं पर इनसे अन्य मुसलमानोंका मौलिक भेद है। सन् १९०१ की मनुष्य गणनाके आधारपर रिजली साहबने 'पीपुल्स आफ इण्डिया' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रंथमे उन्होंने तीन मुसलमान जातियोंकी तुलना की थी। वे तीन हैं, सैयद, पठान और जुलाहे। इनमे पठान तो भारतवर्षमे सर्वत्र फैले हुए हैं पर उनकी संख्या कही भी बहुत अधिक नही है। जान पड़ता है कि बाहरसे आकर ये नाना स्थानोपर अपनी सुविधाके अनुसार बस गये। पर जुलाहे पंजाब, युक्तप्रान्त, बिहार और बंगालमें ही पाये जाते हैं। ये जहाँ हैं वहाँ थोकके थोक हैं। एक पूराका पूरा भूखण्ड इनके द्वारा अध्युषित है। पंजाबमें इनकी संख्या ६,९५,११९, युक्तप्रान्तमें ९,२३,०३२ और बंगाल-बिहारमें ९२,४२,०४९ थी। पंजाबमें इनकी बस्ती काश्मीर रियासतकी दक्षिण सीमासे शुरू होकर कुछ दूरतक पंजाबके उत्तरी किनारेपर फैली हुई है। युक्तप्रान्त जहाँपर राजपूताना और मध्य भारतकी सीमाओंसे मिलता है वहाँसे लेकर बनारस और गोरखपुर कमिश्नरीकी पूर्वी सीमातक एक मेखलाकी भाँतिके भूखण्डमें इनकी दूसरी बस्ती है। बिहारके उत्तरी अंशमें और नेपालकी दक्षिण-पूर्व सीमा तक इनकी घनी बस्ती है। फिर दक्षिण बिहारमें भी

१ माइसोर ट्राइब्स, एण्ड कास्ट्स, जि० ४, पृ० १७६–७, 'जातिभेद' से उद्धृत।

इनकी एक छोटी-सी बस्ती है। दक्षिणी बगालमे बर्दवानसे ढाका कमिश्नरी तक ये बसे हुए हैं। इस प्रकार उत्तरी पजाबसे लेकर ढाका कमिश्नरी तक एक अर्ध-चन्द्राकृति भूभागमे ये फैले हुए हैं। इन प्रदेशोंमें कभी नाथपन्थी योगियोंका बड़ा जबरदस्त प्रभाव था। रिजली साहबका अनुमान है कि यह जुलाहा जाति किसी निम्न स्तरकी भारतीय जातिका मुसलमानी रूप है। सामाजिक परिस्थिति इन की अच्छी नहीं रही और नवागत धर्ममें कुछ अच्छा स्थान पा जानेकी आशासे इन्होने समूह-रूपमे धर्मान्तर ग्रहण किया होगा। यही कारण है कि ये सैयद और पठानोंकी भाँति सारे भारतवर्षमें फले हुए नहीं हैं बल्कि अपने मूल निवासस्थानमे ही पाये जाते हैं[1]।

जिन दिनों कबीरदास इस जुलाहा जातिको अलंकृत कर रहे थे उन दिनों, ऐसा जान पड़ता है कि, इस जातिने अभी एकाध पुश्तसे ही मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था। कबीरदासकी वाणीको समझनेके लिए यह निहायत जरूरी है कि हम इस बातकी जानकारी प्राप्त कर लें कि उन दिनों इस जातिके बचे-खुचे पुराने सस्कार क्या थे।

सन् १९०१ की मनुष्य गणनाके आधारपर सर आर्थन्टेल बेन्सने Grundriss der Indo arischen philologie and Altertumskunde सीरीजमें भारतीय जातियोंके सम्बन्धमें जो अध्ययन उपस्थित किया उसमें २२ प्रकारकी वयनजीवी (कपडा बुनकर जीविका चलानेवाली) जातियोंका उल्लेख है। इनकी सख्या एक करोड़से ऊपर है। सारे भारतवर्षमे इन सभी जातियोंकी सामाजिक मर्यादा एक ही-सी नहीं है। निचले बंगालके तॉती इनमें सबसे अधिक ऊची सामाजिक मर्यादाके अधिकारी बताये गये हैं। अधिक धनी और सम्भ्रान्त होनेपर ये लोग कायस्थोंके साथ विवाह-सम्बन्ध भी कर लेते हैं। इसी प्रकार गुजरात और मध्यभारतकी खत्री पटवे जातिकी सामाजिक मर्यादा भी अच्छी बताई जाती है। पर साधारणत. वयनजीवी जातियॉ निम्न श्रेणीकी मानी जाती हैं। पण्डितोंका अनुमान है कि इन २२ प्रकारकी वयनजीवी जातियोंमेंसे अधिकांश मूल द्रविड अधिवासियोंमेंसे बनी होंगी। उड़ीसा और मध्यप्रदेशकी पहाड़ियोंमे कुछ कोल या द्रविड श्रेणियोंका जुलाहा होना

---

१ ' पीपुल्स ऑफ इण्डिया ' पृ० १२३

अब भी जारी है। पॉका और गॉडा ऐसी ही जातियाँ हैं। इनमें पॉका जातिके अधिकांश व्यक्ति कबीरपंथी हो रहे है।

उत्तर भारतके वयनजीवियोंमें कोरी मुख्य हैं। बेन्स जुलाहोंको कोरियोंकी समशील (Coraesponding) जाति ही मानते हैं। कुछ एक पंडितोंने यह भी अनुमान किया है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करनेवाले कोरी ही जुलाहे है। यह उल्लेख किया जा सकता है कि कबीरदास जहाँ अपनेको बार बार जुलाहा कहते हैं[1] वहाँ कभी कभी अपनेको कोरी भी कह गये है[2]। ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि कबीरदासके युगमें जुलाहोंने मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था पर साधारण जनतामें वे तब भी कोरी नामसे परिचित थे। कबीरदासने बुनाईके रूपकों और उलटबॉसियोमे कई जगह 'जुलाहा'के स्थानपर 'कोरी' नाम लिया है। आजकल कोरियोंमेसे बहुतोंने कबीरपथ स्वीकार कर लिया है, पर बहुत-से हिन्दू विचारोंके कट्टर अनुयायी भी हैं। आजकल इनमें उच्च श्रेणीके हिन्दुओंकी आचार निष्ठाके अनुकरणकी प्रवृत्ति जोरोपर पाई जाती है। किन्तु यह सब होते हुए भी प्रस्तुत लेखक यह नहीं मानता कि कोरियोंका ही मुसलमान सस्करण जुलाहा है। अब तक उपर्युक्त अनुमानका पोषक न तो कोई सामाजिक कारण बताया गया है, न वैज्ञानिक नाप जोख। इसलिये कोरियों और जुलाहोंको एक श्रेणीकी दो जातियाँ मान लेनेका कोई प्रमाण नहीं है।

कबीरदासकी वाणियोंसे जान पड़ता है कि मुसलमान होनेके बाद न तो जुलाहा जाति अपने पूर्व संस्कारोंसे एकदम मुक्त हो सकी थी और न उसकी सामाजिक मर्यादा बहुत ऊची हो सकी थी। यह दूसरी बात विचारणीय है। रिजलीके जो अनुमान ऊपर दिये गये हैं उनमे एक यह है कि सामाजिक मर्यादाकी उन्नतिके लिये इस जातिने समूह रूपमे धर्मान्तर ग्रहण किया होगा। समूहरूपमें धर्मान्तर ग्रहण करनेके विषयमें कोई सन्देह नहीं है पर साधारणतः इस देशके निचली जातिके लोग उस कारणसे धर्मान्तर ग्रहण करते नही देखे

१ (१) जाति जुलाहा मतिको धीर। हरषि हरषि गुन रमे कबीर।
(२) तू ब्राह्मन म काशीका जुलाहा।—क० ग्र० पद २७० इत्यादि।

२ परिहरि काम राम कह बोरे सुनि सिख बन्धू मोरी।
हरिको नॉव अभै पद दाता कहै कबीरा कोरी॥
—क० ग्रं०, पद ३४६

जाते। नीचीसे नीची श्रेणीका हिन्दू अपनेको विधर्मीसे उत्तम जातिका समझता है और कबीरकी गवाहीपर तो हम निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि न तो लोककी दृष्टिमें और न अपने आपकी ही दृष्टिमें जुलाहा जाति उच्चतर सामाजिक मर्यादा पा सकी थी। आज भी जुलाहोंके सम्बन्धमें जो लोकोक्तियाँ और किस्से कहानियाँ आदि प्रचलित हैं वे यह सिद्ध करती हैं कि सब मिलाकर यह जाति आज भी साधारण जनताकी दृष्टिमें ऊँची नहीं उठ सकी। स्वयं रिजली साहबने भी अपनी पुस्तकमें ऐसी लोकोक्तियोंका मनोरंजक संग्रह किया है। कबीरदासने जुलाहोंकी जातिको कमीनी जाति कहा है[१] और यह भी बताया है कि उन दिनों भी यह जाति जन साधारणमें उपहास और मजाककी पात्र थी। साधारणतः मूर्खतासम्बन्धी कहानियोंका एक बहुत बड़ा अंश सारे भारतवर्षमें जुलाहोंसे ही बना है।

अब प्रश्न यह कि इतना बड़ा जनसमूह एक ही साथ मुसलमान क्यों हो गया? सामाजिक मर्यादाकी उन्नतिवाली बात तो कबीरकी अपनी गवाहीसे ही परास्त हो जाती है। इस प्रश्नको जरा विचारपूर्वक जाँच करनेकी चेष्टा की जाय। एक विचित्र बात यह है कि अधिकांश वयनजीवी जातियोंमें यह एक उल्लेख-योग्य विशेषता पाई जाती है कि वे अपने आपको उसी सामाजिक स्तरमें रखनेको प्रस्तुत नहीं हैं जिसमें साधारणतः उन्हें रखा गया है। ये लोग अपनी उत्पत्ति और इतिहास अलगसे बताया करते हैं और अपनी वंशगत श्रेष्ठताका दावा करते हैं। कभी कभी वे अपनेको ब्राह्मण भी कहते हैं। इस प्रकार तामिल और तंजोर प्रान्तकी पट्टलनकर जाति (जो गुजरात-काठियावाड़की आदिम अधिवासी होनेके कारण 'सौराष्ट्रक' भी कहलाती है) अपनेको ब्राह्मण कहती है और उपवीत धारण करती तथा आयंगर आदि पदवियोंका व्यवहार करती है[२]। पटवेगर जातिकी चर्चा पहले ही हो गई है। दाक्षिणात्यके साले भी अपनेको ब्राह्मण कहने और शास्त्री आदि पदवियाँ धारण करने लगे हैं। ब्राह्मणोंकी भाँति इनकी शाखाएँ

---

१ मरगलोकमें क्या दुख पड़िया तुम आइ कलिमाहीं।
जाति जुलाहा नाम कबीरा अजहु पतीजौ नाहीं॥
तहा जाहु जहाँ पाट पटम्बर अगरचंदन घसि लीना।
आइ हमारै कहा करौगी हम तो जाति कमीना॥ —क० ग्र०, पद २७०

२ माइसौर, जि० ४, पृ० ४७४–'जाति भेद' से।

और गोत्र भी हैं। शायद ही किसी अन्य जातिमें अपनी वर्तमान सामाजिक मर्यादाके विषयमे ऐसा तीव्र असन्तोष हो जैसा कि वयनजीवी जातियोंमें पाया जाता है। ऐसा जान पडता है, किसी कालमे यह पेशा उत्तम गिना जाता था और किसी अज्ञात कारणसे इस पेशेके लोग अपनी ऊची मर्यादासे अध पतित हुए हैं और इनके भीतर उनकी पुरानी महिमाके जो सस्मरण बचे रहे हैं वे ही उन्हे असन्तुष्ट बनाये हुए हैं। सम्भवत इस देशमे ब्राह्मण-श्रेष्ठता प्रतिष्ठित होनेके पूर्व इन बाईस वयनजीवी जातियोंमेसे कई जैन-बौद्धादि ब्राह्मणेतर धर्मोमें उन्नत स्थानकी अधिकारिणी रही होंगी।

बगाल-बिहारकी 'सराक' जाति तांतियोंकी ही एक शाखा है। इनके विषयमें हालहीमें एक अत्यन्त मनोरजक तथ्यका रहस्योद्घाटन हुआ है। ब्रह्मवैवर्त पुराणके अनुसार 'शराक' जातिकी उत्पत्ति जुलाहा पिता कुविन्द (तॉती) मातासे हुई है[1]। परन्तु आधुनिक खोजोमे पता चला है कि ये शराक असलमे श्रावकोंके अर्थात् जैनियोंके भग्नावशेष हैं जो अवस्था दुर्विपाकसे समाजके निचले स्तरमें डाल दिये गये हैं। अब भी इनके सामाजिक आचारोंमें बहुत कुछ जैन आचार रह ही गये हैं। अब फिरसे जैन मुनियोंने इनकी ओर ध्यान देना शुरू किया है।

सराक (शराक=श्रावक) जातिके इस रहस्योद्घाटनपरसे यह अनुमान पुष्ट होता है कि अन्यान्य वयनजीवियोंकी वर्तमान अवस्थाका कारण उनका ब्राह्मणेतर विश्वासका आश्रय होना चाहिए। शायद इन्होंने शुरु शुरुमें ब्राह्मण-धर्मका जबर्दस्त विरोध किया होगा। विरोधकी मात्राका कुछ अनुमान तो कबीरके पदोंसे ही हो जाता है।

लेकिन इन वयनजीवी जातियोमे सबसे मनोरंजक बंगालके 'जुगी' या योगी है। सन् १९२१ की मनुष्य-गणनाके अनुसार अकेले बगालमें इन जुगी या योगी लोगोंकी सख्या ३,६५,९१० थी। ये सारे बंगालमे फैले हुए है और कपडा बुननेका काम करते हैं। हिन्दू समाजमें उनका स्थान क्या है, यह इस एक बातसे अनुमान किया जा सकता है कि १९२१ ई० की मनुष्य-गणनाके समय जब एक जुगी परिवारने अपनेको स्थानीय प्रचलनके अनुसार 'जुगी' न लिखकर 'योगी' लिखाना चाहा तथा अपनी स्त्रियोंके नामके सामने 'देवी' जुड़वानेकी

---

१ जोलात् कुविन्दकन्यायां शराक परिकीर्तित । —ब्र० वै० पुराण १०।१२१

इच्छा प्रकट की, तो गणना-लेखक ब्राह्मण कर्मचारीने कहा था कि मैं अपना हाथ कटा देना अच्छा समझूंगा, पर 'जुगी' को 'योगी' और इनकी स्त्रियोंको 'देवी' नहीं लिख सकूँगा। आजकल इन योगियोंकी दृढ संघटित सभा है जो जोगियोंके सबधमें अच्छी जानकारी संग्रह कर रही है। ये लोग अपनेको 'योगी ब्राह्मण' भी कहने लगे हैं। इस प्रकारकी योगी जातियाँ बिहारमें भी पाई जाती हैं और युक्त प्रान्तमें भी किसी जमानेमें थीं। आचार्य क्षितिमोहन सेन महाशयने अपने 'भारतवर्षमें जाति भेद' नामक ग्रन्थमें लिखा है (पृ० १४४) कि "बंगालके युगी (जुगी) या नाथ लोग पहले तो वेद-स्मृतिशासित हिन्दू ही नहीं थे। नाथ-धर्म एक स्वतन्त्र और पुराना धर्म है। मध्य युगमें इनमेंके अधिकांश बाध्य होकर मुसलमान हो गये थे। ये ही जुलाहे हुए। ये स्वयं अपना पौरोहित्य किया करते थे। बादमें उन लोगोंने, जो पुरोहितका काम करते थे, जनेऊ पहनना शुरू किया। इससे समाजमें एक जबर्दस्त आन्दोलन हुआ। टिपरा जिलेके कृष्णचन्द्र दलालने जनेऊ पहनेका आन्दोलन किया था। .. अब इनमें कितने ही बाहर जाकर 'पण्डित' 'शर्मा' और 'उपाध्याय' बन कर बाकायदा ब्राह्मण बन गये हैं। ऐसी कई घटनायें मैं व्यक्तिगत रूपसे जानता हूं।"

कलकत्ता विश्वविद्यालयने 'गोपीचन्देर गान' नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित की है। इसके दूसरे भागकी भूमिकामें (पृ० ३६-७) संपादकने लिखा है कि, "योगियोंका पूर्व प्रभाव अब कुछ भी नहीं रह गया है। ये लोग क्रमशः विशुद्ध हिन्दुत्वकी ओर झुके आ रहे हैं और जीविका चलानेके लिये उन्होंने कपड़ा बुनना, चूना बेचना और अन्याय व्यवसाय आरंभ किये हैं। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें नाना भाँतिकी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। शायद ये नाना जातिके मिश्रणसे बने हुए किसी धर्म सम्प्रदायके भग्नावशेष हैं। आज भी रंगपुर जिलेके योगियोंके परम उपास्य देवता 'धर्म' ही हैं। इनके स्मरणीय महापुरुष हैं गोरखनाथ, धीरनाथ, छायानाथ और रघुनाथ आदि। ये कार्तिक और वैशाख मासमें भीख माँगकर चावल संग्रह करते और उससे 'धर्म' देवताकी पूजा करते हैं। इस पूजामें हंस और कबूतर वगैरः उत्सर्ग तो किये जाते हैं पर मारे नहीं जाते।...'धर्म' की कोई मूर्ति नहीं बनाई जाती। इनके गुरु और पुरोहित ब्राह्मण नहीं होते बल्कि इनकी अपनी ही जातिके आदमी होते हैं। पुरोहितको 'अधिकारी' कहते हैं। स्त्रियोंको पूजाके लिये अधिकारीकी मध्यस्थता जरूरी

नहीं होती। जन्मके बाद क्षौर-कर्मके समय बालकोंका कान चीर देना निहायत जरूरी समझा जाता है। तीन वर्षकी उमरमें ही गुरु-मन्त्र ग्रहण करना आवश्यक होता है अन्यथा शिशुका पंक्ति भोजनका अधिकार जाता रहता है। मृत-देहको 'योडआसन' या योगासनमें समाधि दी जाती है। यह भी सुना गया है कि कहीं कहीं धर्म-ठाकुरको चूनेका उपहार दिया जाता है। चूना बेचना और भीख माँगना रंगपुरके योगियोंका प्रधान व्यवसाय है। किन्तु ढाका और टिपरा जिलेमें कपड़ा बुनना ही प्रधान व्यवसाय है। "

ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानोंके आनेके पहले इस देशमें एक ऐसी श्रेणी वर्तमान थी जो ब्राह्मणोंसे असन्तुष्ट थी और वर्णाश्रमके नियमोंकी कायल नहीं थी। नाथपंथी योगी ऐसे ही थे। रमाई-पंडितके 'शून्यपुराण' से जान पड़ता है कि एक प्रकारके तान्त्रिक बौद्ध उन दिनों मुसलमानोंको धर्म-ठाकुरका अवतार समझने लगे थे। उन्हें यह आशा हो चली थी कि अब पुनः एक बार बौद्ध धर्मका उद्धार होगा। शायद उन्होंने हिन्दू-विरोधी सभी मतोंको बौद्ध ही मान लिया था। जो हो, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं कि उन दिनों नाथ-मतावलम्बी गृहस्थ योगियोंकी एक बहुत बड़ी जाति थी जो न हिन्दू थी और न मुसलमान। इस प्रसंगमें श्री राय कृष्णदासजीसे मुझे यह महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त हुई है कि बनारसके अलईपुराके जुलाहे अपनेको 'गिरस्त' (=गृहस्थ) कहते हैं। यह शब्द बताता है कि कोई अगृहस्थ या योगी जुलाहा जाति भी रही होगी। बंगालकी युगी जाति इसी सम्प्रदायमूलक जातिका भग्नावशेष है। कई बातें ऐसी हैं जो यह सोचनेको प्रवृत्त करती हैं कि कबीरदास जिस जुलाहा-वंशमें पालित हुए थे वह इसी प्रकारके नाथमतावलम्बी गृहस्थ योगियोंका मुसलमानी रूप था।

सबसे पहली लगनेवाली बात यह है कि कबीरदासने अपनेको जुलाहा तो कई बार कहा है पर मुसलमान एक बार भी नहीं कहा। वे बराबर अपनेको 'ना-हिन्दू ना-मुसलमान' कहते रहे। आध्यात्मिक पक्षमें निस्सन्देह यह बहुत ऊँचा भाव है, पर कबीरदासने कुछ इस ढंगसे अपनेको उभय-विशेष बताया है कि कभी कभी यह सन्देह होता है कि वे आध्यात्मिक सत्यके अतिरिक्त एक सामाजिक तथ्यकी ओर भी इशारा कर रहे हैं। उन दिनों वयन-जीवी नाथ-मतावलम्बी गृहस्थ योगियोंकी जाति सचमुच ही ना-हिन्दू-ना मुसलमान थी। कबीरदासने कमसे कम एक पदमें स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है कि हिन्दू और हैं,

मुसलमान और हैं और योगी और हैं क्योंकि योगी या जोगी गोरख गोरख करता है, हिन्दू राम राम उच्चारता है और मुसलमान खुदा खुदा कहा करता है[1]।

यह स्पष्ट रूपसे विचार कर लेना चाहिए कि यहाँ हिन्दू, जोगी और मुसलमानसे कबीरदासका क्या मतलब रहा होगा। जहाँ जहाँ कबीरदासने हिन्दू शब्दका व्यवहार किया है वहाँ वहाँ निम्नलिखित तीन शब्दोंमेंसे तीनों, दो या एकका मतलब रहता है। ये तीन बातें हैं वेद, ब्राह्मण और पौराणिक मत। इन तीनोंको माननेवालेको ही कबीरदास 'हिन्दू' कहते हैं। मुसलमान शब्दकी व्याख्या करनेकी जरूरत नहीं। इस शब्दसे कबीरदास हू-ब-हू वही अर्थ लेते हैं जो सदासे लिया जाता रहा है। 'हिन्दू' शब्दका व्यवहार आजकल उन सभी धर्म-मतोंके लिए होने लगा है जो भारतवर्षमें उत्पन्न हुए हैं और जिनके अनुयायी अपनको अहिन्दू नहीं कहते। कबीरदास इस शब्दका यह अर्थ नहीं लेते जान पड़ते।

'योगी' शब्द और भी अस्पष्ट है। योग-क्रिया करनेवालेको योगी कहते हैं। इनके विषयमें हम आगे विस्तार-पूर्वक चर्चा करनेका अवसर पायेंगे। हिन्दू लोग ब्राह्मणको श्रेष्ठ और पूज्य मानते हैं। सन्यासी और योगी भी उनके लिए पूज्य हैं। किन्तु आश्रम-भ्रष्ट योगी और सन्यासी हिन्दू समाजमें बहुत निकृष्ट समझे जाते हैं। यदि कोई सन्यासी फिरसे गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट हो जाय तो उसकी सन्तति अस्पृश्य हो जाती है। इस देशके हर हिस्सेमें भ्रष्ट सन्यासियोंसे बनी हुई जातियाँ पाई जाती हैं। उत्तर भारतकी गोसाईं, बैरागी, अतीत, साधु, जोगी और फकीर जातियाँ तथा दक्षिण भारतकी आण्डी, दासरी और पानिसावन जातियाँ ऐसी ही हैं। जब तक संन्यासी अपने संन्यासाश्रममें होता है वह हिन्दूका पूज्य होता है, पर घरबारी होकर वह उसकी आँखोंमें गिरकर भ्रष्ट हो जाता है। घरबारी सन्यासियोंकी सततिसे जो जातियाँ बनती हैं वे समाजके निचले स्तरमें चली जाती हैं। इस लिये साधक योगी और गृहस्थ जातिके योगीमें बड़ा भेद है। योगी जाति अर्थात् आश्रमभ्रष्ट योगियोंकी सन्तति न तो किसी आश्रम-व्यवस्थाके अन्तर्गत आती है और न वर्ण-व्यवस्थाके। आजकल इन जातियोंमेंसे कई अपनेको 'ब्राह्मण' कहने

१ जोगी गोरख गोरख करै। हिन्दू राम नाम उच्चरै।
मुसल्मान कहै एक खुदाइ। कबीरको स्वामी घटि घटि रह्यो समाइ॥
—क० ग्रं०, पद ३००

लगी है। कइयोंने तो अपना दावा ब्राह्मणत्वके भी ऊपर उठा दिया है। अतीत लोग अपनेको ब्रह्माके मस्तकसे उत्पन्न कहते है और इसपरसे यह तर्क और उपस्थित करते है कि वे ब्राह्मणसे ऊँचे हैं क्योंकि ब्राह्मण तो ब्रह्माके मुखसे ही उत्पन्न है, और हम मस्तकसे! मस्तक निस्सन्देह मुखसे ऊँचा है। वस्तुत ये जातियाँ एक जमानेमे आश्रमभ्रष्ट होनेके कारण वर्णाश्रम-व्यवस्थाके बाहर पड़ती थी। सर्वग्रासी हिन्दू जातिने उन्हे अब सम्पूर्ण रूपसे आत्मसात् कर लिया है।

परन्तु इन आश्रम-भ्रष्ट जातियोंमेसे अधिकाश अब भी भेष धारण करती है, भिक्षापर निर्वाह करती है और अनेकानेक सामाजिक कृत्योंमें गृहस्थ-धर्मकी विधिके बदले सन्यासियोमें विहित विधिका अनुष्ठान करती हैं। बहुतोका मृतक-सस्कार नही होता और सन्यासियोंकी भाँति समाधि दी जाती है। ऊपर हमने देखा है कि बगालमें योगियोको कहीं तो समाधि दी जाती है (अर्थात शवको गाड़ दिया जाता है) और कही कहीं उनका अग्नि-सस्कार भी किया जाता है (अर्थात् गृहस्थ हिन्दुओंकी भाँति शवको जलाया जाता है।) मेरे एक मित्र पूर्व बगालके निवासी हैं। उन्होने बताया है कि त्रिपुरा जिलेके योगियोंको पहले अग्निदाह करते है और फिर समाधि भी दे देते हैं अर्थात् मिट्टीमें गाड़ भी देते है। कबीरदासके विषयमें प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्युके बाद कुछ फूल बच रहे थे जिनमेसे आधेको हिन्दुओंने जलाया और आधेको मुसलमानोंने गाड़ दिया। कई पंडितोंने इस बातको करामाती किंवदन्ती कह कर उड़ा दिया है, परा मेरा अनुमान है कि सचमुच ही कबीरदासको (त्रिपुरा जिलेके वर्तमान योगियोकी भाति) समाधि भी दी गई होगी और उनका अग्निसस्कार भी किया गया होगा। यदि यह अनुमान सत्य है तो दृढताके साथ ही कहा जा सकता है कि कबीरदास जिस जुलाहा जातिमें पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहलेके योगी जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जातिसे मुसलमान हुई थी या अभी होनेकी राहमें थी।

जोगी जातिका सम्बन्ध नाथ-पथसे है। जान पड़ता है कबीरके वंशमे भी यह नाथ-पंथी सस्कार पूरी मात्रामें थे। यदि नाथ पथी सिद्धान्तोकी जानकारी न हो, तो कबीरकी वाणियोको समझ सकना भी मुश्किल है।

आजसे कई सौ वर्ष पहलेकी जोगी जातिका जो विवरण उपलब्ध हुआ है उससे भी जान पड़ता है कि वे उन दिनो वेद स्मृति-शासित हिन्दू समाजसे बाहर थे और कपड़ा बुनने और बेचनेका व्यवसाय किया करते थे। श्री अब्दुल करीम

साहबने आजसे लगभग ५-६ सौ वर्ष पहलेकी लिखी बताई जानेवाली 'गोरक्ष विजय' नामकी प्राचीन बंगला पुस्तका सम्पादन किया है। यह पुस्तक शेख फैजुल्लाह नामक एक मुसमान बंगाली कविकी लिखी हुई है। इसमें कदली-देशके प्रसगमें एक जोगिन (अर्थात् जोगी जातिकी स्त्री) के द्वारा गोरखनाथको भुलावा देनेके प्रसगमें इस प्रकार कहलवाया गया है, "तुम जोगी हो, जोगीके घर जाओगे और अन्न जल पाकर तृप्त होगे, इसमें भला सोचना विचारना क्या है? तुम जिस जाति और गोत्रके हो मैं भी उसी जाति-गोत्रकी हूं, फिर मेरे यहाँ चलनेमें दोष क्या है? तुम बलिष्ठ और युवक योगी हो, मै जवान जोगिन हूँ। फिर क्यों न हम अपना व्यवहार शुरू कर दें, क्यों हम किसीकी परवा करने जायँ? मै रात-दिन तुम्हारी सेवा करूँगी और अपना-पराया कुछ भी भेद न रखूँगी। मैं चिक्कना सूत कात दूँगी, तुम उसकी महीन धोती बुनोगे और हाटमें बेचने ले जाओगे। इस प्रकार सम्पत्ति दिन दिन बढती रहेगी और तुम्हारी झोली और कंथामें अँटाये नही अँटेगी[1]।" इससे सिद्ध होता है कि आजसे ५-६ सौ वर्ष पहले भारतवर्षकी पूर्वी सीमापर जो जोगी थे, वे घरबारी हो चुके थे और सूत कातने और वस्त्र बुननेका कार्य करने लगे थे और अपनी पृथक् जाति और गोत्रमें विश्वास करने लगे थे। इसी पुस्तकसे यह भी सिद्ध किया सकता है कि मृत्युके बाद उनका अग्निसंस्कार नही होता था बल्कि समाधि दी जाती थी।

---

१ जुगी द्वारे जुगी याइवा, अन्न-जले तिसि पाइबा
तावे आर किवा आछे कथा?
तुमि आमि ज्ञाति जन, एक गोत्रे उतपन
तावे किछु दोष नाहि आर।
गभुर जुगिया तुमि, जोयान योगिनी आमि
ये थाके करियु बेवहार॥
सेबिमु ये रात्रदिन, ना जानिए भिन्नभिन्न
येइ आशा आछए तोमार।
काटिमु चिकन सुति, तुमिह बुनिबा धुति
हाटे ते निबा ये बेचिबार॥
दिने दिने वेशी हइब, सम्पत्ति बाडिया याइब,
झुलि काथा सब याइब छाडि॥
—गोरक्षविजय (कलकत्ता १३२४ सन्) पृ० ६५७—

ऐसा जान पड़ता है कि ये पौराणिक धर्मके अनुकूल नहीं थे। इनमें भिन्न भिन्न जातिके आश्रम भ्रष्ट लोगोंकी सन्तति मिली हुई थी। ऊपर जिस जोगिनकी चर्चा है उसने अपनेको ब्राह्मण जोगिन और निरामिषाहारी बताया था (पृ० ६४।) इस प्रकार यद्यपि इनकी एक पृथक् जाति हो गई थी तथापि ये लोग वर्णाश्रम व्यवस्था और अस्पृश्यास्पृश्य-विचारके विरोधी थे। न तो ये भगवान्के अवतारमें विश्वास करते थे और न त्रिदेवके ही कायल थे। इनके बाह्य मृतकादि सस्कार भी हिंदुओंकी अपेक्षा मुसलमानोसे अधिक मिलते थे। इस प्रकार उन्हें मुसलमानी धर्ममे आत्म साधर्म्य ज्यादा मिला और इनका एक अग धीरे धीरे मुसलमान होता रहा। यह क्रिया अब भी जारी है। आजकल यद्यपि योगियोका मुसलमान होना कम हो गया है क्योंकि अब उनकी संघटित सभाये और उन्हे ऐतिहासिक जाति होनेका गौरव प्राप्त है, पर कुछ दिन पहले तक ये निरन्तर धीरे धीरे मुसलमान होते जा रहे थे।

यह आश्चर्यकी बात ही कही जानी चाहिये कि योगियों और नाथ-पथियोंके मध्ययुगीन आचार-विचारपर प्रकाश डालनेवाली जितनी भी पोथियॉ अब तक आविष्कृत हुई हैं, उनमेंकी अधिकांश मुसलमान कवियोकी लिखी हुई हैं। "अली राजाका 'ज्ञानसागर' सैयद सुलतानका 'ज्ञानप्रदीप' और 'ज्ञान-चौंतीसा,' मुहम्मद शफीका 'सुर कदिल,' मुरशिदका 'बारामास्या' (बार-मासा), 'योग कलन्दर' और 'सत्यज्ञानप्रदीप' के समान कोई ग्रथ हिदू कवियोंने लिखा हो, ऐसा हमारा जाना हुआ नही हैं[1]।" अनुमान है कि ये कवि-गण कबीर दासकी भॉति ही इसी प्रकारकी किसी जातिके धर्मान्तरित वंशमें उत्पन्न हुए थे। हम और भी आगे बढ कर कहना चाहते हैं कि कबीर, दादू, रजब, कुतबन, जायसी, नूर महम्मद, फाजिलशाह आदि हिंदीके कवियोंकी रचनाये इसी रोशनीमें विवेचित होनी चाहिये। इन सभी कवियोंकी रचनाओकी चर्चा किसी न किसी बहाने आ ही जाती है।

ऊपरकी विवेचनाका निष्कर्ष यह हुआ कि

(१) आजकी वयनजीवी जातियोंमेंसे अधिकांश किसी समय ब्राह्मणश्रेष्ठताको स्वीकार नहीं करती थी।

---

१ 'गोरक्षविजय' पृ० १८

(२) जोगी नामक आश्रम भ्रष्ट घरबारियोंकी एक जाति सारे उत्तर और पूर्वी भारतमें फैली थी। ये नाथ-पन्थी थे, कपड़ा बुनकर और सूत कातकर या गोरखनाथ और भरथरीके नामपर भीख माँगकर जीविका चलाया करते थे।

(३) इनमें निराकार भावकी उपासना प्रचलित थी, जातिभेद और ब्राह्मण श्रेष्ठताके प्रति इनकी कोई सहानुभूति नहीं थी, और न अवतारवादमें ही कोई आस्था थी।

(४) आसपासके बृहत्तर हिन्दू-समाजकी दृष्टिमें ये नीच और अस्पृश्य थे।

(५) मुसलमानोंके आनेके बाद ये धीरे धीरे मुसलमान होते रहे।

(६) पंजाब, युक्तप्रदेश, बिहार और बंगालमें इनकी कई बस्तियोंने सामूहिक रूपसे मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था।

(७) कबीरदास इन्हीं नव-धर्मान्तरित लोगोंमें पालित हुए थे।

इनमें जो तीसरा निष्कर्ष है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमने इस अध्यायमें उसके विषयमें अधिक प्रमाण नहीं उपस्थित किये हैं। अगले अध्यायमें हम जो कुछ कहने जा रहे हैं उससे इस तृतीय निष्कर्षका पूर्ण समर्थन हो जायगा।

परन्तु आगे हम जो कुछ कहने जा रहे हैं उसके लिये पद पदपर प्रमाणकी जरूरत होगी। कबीरदासके नामपर जो वाणियाँ मिलती हैं उनका कोई हिसाब नहीं है। कबीर पंथी लोगोंका विश्वास है कि सद्गुरुकी वाणी अनन्त है और सद्गुरु अर्थात् कबीरदास। यह मान लेना हमारे वशके बाहर है। यह तो सभी मानते हैं कि कबीरदासने 'मसि कागद छूआ नहीं' था। इनके समस्त उपदेश मौखिक ही हुआ करते थे। शिष्योंने ही उसे लिखा होगा, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। खोजमें अब तक कबीरदासके नामपर छह दर्जनके आसपास[1] पुस्तकें मिली हैं। इनमेंसे कई तो निस्सन्देह उनकी लिखी हुई नहीं हैं और कई अन्य पुस्तकोंके भीतर

[1] स्व० रामदास गौड़ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुत्व' में ७१ पुस्तकोंकी एक लम्बी सूची दी है (पृ० ७३४) और प्रा० रामकुमार वर्माने अपने 'हिन्दी साहित्यके आलोचनात्मक इतिहास' में खोजकी रिपोर्टोंके आधारपर ६१ पुस्तकोंकी सूची दी है। गौड़जीकी सूचीमें निर्भयज्ञान, हिंडोला और अलिफनामा (एक जगह अरिफ नामा) ये दो दो बार आये हैं। इस प्रकार उनकी सूचीमें वस्तुतः ६८ ही ग्रन्थ हैं। दोनों सूचियोंके सामान्य नाम ये हैं। अठपहरा, अनुरागसागर, अमर मूल, अर्जनामा, अलिफनामा, अक्षर खंडकी रमैनी, अक्षर

आ जाती है । बीजकमें रमैनी, शब्द, ज्ञान चौंतीसा, विप्रमतीसी, कहरा, बसन्त, चाचर, बेली, बिरहुली, हिंडोला और साखी ये ११ अंग हैं । इनमेंसे एक एक विभागको अलग करके कभी कभी नई और स्वतन्त्र पुस्तक बना दी गई है । अलग किये हुए विभागोंमें यथेष्ट वृद्धि की जाती रही है । फिर, 'पिय पहचानिबेको अंग', 'सत्संगको अंग' आदि अंग नामक पुस्तकें वस्तुतः साखीके ही उपविभाग हैं ।

प्रो० रामकुमार वर्माने इन पुस्तकोंमें किये गये कुछ प्रक्षेपोंका एक मनोरंजक लेखा दिया है । सन् १९०६-९ की खोज-रिपोर्टमें अनुरागसागरकी एक प्रति पाई गई थी जो सन् १९६२ की लिखी थी । उसमें पद्योंकी संख्या १५९० थी । पर सन् १९०६-११ में इसी पुस्तककी इससे १६ वर्ष पुरानी एक और प्रति मिली । इस पुरानी प्रतिमें पद्योंकी संख्या १५०४ थी । अर्थात् १६ वर्षके

भेदकी रमैनी, आरती, उग्रगीता, उग्रज्ञान, मूलसिद्धांत, कबीर और धर्मदासकी गोष्ठी, क० की बानी, क० अष्टक, क० गोरख गोष्ठी, क० जीकी साखी, क० परिचयकी साखी, कर्मकाण्ड रमैनी (गोंट कर्म खण्ड०), काया पंजी, चौका परकी रमैनी, चौंतीसा, छप्पय, जन्मबोध, तीसा यंत्र, नाम महातमकी साखी, निर्भयज्ञान, पिय पहचानबेको अंग, पुकार, बारामासी (गोंड-बारहमासा), बीजक, ब्रह्मनिरूपण, भक्तिका अंग, रमैनी, रामरक्षा, रामसार, रेखता, विचारमाला, विवेकसार, शब्द अलहटुक, शब्द वंशावली, सत कबीर, बदी छोर, सतनामा, माधोको अंग, स्वास गुंजार हिंडोरा, हंसमुक्तावली, ज्ञानगूदड़ी, ज्ञानसरोदय, ज्ञानसागर, ज्ञान संबोध और ज्ञानस्तोत्र ।

इनके सिवा प्रो० वर्माकी सूचीमें ये नाम और हैं बलखकी पैज, माधो खंड, चौंतीसा, मुहम्मद बोध, मंगल शब्द, शब्द राग काफी और राग फगुआ, शब्द राग गौरी और राग भैरव, सुरति संवाद, ज्ञान चौंतीसी ।

गौडजीकी सूचीके अधिक नाम ये हैं । पद, दोहे, सुखनिधान, कबीरपंजी, बलखकी रमैनी, रामानन्द गोष्ठी, आनन्दसागर मंगल, अनाथ मंगल, मुहम्मदकी बानी, मखहोम, बसन्त होली, झूलना, खसरा, चाचरा, आगम और शब्द पारखा तथा ज्ञानबत्तीसी ।

हमने अपनी नई पुस्तक 'कबीरपन्थी साहित्य' में इन पुस्तकोंकी जाँच की है । इनमेंसे अधिकांश पुस्तकें निश्चितरूपसे दूसरोंकी लिखी हुई हैं ।

अल्पकालमें अनुरागसागरमें ८६ पद्योंकी वृद्धि हो गई। हम आगे चलकर देखेंगे कि कबीर साहबके नामपर मुहम्मद, गोरखनाथ, नानक आदिके साथ जो गोष्ठियाँ चलती हैं उनके वक्तव्य-विषय बादकी साम्प्रदायिक कल्पनाओंके आधारपर बना लिये हैं। कई ग्रन्थोंमें सम्प्रदाय और भेषकी महिमा बखानी गई है[1]। यह बात सम्पूर्ण अविश्वसनीय जान पड़ती है। कबीरदासने आजीवन सप्रदायवाद, बाह्याचार और बाहरी भेषभावपर कठोरतम आघात किया था। वही कबीर अचानक भेष भाव और छापा तिलककी महिमा बखानने लगेंगे, यह बात कुछ जॅचती नही मालूम देती। इसीलिए कबीरदासके नामपर प्रचलित इन ग्रथोंकी प्रामाणिकता सदेहका ही विषय है। श्रीविश्वनाथसिंहजू देवने अपनी टीकाके अन्तमें कबीरदासका कहा जानेवाला एक पद उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि बीजकका मत ही ग्राह्य है[2]। यह पद स्वयं सदेहात्मक है। क्योंकि इसको सचमुच कबीरकी वाणी माननेके पहले यह मान लेना होगा कि कबीरकी जीवितावस्थामें ही बहुतसे जाली ग्रथ बन गये होंगे, और जालका जगल इतना बढ गया रहा होगा कि उसके निराकरणके लिये कबीरदासको स्वयं उद्योगी होकर वह पद लिखना पड़ा। जो हो, यह पद है महत्त्वपूर्ण। क्योंकि इससे कबीरदासका अपना मत प्रकट होता हो या नहीं

---

१ माला तिलक निन्दा करं, ते परगट जमदूत।
कहे कबीर विचारिके तेई राक्षस भूत॥
द्वादश तिलक बनावई, अग अग अस्थान॥
कहे कबीर विराजही, उज्ज्वल हस समान॥

—कबीर मन्सूरमें 'गुरुमहिमा' से उद्धृत पृ० १३६१

२ सायर बीजकको पद—

सन्तौ बीजक मत परमाना।
कैयक खोजी खोजि थके कोई बिरला जन पहिचाना।
चारिउ जुग और निगम चतुभुज गावै ग्रथ अपारा।
विष्णु विरचि रुद्र ऋषि गावें शेष न पावैं पारा॥
कोई निगुण सगुण ठहरावैं कोई ज्योति बतावैं।
नाम धनीको सब ठहरावैं रूपकों नही लखावैं॥

पर इतना निश्चित इससे प्रकट हो जाता है कि काफी प्राचीन कालसे कबीरके नाम-पर चलनेवाले ग्रंथ संदेहकी दृष्टिसे देखे जाते रहे हैं। महाराज विश्वनाथसिंहजूके अनुसार स्वयं बीजकके विषयमें परम्परा है कि भगवानदास नामक किसी शिष्यने कबीरदासकी जीवितावस्थामें ही बीजकका अपहरण किया था। ले भागनेके कारण ही भगवानदास 'भग्गूदास' बन गया। कहते हैं, इस शिष्यने बीजकको विकृत भी किया था। कहा गया है कि स्वयं कबीरदासने ही 'बघेलवंश-विस्तार' में भग्गूदासकी इस करतूतकी चर्चा की है[१]। परन्तु कबीरदासके नामपर पाये जानेवाले इस कथनकी भाषा और युक्ति सभी बतलाते हैं कि यह बादकी साम्प्रदायिक होड़के कारण लिखा गया है। सौभाग्यवश महात्मा भगवानदासकी शिष्य-परम्परा अब भी जीवित है और छपरा (बिहार) जिलेका धनौती मठ उसका मुख्य स्थान है।

कोउ सूच्छम कोउ थूल कहावै कोउ अक्षर निज साचा।
सतगुरु कहैं बिरले पहिचानैं भूले फिरैं असाचा॥
लाभके भक्ति सर नहिं कामा साहब परम सयाना।
अगम अगोचर धाम धनीको सबै कहैं हाँ जाना॥
देखे न पथ मिले नहिं पंथी ढूंढत ठौर ठिकाना।
कोउ ठहरावै शून्यक कीन्हा ज्योति एक परमाना॥
कोउ कहै रूपरेख नहिं वाके धरत कौनको ध्याना।
रोम रोममें परगट कर्त्ता काहे भरम भुलाना॥
पक्ष अपक्ष सबै पचि हारे करता कोइ न विचारा।
कौन रूप है साचा साहब नहिं कोई विस्तारा॥
बहु परचे परतीति दृढावें साचेको बिसरावै।
कलपत कोटि जन्म जुग वागे दर्शन कतहु न पावै॥
परम दयालु परम पुरुषोत्तम ताहि चीन्ह नर कोई।
तत्पर हाल निहाल करत है रीझत है निज सोई॥
बधिक कर्म करि भक्ति दृढावैं नाना मतको ज्ञानी।
बीजक मतु कोइ विरला जानै भूलि फिरै अभिमानी॥
कहै कबीर कर्तामें सब है कर्ता सकल समाना।
भेद बिना सब भरम परे कोउ बूझत सन्त सुजाना॥
—विश्व०, पृ० ६५७-८

१ भागूदासकी खबरि जनाई। ले चरणामृत साधु पियाई॥
कोऊ आप कह कालिंजर गयऊ। बीजक ग्रंथ चोराइ ले गयऊ।
सतगुरु कह वह निगुरा पंथी। काह भयो ले बीजक ग्रन्थी।

इन लोगोंने अपना बीजक प्रकाशित भी कराया है। जो हो, मेरी धारणा है कि बीजकमें कुछ अंश अवश्य बादके हैं। कहरा तिरहुती आदिमें बिहारी भाषाके बहुत प्रयोग हैं। कहा जाता है कि बीजक बहुत दिनों तक छपरा जिलेके भगोती मठमें पड़ा रहा। बादमें उसे प्रचारित किया गया। अपनी नई पुस्तक 'कबीरपंथी साहित्य' में मैंने इसपर विचार किया है।

जो हो, बीजक कबीरदासके मतोंका पुराना और प्रामाणिक संग्रह है, इसमें सन्देह नहीं। एक ध्यान देने योग्य बात इसमें यह है कि बीजकमें ८४ रमैनियाँ हैं। रमैनियाँ चौपाई छंदमें लिखी गई हैं। इनमें कुछ रमैनियाँ ऐसी हैं जिनके अन्तमें एक एक साखी उद्धृत की गई है। साखी उद्धृत करनेका अर्थ यह होता है कि कोई दूसरा आदमी मानो इन रमैनियोंको लिख रहा है और इस रमैनी-रूप व्याख्याके प्रमाणमें कबीरकी साखी या गवाही पेश कर रहा है। गुरुको 'साक्षी' (या साखी) करके किसी बातको कहनेकी प्रथा बहुत पुरानी है। जालंधर-नाथके शिष्य कृष्णपाद (कानपा)ने कहा है 'साखि करब जालंधरि पाए' अस्तु। बहुत थोड़ी सी रमैनियाँ (नं० ३, २८, ३२, ४२, ५६, ६२, ७०, ८०) ऐसी हैं जिनके अन्तमें साखियाँ नहीं हैं। परन्तु इस प्रकार साखी उद्धृत करनेका क्या अर्थ हो सकता है? इस पुस्तकमें मैंने बीजकको निस्सकोच प्रमाण-रूपमें व्यवहार किया है पर स्वयं बीजक ही इस बातका प्रमाण है कि साखियोंको सबसे अधिक प्रामाणिक समझना चाहिये, क्योंकि स्वयं बीजकने ही रमैनियोंकी प्रामाणिकताके लिये साखियोंका हवाला दिया है। इसीलिये कबीरदासके सिद्धान्तोंकी जानकारीका सबसे उत्तम साधन साखियाँ हैं[1]।

साखियोंकी ही भाँति बीजकके शब्द भी बहुत प्रामाणिक हैं। बीजकमें इन शब्दोंकी प्रामाणिकता दिखानेके लिये कभी भी साखियाँ नहीं उद्धृत की गईं। इसका अर्थ यह हुआ कि बीजकमें शब्द और साखियाँ सबसे अधिक प्रामाणिक हैं। वे अपने लिये किसी अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं रखतीं। इस पुस्तकमें मैंने इसीलिये पदोंका प्रमाणरूपमें यथेच्छ व्यवहार किया है।

चोरा करि वह चोर कहाई। काह भयो बड़ भक्त कहाई ॥
बीजमूल हम प्रगट चिन्हाई। बीज न चीन्हों दुर्मति लाई ॥ इत्यादि
—विश्व०, पृ० २४

१ साखी आँखी ज्ञानकी, समुझि देखु मनमाहिं।
बिन साखी संसारकौ, झगरा छूटत नाहिं। —साखी नं० ३६९

परन्तु मैं यह नहीं मानता कि बीजकके बाहर कबीरदासने कुछ कहा ही नहीं। कबीरपंथियोंमें कबीरदासके स्वयंवेदके चार भेद बताये गये हैं—(१) कूट वाणी, (२) टकसार, (३) मूल-ज्ञान और (४) बीजक-वाणी। इनमें कूट-वाणीको महात्मा धर्मदासने प्रचारित किया था। बाकीके बारेमें कहा जाता है कि उन्हें क्रमशः कर्नाटकके चतुर्भुजदास, दरभंगाके राय बंकेजी और शाममला द्वीप और मानपुरके हिरामीराजी प्रचार करेंगे। सो इन अपार वाणियोंका पार पाना कठिन है। और उनकी नित्य-स्फीयमान कायाका लेखाजोखा भी दुष्कर है। पर इतना निश्चित है कि बीजकके बाहर भी कबीरदासकी कुछ वाणियाँ रही जरूर होंगी।

इधर बाबू श्यामसुंदरदासजीने काशी नागरी-प्रचारिणी-सभासे कबीर-ग्रंथावली नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित कराई है। कहा गया है कि इसका आधार एक बहुत पुरानी प्रति है जो सं० १५६१ ई० में लिखी गई थी। परम्परासे प्रसिद्ध है कि कबीरदासका आविर्भाव सिकन्दर लोदीके जमानेमें हुआ था। उन्होंने स्वामी रामानन्दसे बचपनमें ही दीक्षा ली थी और मरती बार मगहरको चले गये थे। मगहरमें उनके तिरोहित होनेका काल सं० १५७५ की अगहन सुदी एकादशी कहा जाता है। सभी बातोंका विचार करके बाबू श्यामसुन्दर-दासजीको यही सम्भव जान पड़ा है कि कबीरदासजीका जन्म० १४५६ में और मृत्यु संवत् १५७५ में हुई होगी। अर्थात् कबीर-ग्रन्थावलीका प्रकाशन जिस प्रतिके आधारपर हुआ है वह कबीरदासकी मृत्युके १४ वर्ष पहलेकी लिखी हुई है। यदि यह बात सत्य है तो पुस्तककी प्रामाणिकता बहुत बढ़ जाती है। यद्यपि १४ वर्षकी अवधि कम नहीं होती और कबीरदासने निश्चय ही इन चौदह वर्षोंमें और बहुत-सी वाणियाँ कही होंगी जो इस संग्रहमें नहीं आ सकी होंगी और इसीलिये इस पुस्तकको एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं स्वीकार किया जा सकता, तथापि इसमें जितने पद हैं वे तो निश्चय ही प्रामाणिक होंगे।

पर इस बातको मान लेनेमें एक बाधा है। नागरी-प्रचारिणी-सभाकी प्रकाशित पुस्तकमें उक्त प्रतिके अन्तिम पृष्ठका फोटो दिया गया है। उसमें जो संवत् लिखा हुआ है वह बादकी लिखावट जान पड़ती है। एक बार 'इतिश्री कबीरजीकी वाणी संपूरण समाप्त ॥ ' इत्यादि लिखकर फिरसे अपेक्षाकृत मोटी लिखावटमें 'संपूर्ण सं० १५६१' इत्यादि लिखना क्या संदेहास्पद नहीं है? पहली बारका 'संपूरण' और दूसरी बारका 'संपूर्ण' काफी संकेतपूर्ण

हैं। एक ही शब्दके ये दो रूप,—हिज्जे और आकार-प्रकारमें स्पष्ट ही बता रहे हैं कि ये एक हाथसे लिखे नहीं हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अन्तिम डेढ़ पंक्ति किसी बुद्धिमानकी कृति है। इसीलिए मुझे इस पुस्तकके सं० १५६१ में लिखित होनेमें काफी सन्देह है, पर, इसकी प्राचीनतामें कोई सन्देह नहीं है। यह पुस्तक १५६१ संवतके बहुत बादकी लिखी हुई होनेपर भी काफी प्राचीन जान पड़ती है। फिर यह प्रति जितनी सुसपादित है वैसी और कोई पुस्तक नही। इसी लिए मैंने इस पुस्तकमें इस प्रतिको प्रमाणरूपसे बराबर व्यवहार किया है। वस्तुत यह पुस्तक परवर्ती कालकी लिखी हुई है। सम्भवत इसका लेखन काल अट्ठारहवीं शताब्दीका आदि या मध्यभाग है।

कबीर-ग्रन्थावलीके सम्पादकने परिशिष्टमें ग्रन्थ साहबमें आये हुए कबीरके पदोंका संग्रह करके बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। मैंने यथा-अवसर इन पदोंको भी प्रमाणरूपसे स्वीकार करनेमें सकोच नहीं किया। इधर डा० रामकुमार वर्माने ग्रन्थसाहबके पदोंका संग्रह 'सन्त कबीर' नामसे प्रकाशित कराया है।

कबीरदासकी वाणियोंके अनेक सग्रह प्रकाशित हुए हैं पर उनमें सबसे अच्छा सुसम्पादित सस्करण अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की 'कबीरवचनावली' है। यह भी काशी-नागरी प्रचारिणी सभाका ही प्रकाशन है। प्रयागके बेलवेडियर प्रेसने भी कबीरदासकी शब्दावली छापी है। उस शब्दावलीका द्वितीय संस्करण मेरे पास है। यह सस्करण पहले संस्करणसे बहुत कुछ भिन्न है। इन दोनो संग्रहोंका भी मैंने यथा-अवसर उपयोग किया है, पर महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंके निर्णयके प्रसंगमें यथासम्भव मूल ग्रन्थोंके उपयोग करनेकी ही चेष्टा की है।

श्री० क्षितिमोहनसेन द्वारा सम्पादित 'कबीरके पद' एक नये ढंगका प्रयास है। वे 'भक्तोंके मुखसे' सुनकर संग्रह किये गये हैं। अपनी प्रामाणिकताके लिये उन्होने किसी पोथीकी मुखापेक्षिता नही रखी। परम्परासे एक मुँहसे दूसरे मुँह तक आते रहनेके कारण इन पदोंकी भाषा जरूर बदल गई होगी पर इसके अन्तर्निहित भावोंकी प्रामाणिकता विश्वसनीय हो सकती है। फिर भी कोई विशेष स्वार्थके पोषक महात्माओंकी ओरसे इस पुस्तकके गंभीर विचारोंको उड़ा देनेकी चेष्टा की गई है। कहा गया है कि इसमें पाये जानेवाले उच्च भाव किसी प्राचीन पोथीमें नहीं मिलते। इस विशेष स्वार्थके पोषक लोग भारतीय मनीषाकी न तो कोई प्रतिष्ठा देखना चाहते हैं, न आदर पाना बर्दाश्त कर

पाते हैं। मैंने जान-बूझकर उक्त संग्रहका उपयोग नहीं किया। ऐसा मैंने इसीलिये किया है कि भारतीय मनीषाको जो लोग अस्वीकार करना चाहते हैं वे सीधे ही ऐसा करें। प्राचीन और नवीन पोथियोंका झमेला खड़ा करके अपने उद्देश्य और पाठककी निर्णयात्मिका बुद्धिके बीच पर्दा खड़ा करनेका प्रयास न करें। परन्तु मैं यहाँ अत्यन्त कृतज्ञ भावसे निवेदन करना चाहता हूँ कि यद्यपि आचार्य सेनकी पुस्तकके पाठ इस पुस्तकमें नहीं लिये पर उनके उपदेशोंका यथेच्छ उपयोग किया गया है। उनके साथ मेरा सम्बन्ध कुछ इतना गम्भीर है कि इस स्थानपर कृतज्ञता प्रकट करनेमें भी संकोच होता है। सच बात तो यह है कि यदि उनसे प्रेरणा न मिलती तो मैं यह पुस्तक लिख ही न पाता। उनके दृष्टिकोणमें और मेरे इस पुस्तकमें व्यवहृत दृष्टिकोणमें थोड़ा मौलिक अन्तर है। वे सन्तोंकी वाणियोंको म्यूजियमके प्रदर्शनकी वस्तु नहीं मानते और यह बात ठीक भी है। जिसे आजकल 'एकेडेमिक' आलोचना कहते हैं वह बात कुछ म्यूजियमकी रुचिको ही उत्तेजना देती है। आचार्य सेन सन्तोंकी जीवन्त वाणीको जलती हुई मशाल कहते हैं और उनका दृढ विश्वास है कि ये वाणियाँ यथा समय भारतवर्षकी और संसारकी समस्याओंको सुलझायेंगी। ऐसी प्राणमयी वाणीको म्यूजियममें सजाके नहीं रखा जा सकता। मुझे स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरसे भी इस पुस्तकके लिखनेमें बहुत प्रेरणा मिली है और उनकी कविताओं और लेखोंको पढ़कर कबीरके भावोंको समझनेमें बड़ी सहायता मिली है। मेरा यह परम दुर्भाग्य है कि पुस्तक प्रेसमें जानेके पहले ही वे इहलोक त्याग कर गये। परन्तु परम सौभाग्य यह कि वे अपना आशिर्वाद छोड़ गये हैं जो आजीवन मुझे बल देता रहेगा।

श्री युगलानन्दजीकी 'सत्य कबीरकी साखी' का भी मैंने इस ग्रन्थमें उपयोग किया है जिसका सम्पादन सं० १६०० और सं० १८४२ की प्रतियोंके आधार-पर किया हुआ बताया गया है। परन्तु सब मिलकर कबीरके अध्ययन करने-लायक पर्याप्त सामग्री मुझे मिली नहीं है, यह मानसिक क्षोभ मैं पाठकोंकी सेवामें उपस्थित कर देना चाहता हूँ। मुझे नाथ, निरंजन, महिमा आदि सम्प्रदायों और आसामसे लेकर कठियावाड़ तक फैले हुए विविध निर्गुणिया समाजोंका कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं हुआ है। इन सभी अभावों और त्रुटियोंको शिरसा स्वीकार करके ही मैंने कार्य आरम्भ किया है।

२—अवधूत कौन है ?

हमने ऊपर देखा है कि कबीरदास जिस वशम पालित हुए थे उसमें योग मतका काफी प्रचार था। पर इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि स्वयं कबीरदास योगमतके उपासक थे। उनका पालन पोषण योगमतके वातावरणमें हुआ था इसीलिये उनकी युक्तियोंमें, भाषापर, तथा तर्कशैलीमें उस मतका प्रभाव रह गया है। जब तक हम ठीक ठीक न समझ लें कि वह मत क्या था, तब तक उसके प्रभावको भी हम ठीक ठीक नहीं समझ सकेंगे। इसीलिए इस मतकी चर्चा कर लेना बहुत आवश्यक है।

कबीरदासके पदोंमें जितने सबोधन हैं उन सबका एक न एक खास प्रयोजन है। जब उन्होंने 'अवधू या अवधूत' को पुकारा है तो यथासम्भव अवधूतकी ही भाषामें उसीके क्रिया-कलापकी आलोचना की है। इस प्रसगमें उनकी युक्ति और तर्कशैली पूर्णरूपसे अवधूत-जसी रहती है। जब वे पडित या पाडेको सबोधित करते हैं तो वहाँ भी उनका उद्देश्य पडितकी ही भाषामें पडितकी ही युक्तियोंके बलपर उसके मतका निरास करना होता है। इसी तरह मुल्ला, काजी आदि सबोधनोंको भी समझना चाहिए। जब वे अपने आपको या सन्तोंको सबोधित करके बोलते हैं तब वे अपना मत प्रकट करते जान पड़ते हैं। वे अपने मतके माननेवालेको ही 'सन्त' या 'साधु' कहते हैं। साधारणत वे 'भाई' संबोधनके द्वारा साधारण जनतासे बात करते हैं और जब कभी वे 'जोगिया' को पुकार उठते हैं तो स्पष्ट ही जान पड़ता है कि इस भले आदमीके सम्बन्धमें उनकी धारणा कुछ बहुत अच्छी नहीं थी। यह दावा किया गया है कि गुरुपरम्पराकी जानकारी रखनेवाले लोग कबीरदासके आत्म-संबोधनोंमें एक निश्चित संकेतकी बात बताया करते हैं। इस प्रकार 'हंस कबीर' से मुक्तात्मा, 'कहहि कबीर' से लोकविशेष-निवासी ईश्वरका उपासक और 'कबीरा' या 'कबीरन' से कभी अज्ञानी तथा वंचक गुरुओंका सकेत होता है (विचार०, पृ० ४०)।

यद्यपि कबीरदास अवधूत मतको मानते नहीं तथापि अवधूतके प्रति उनकी

अवज्ञा नहीं है, उसे वे काफी सम्मानके साथ ही पुकारते हैं। वे कभी कुछ उपदेश दे देते हैं, कभी कुछ बूझनको ललकारते हैं, कभी उसकी साधना-पद्धतिकी व्यर्थता दिखा देते हैं और कभी कभी तो कुछ ऐसी शर्त रख देते हैं जिनको अगर अवधूत समझ सके तो वह कबीरदासका गुरु तक बन सकता है। प्रायः ही ये उससे सन्ध्या भाषा या उलट-बाँसियोंमें बात करते हैं। कहते हैं, 'भई अवधू, वही योगी मेरा गुरु हो सकता है जो इस बातका फैसला कर दे : एक वृक्ष है जो बिना जड़के ही खड़ा हुआ है। उसमें बिना फूलके ही फल लग गये हैं, न उसके शाखा है न पत्र, और फिर भी आठों दिशाओंके आकाशको उसने आच्छन्न कर रखा है। इस विचित्र वृक्षके ऊपर एक पक्षी है जो बिना पैरके ही नृत्य कर रहा है, बिना हाथके ही ताल दे रहा है, बिना जीभके ही गाना गा रहा है। मजा यह कि गानेवालेकी कोई रूप रेखा तो नहीं है पर सतगुरु अगर चाहें तो उसे दिखा सकते हैं। यह पक्षी मीनका मार्ग खोज रहा है। बहुत विचार करके कबीरदास कहते हैं कि परमेश्वर अपरंपार है, उसकी इस मूर्तिकी बलिहारी है[1]।

यह अवधू कौन है जो कबीरदासका गुरु तक बन सकता है और इस विचित्र पहेलीका ही क्या अर्थ है ? महाराज श्री विश्वनाथसिंहजू देवने (बिश्व० पृ० २५५) इसी पदकी व्याख्या करते समय बताया है कि " वधू जाके न होइ सो अवधू कहावै, " अर्थात् अवधू वधूहीन जीव है। स्वयं कबीरदास किन्तु ऐसा नहीं मानते। वे अवधू योगीको जगसे न्यारा मानते हैं। वह मुद्रा, निरति, सुरति और सींगी धारणा करता है, नादसे धाराको खंडित नहीं करता, गगन-मंडलमें बसता है और दुनियाकी ओर देखता भी नहीं। वह चैतन्यकी चौकीपर

---

१ अवधू, सो योगी गुरु मेरा, जो या पदको करै निबेरा।
तरवर एक पेड बिन ठाढा, बिन फूलाँ फल लागा।
साखा पत्र कछू नहि वाकै, अष्ट गगन मुख वागा॥
पैर बिन निरति कराँ बिन बाजै, जिभ्या हीणा गावै।
गावणहारकै रूप न रेखा, सतगुरु होइ लखावै॥
पखीका खोज मीनका मारग कहै कबीर विचारी।
अपरपार पार परसोत्तम वा मूरतिकी बलिहारी॥

क० ग्र० पद १६५

विराजता है, आकाशपर चढा हुआ भी आसन नहीं छोड़ता, महामधुर रसका पान करता रहता है। यद्यपि प्रकट रूपमे वह कथामें लिपटा रहता है पर वस्तुत हृदयके दर्पणमें कुछ देखता रहता है। निश्चल बैठा हुआ नासिकामें २१ हजार ६ सौ धागोंको पिरोया करता है। वह ब्रह्म अग्निमें कायाको जलाता है, त्रिकुटीके संगममे जागता है, सहज और शून्यकी लौ लगाये रहता है,[1] इस प्रकार यह विचित्र योगेश्वर अवधूत शुरूसे आखिर तक विचित्र पहेली है।

आखिर यह विचित्र जीव कौन है? सचमुच यह तीन लोकसे न्यारा है। निश्चय ही वधू-हीन लोग ऐसे अजीब जीव नहीं होते।

भारतीय साहित्यमे यह 'अवधूत' शब्द कई सम्प्रदायोंके सिद्ध आचार्योंके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। साधारणतः जागतिक द्वन्द्वोंसे अतीत, मानापमान-विवर्जित, पहुँचे हुए योगीको अवधूत कहा जाता है। यह शब्द मुख्यतया तांत्रिकों, सहजयानियों और योगियोंका है। सहजयान और वज्रयान नामक बौद्ध तांत्रिक मतोंमें 'अवधूती वृत्ति' नामक एक विशेष प्रकारकी यौगिक-वृत्तिका उल्लेख मिलता है[2]।

आठवीं शताब्दीके बादसे नालंदा, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी आदि विद्यायतनोंमें जो बौद्ध धर्म प्रचलित हुआ वह एक नवीन ढंगका तान्त्रिक और योगक्रियामूलक धर्म था। इस नवीन तान्त्रिक मतमें तीन प्रधान मतोंका संधान पाया गया है—सहजयान, वज्रयान, और कालचक्रयान। इन मतोंकी

---

१ अवधू जोगी जगथे न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न खंडै धारा॥
बसै गगनमें दुनी न देखै चेतनि चौकी बैठा।
चढि अकास आसण नहीं छांडै पीवै महारस मीठा॥
परगट कथा माहैं जोगी दिलमें दरपन जोवै।
सहस इकीस छसै धागा निहचल नाकै पोवै॥
ब्रह्म-अगिनिमें काया जारै त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेश्वर सहज सुंनि ल्यो लागै॥
—क० ग्रं०, पद ६०

२ चर्यापद २७-२, १७-१ देखिये, पृ० १२४ का दोहा भी देखिये।
—बौद्ध गान ओ दोहा

अधिकांश पुस्तकें आज तिब्बती अनुवादके रूपमें ही सुरक्षित हैं। स्व० म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्रीने चर्याचर्यविनिश्चय, दोहाकोष, अद्वयवज्रसंग्रह और गुह्य-समाजतन्त्र आदि पुस्तकें प्रकाशित की हैं। सहजयान और वज्रयानमें बहुत कुछ समानता है। शास्त्रीजीने जो चर्यापद प्रकाशित कराये हैं उनमें आर्यदेव, भूसुक, कान्ह, सरह, लुई आदि आचार्योंके पद हैं जिन्हें तिब्बती साहित्यमें सिद्धाचार्य कहा गया है। ये आचार्यगण सहजावस्थाकी बात करते हैं। सहजावस्थाको प्राप्त करने पर ही साधक अवधूत होता है। कान्ह सहजरूप पद्मवनमें प्रवेश करके मधु-पानसे मत्त होनेकी बात करते हैं[1] और जोर देकर कहते हैं कि पंचस्कन्धों या संस्कारोंके नष्ट होनेकी कुछ चिन्ता मत करो यदि तुम्हारा चित्त 'सहज-शून्य' से परिपूर्ण हो गया है[2]। इसी प्रकार भूसुकपाद सहजानन्द-लीलासे ही मिलनका रहस्य समझ सकनेकी घोषणा करते हैं[3] और सरहपाद कहते हैं कि ऐ नाविक, चित्त स्थिर कर सहजके किनारे अपनी नैया चलाये जा, रस्सीसे खींचता चल, दूसरा उपाय नहीं है।[4] यह सहजावस्था बहुत कुछ वैसी है जैसी परवर्ती कालके नाथपन्थियोंमें प्रसिद्ध थी और जिसकी चर्चा करनेका अवसर हमें आगे मिलेगा। ये लोग बाह्य अनुष्ठानोंमें एकदम विश्वास नहीं करते थे, ब्राह्मण, याज्ञिक, त्रिदण्डी, जटाधारी और क्षपणक आदि सभीका उपहास करते थे और किसी प्रकारकी पूजा-अर्चामें विश्वास नहीं करते थे। भला ध्यान धारणासे, पूजोपचारसे और शास्त्रपाठसे कहीं मुक्ति होती है ?

---

१ कान्ह विलसआ आसव माता।
सहज नलिनिबन पइसि निवाता। —चर्या० ९-४

२ चिअ सहज शून्य सम्पुन्ना।
काध विओएं मा होहि विसन्ना॥ —चर्या ४२-२

३ भूसुक भनइ मइ बूझि अकेलें।
सहजानंद महासुख लीलें॥ २७-१०

४ चीअ थिर करि धरहु रे नाइ।
आन उपाये पार ण जाइ।
नौवा ही नौका टानअ गुणे।
मेलि मेलि सहजे जाउ ण अणे। —चर्या ३८-४-६

मोक्ख कि लब्भइ ज्झान पविट्ठा।
किन्तह किज्जइ किन्तह णिवेज्ज
किन्तह किज्जइ किन्तह सेव्य।

इसीलिये सरहपादने अपने चित्तको सम्बोधन करके कहा है कि 'ए मेरे चित्त, वहाँ चल कर विश्राम करो जहाँ सूर्य और चन्द्रकी भी गति नहीं, जहाँ मन और पवन भी सचरित नहीं होते, जहाँ आदि भी नहीं, अन्त भी नहीं, मध्य भी नहीं, जन्म भी नहीं, मरण भी नहीं, अपना भी नहीं पराया भी नहीं—जो महासुख है, जो सहजावस्था है।—

जहि मन पवन न सचरइ रवि शशि नाह पवेश।
तहि वट चित्त विशाम करु सरहे कहिअ उवेश॥
आइ न अन्त न मज्झ णउ, णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण॥

यद्यपि हम आगे चलकर देखेंगे कि इन सिद्धोंकी वाणियोंसे कबीरदासकी वाणियोंका समन्वय है तथापि आगे जो कुछ विवेचना की जा रही है उसके बल-पर मेरा अनुमान है कि कबीरपर इन सिद्धोंका प्रभाव नाथपन्थियोंकी मध्यस्थतामें ही पड़ा है। वस्तुतः जब कबीरदास अवधूतको पुकारते हैं तो इन सिद्धाचार्योंके अवधूतसे उनका सीधा अभिप्राय नहीं होता।

निर्वाण-तन्त्र (चतुर्दश पटल) में कहा गया है कि अवधूत वह है जो सब पंच तत्त्व सेवन करता हुआ वीराचारी होकर रहता है, सन्यासकी सभी विधि-योंका यथोक्त पालन करता है, दण्डियोंकी भाँति अमावास्याके दिन मुण्डन न कराके लम्बे केस और जटा आदि धारण करता है, अस्थिमाला और रुद्राक्षको धारण करता है, दिगम्बर होकर या कौपीन मात्र धारण करके रहता है और शरीरमें रक्त चन्दन और भस्मका लेप करता है[१]।

---

१ शृणु देवि, प्रवक्ष्यामि अवधूतो यथा भवेत्।
वीरस्य मूर्तिं जानीयात् सदा तत्त्वपरायण॥
यद्रूप कथित सर्वं सन्यासधारण परम्।
तद्रूप सर्वकर्माणि प्रकुर्यात् वीरवल्लभम्॥
दण्डिनो मुण्डनं चामावस्यायामाचरेद्यथा।
तथा नैव प्रकुर्यात्तु वीरस्य मुण्डनं प्रिये॥

तन्त्र-ग्रन्थोंमे चार प्रकारके अवधूतोंकी चर्चा है—ब्रह्मावधूत, शैवावधूत, भक्तावधूत और हंसावधूत। हंसावधूतोंमे जो पूर्ण होते हैं वे परमहंस और जो अपूर्ण होते हैं वे परिव्राजक कहलाते है (प्राणतोषिणी) परन्तु कबीरदासने न तो इतने तरहके अवधूतोंकी कहीं कोई चर्चा ही की है और न ऊपर निर्वाण-तन्त्रके बताये हुए अवधूतसे उनके अवधूतकी कोई समता ही दिखाई है। 'हंसा' की बात कबीरदास कहते जरूर है पर वे हंस और अवधूतको शायद ही कही एक समझते हों। वे बराबर हंस या पक्षी शुद्ध और मुक्त जीवात्माको ही कहते हैं। परवर्ती साम्प्रदायिक टीकाकारोने कबीरदासके 'हंसो'का धर्मदास आदि शिष्य अर्थ किया है और किसी किसी टीकाकारने इस शब्दका 'साधु' या 'सिद्ध' अर्थ भी किया है पर ऐसे स्थलोंपर उनका तात्पर्य ज्ञानमार्गी कुटीचर-बहूदक-हंस-परमहंस इन भेदोंसे है, तान्त्रिक या शैव 'हंसावधूत' से नही। कबीरदासने पंचमकारसेवी अवधूतकी कोई चर्चा नही की।

पंच मकारमें मदिरा भी है। इस मदिरा-सेवनका उल्लेख कबीरमें मिलता जरूर है[1] पर उसका कारण और है जो आगे चलकर स्पष्ट हो जायगा। रक्त-चन्दन और अस्थिमालाधारी अवधूतको तो कबीरदास जानते ही नही। वस्तुतः शाक्त या तान्त्रिक अवधूतकी चर्चा कबीरको अभिप्रेत नहीं थी। शाक्तों या 'साकत' लोगोंके सम्बन्धमे कबीरदासने कभी सम्मान नही प्रकट किया।[2]

असंस्कृत केशजालं मुक्तालम्बि कचोच्चयम्।
अस्थिमाला विभूषा वा रुद्राक्षानपि धारयेत्॥

दिगम्बरो वा वीरेन्द्रश्चाथवा कौपिनी भवेत्।
रक्तचन्दनसिक्ताङ्गः कुर्याद् भस्माङ्गभूषणम्॥

१ अवधू, मेरा मन मतिवारा।
उनमनि चढ़्या मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड़ करि ज्ञान ध्यान करि महुवा भव भाटी करि भारा।
सुषमनि नारी सहजि समानी पीवै पीवनहारा॥ —क० ग्र०, पद ७२

२ साकत मरै सन्त-जन जीवै, भरि भरि राम-रसायन पीवै।—क० ग्र०, पद ४२
तथा—बैस्नोंकी छतरी भली, न साकतका बड़गाव।
और—साकत ब्राह्मण मति मिलै, बैस्नौ मिलै चण्डाल। इत्यादि।

वस्तुत ऊपर जिस 'जगतैं न्यारे' अवधूतकी चर्चा है वह गोरखपन्थी सिद्धयोगी है। कई जगह तो कबीरने स्पष्ट ही गोरखनाथको अवधू कहा है[1]। ऊपर जिस विलक्षण योगेश्वर अवधूतकी चर्चा की गई है उसके लक्षण गोरखपन्थी कनफटे योगियोंके विषयमें ही पूरे उतरते हैं। यही लोग कानमें छिद्र करके वह कुण्डल धारण करते हैं जिसे मुद्रा या 'दर्शन' कहते हैं, यही दो-तीन अंगुलकी काली सींगकी छोटी-सी सीटी गलेमें धारण करते हैं जिसे 'नाद' (शृंगीनाद) कहते हैं, और जो सेली नामक काले ऊनी धागोंसे गुथा होता है। इनके हाथमें नारियलका एक खप्पर होता है। ये लोग गेरुआ वस्त्र और जटा धारण करते हैं, शरीरपर भभूत और ललाटपर त्रिपुण्ड धारण करते हैं, इन्हीं योगियोंको लक्ष्य करके कबीरदासने जो कुछ कहा है उसका भाव यह है कि असली योगी वह नहीं है जो इन बाह्य वेषोंको धारण करता है, असली तो वह है जो इन बाह्य वेषोंकी कोई परवा नहीं करता, जो मनहीमें मुद्रा और खप्पर धारण करता है, मनहीमें आसन लगाता है, मनहीमें सींगी बजाता है, जो भीतरसे योग रससे परिपक्व हो गया है[2]।

गोरखनाथके मतमें योगीके चिह्न मुद्रा, नाद, विभूति और आदेश बताये गये हैं। मुद्राका बड़ा माहात्म्य है। सिद्धसिद्धान्तपद्धतिमें कहा गया है कि 'मुद्' धातु मोदार्थक और 'रा' धातु दानार्थक है। ये दोनों जीवात्मा और परमात्माके वाचक हैं। इन दोनोंकी एकता [illegible] करनेवाली यह मुद्रा है जिसके दर्शनसे देवगण प्रसन्न होते हैं और असुरगण भाग जाते हैं। यह साक्षात् कल्याण-दायिनी है। इस मुद्राको कान फाड़कर पहनाया जाता है। इसीलिये इस पवित्र मुद्राके कारण क्षुरिका या छुरी भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इसीलिये क्षुरिकाकी महिमा वर्णनके लिये क्षुरिकोपनिषद् रचित हुई है और उस उपनिषद्में बताया

---

१ रामगुन बेल्ड़ी रे अवधू गोरखनाथी योगी।

—क० ग्रं०, पद १६३

२ सो जोगी जाके मनमें मुद्रा। राति दिवस ना करइ निद्रा॥
मनमें आसण मनमें रहणा। मनका जप तप मनसूं कहणा॥
मनमें खपरा मनमैं सींगी। अनहद बेन बजावै रंगी॥
पंचपरजारि भसमकरि भूका। कहै कबीर सो लहसै लंका॥

क० ग्रं०, पद २०६

गया है कि एक बार क्षुरिकाके स्पर्शसे मनुष्य योगी हो जाता और जन्म मरणके बंधनसे मुक्त हो जाता है[1]। नादको ही अनाहद या शृंगी नामसे कहा गया है। आदेश आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा (?) इन तीनोंकी राभूति या मिलनेको कहते हैं[2]। इस प्रकार योगियोंके सभी चिह्न असलमें आध्यात्मिक वृत्तियोंके प्रतीक मात्र हैं। परन्तु अवधूतके लिए यह सब नियम अवश्य पालनीय नहीं हैं। वह कहीं भोगी होकर, कहीं त्यागी होकर, कहीं नग्न रहकर, कहीं पिशाच-सा बना हुआ, कहीं राजा होकर, कहीं आचारपरायण बन कर, सर्वमय होता हुआ भी सर्वविवर्जित होकर रह सकता है[3]। इसी भावको बतानेके लिए भर्तृहरिने कहा है कि इस अवधूत मुनिकी बाह्य क्रियाये प्रशमित हो गई हैं। वह न दुःखको दुःख समझता है न सुखको सुख। वह कहीं भूमिपर सो सकता है कहीं पलगपर, कहीं कन्था धारण कर लेता है कहीं दिव्य वसन, कहीं शाकाहारपर ही दिन गुजार देता है और कहीं मधुर भोजन पाने पर उसे भी पा लेता है[4]। किन्तु कबीरदास इस प्रकार योगमें भोगको पसन्द नहीं करते। न तो वे बाहरी भेष-भावको पसन्द करते हैं और न सर्वमय होकर सर्वविवर्जित बने रहनेके आचारको। योगी तो वह है जो न भीख माँगे, न भूखा सोये, न झोली-पत्र और बटुआ रखे, न अनहद नादके बजानेसे विरत हो, पाँच जनेकी जमात (गृहस्थी) का पालन भी करे और ससारसे मुक्ति पानेकी

---

१ गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पृ० ९

२ वही पृ० ९

३ क्वचिद्योगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्न पिशाचवत्।
क्वचिद्राजा क्वचाचारी सोऽवधूतो विधीयते॥
—गो० सि० स०, पृ० १०

४ क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयन
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च मात्याम्बरधर।
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च दिव्योदनरुचि
मुनेः शातारम्भो, गणयति न दुःख न च सुखम्।
—वैराग्यशतक

साधना भी जाने। जो ऐसा नहीं वह अवधूत योगी कबीरका आदर्श नहीं हो सकता[1]।

यद्यपि इन योगियोंके सम्प्रदायके सिद्धोंको ही कबीरदास अवधूत कहते हैं तथापि वे साधारण योगी और अवधूतके फर्कको बराबर याद रखते हैं। साधारण योगीके प्रति उनके मनमें वैसा आदरका भाव नहीं है जैसा अवधूतके बारेमें है। कभी कभी उन्होंने स्पष्ट भाषामें योगीको और अवधूतको भिन्न रूपमें याद किया है। (तुलना कीजिये —क० ग्र०, परिशिष्ट, पद १२६, पृ० २०१)।

इस प्रकार कबीरदासका अवधूत नाथपन्थी सिद्ध योगी है।

— ० —

१ बाबा जोगी एक अकेला, जाके तीर्थ व्रत न मेला।
झोली पत्र विभूति न बटवा, अनहद बेन बजावै।
मांगि न खाइ न भूखा सोवै, घर-अंगना फिरि आवै॥
पांच जनोंकी जमाति चलावै, तास गुरू मैं चेला।
कहै कबीर उनि देस सिधाये, बहुरि न इहि जग मेला॥

—क० ग्र०, पद २०७

करते हैं वह ब्रह्मा भी नहीं है,

३—नाथपंथियोंके सिद्धान्त और

जल-वायु-अग्नि-आकाश भी
भी नहीं, विधि और
स्वरूप है¹। वह
भी अजन है,

(१)

अब देखना चाहिये कि इस नाथपन्थी अवधूतका मत क्या था अ।पूजा भी,
दासपर उसका कुछ प्रभाव पड़ा था या नहीं। रजन

गोरखनाथके योगमार्गमें गुरुकी बड़ी महिमा गाई गई है। गुरु ही समस्त श्रेयोंका मूल है और एकमात्र अवधूत ही गुरुपदका अधिकारी हो सकता है। वह अवधूत जिसके वाक्य-वाक्यमें वेद निवास करते हैं, पदपदमें तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टिमें कैवल्य या मोक्ष विराजमान होता है, जिसके एक हाथमें त्याग है और दूसरे हाथमें भोग और फिर भी जो त्याग और भोग दोनोंमें अलिप्त है।[1] और जैसा कि सूतसंहितामें कहा गया है, वह वर्णाश्रमसे परे है और समस्त गुरुओंका साक्षात् गुरु है, न उससे कोई बड़ा है और न बराबर।[2] इस प्रकारके पक्षपातविनिर्मुक्त योगीश्वरको ही 'नाथ-पद' की प्राप्ति होती है।

'पक्षपातरहित होने' से मतलब ब्राह्मणत्व आदि आश्रमाभिमानसे रहित होनेसे है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि मैंने गुण कर्मविभागसे वर्णोंकी सृष्टि की है। इसपरसे गोरखपन्थी लोगोंका कहना है कि सभी वर्ण गुण मूलक हुए और गुणमूलक अभिमानके रहते हुए ब्रह्म-प्राप्ति असम्भव है। आश्रमोंको भी ये लोग गुणमूलक ही मानते हैं इसीलिये आश्रमाभिमानको भी मुक्तिमें बाधक मानते हैं। इस प्रकार गुणमय वर्ण और गुणमय आश्रमका अभिमान रखनेवालेको गुरु

---

१ वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे पदे।
दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्य सोऽवधूत श्रियेऽस्तु न ॥
एकहस्ते धृतस्त्यागो योगश्चैककरे स्वयम्।
अलिप्तस्त्यागयोगाभ्या सोऽवधूत श्रियेऽस्तु न ॥
—गो० सि० स० पृ० १

२ अतिवर्णाश्रमी साक्षात् गुरूणा गुरुरुच्यते।
न तत्समोऽधिको वास्मिन् लोकेऽस्त्येव न सशय ।
—अष्ट०, पृ० ४५९

साधना भी जाने। जो ऐसा – साथ गुरु शिष्यसम्बन्ध उसी प्रकार निष्फल है जिस हो सकता[१]। पुत्र-प्राप्तिकी आशा। (गो० सि० सं० पृ० २–३)

यद्यपि इन योगियोंका परम पुरुषार्थ मुक्ति ही है पर यह द्वैत और अद्वैतके द्वंद्वसे वे साधारण योगी-भूत गीतामें कहा गया है कि कुछ लोग अद्वैतको चाहते हैं, कुछ प्रति उनके , पर इन दोनोंसे परे,—द्वैताद्वैत-विलक्षण तत्त्वको कोई नहीं जानता। वही उत्तम-तत्त्व कहलाता है। यदि सर्वगत देव स्थिर पूर्ण और निरन्तर है तो तब यह द्वैताद्वैत-विकल्पना महामोह नहीं है[१]? कबीरदासने कुछ इसी भावसे मिलता जुलता पद कहा है[२]। प्रसिद्ध है कि एक बार काशीके पण्डितोंमें द्वैत और अद्वैत तत्त्वका शास्त्रार्थ बहुत दिनोंतक चलता रहा। जब किसी शिष्यने कबीर साहबका मत पूछा तो उन्होंने जवाबमें शिष्यसे ही कई प्रश्न किये। शिष्यने जो कुछ उत्तर दिया उसका सार मर्म यह था कि विवदमान पण्डितोंमें इस विषयमें कोई मतभेद नहीं है कि भगवान् रूप, रस, गंध व स्पर्शसे परे हैं, गुणों और क्रियाओंके अतीत हैं, वाक्य और मनके अगोचर हैं। कबीरदासने हँसकर जवाब दिया कि भला उन लड़नेवाले पण्डितोंसे पूछो कि भगवान् रूपसे निकल गया, रससे अतीत हो गया, गुणोंके ऊपर उठ गया, क्रियाओंकी पहुँचके बाहर हो रहा वह अन्तमें आकर संख्यामें अटक जायगा? जो सबसे परे है वह क्या संख्याके परे नहीं हो सकता? यह कबीरका द्वैताद्वैत-विलक्षण रामतत्त्ववाद है। नाथपन्थी लोग जोर देकर इस द्वैताद्वैतविलक्षण रामतत्त्ववादका समर्थन करते हैं। इस विषयमें कबीरदासका उनसे सीधा सम्बन्ध है। जिस स्वर्ग-ज्योति

---

१ अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्॥
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥

गो० सि० सं० पृ० ११ में उद्धृत

२ गोरख राम एकौ नहिं उहवाँ ना वहँ वेद विचारा।
हरिहर ब्रह्मा ना सिव सक्ती ना वहँ तिरथ-अचारा।
माय बाप गुरु जाके नाहीं सो धौं दूजा कि अकेला।
कहहिं कबीर जो अबकी बूझे सोइ गुरू हम चेला॥

बीजक, शब्द ४३

सच्चिदानन्द मूर्तिकी उपासना ये योगीश्वर लोग करते हैं वह ब्रह्मा भी नहीं है, विष्णु भी नहीं है, इन्द्र भी नहीं है, और पृथ्वी जल-वायु-अग्नि-आकाश भी नहीं है। वह वेद और यज्ञ भी नहीं, सूर्य और चन्द्र भी नहीं, विधि और कल्प भी नहीं,—वह इन सबसे विलक्षण स्वयजोति सत्यरूप है[1]। वह कबीरदासके रामकी भाँति ही सबसे न्यारा निरजन है। ब्रह्मा भी अजन है, विष्णु भी अजन है, शिव भी, गोपी भी, पुराण भी, विद्या भी, पूजा भी, देवता भी, दान भी वेश भी, पुण्य भी, तप भी, तीर्थ भी। एकमात्र निरजन राम है जो सबसे बिलक्षण है, सबसे अतीत। कबीरदासके मतसे 'नाथ' वह है जो समस्त त्रिभुवनका एकमात्र यती,—परब्रह्म है[3]। यह कथन सिद्ध जलंधरके वाक्यमे कहे हुए उस वचनसे मिलता है जिसमें 'नाथ' की द्वैताद्वैत विलक्षण, समस्त यतियोंमें श्रेष्ठ, शंकरस्वरूप कहकर स्तुति की गई है[4]।

---

१ न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो,
नैवाग्निर्नापि वायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव काल ।
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो दिशो नैव काल ।
स्वज्योति सत्यमेक जयति तव पद सच्चिदानन्दमूर्ते ॥—सिद्धसिद्धान्तपद्धति

२ राम निरजन न्यारा रे, अजन सकल पसारा रे ।
अजन उतपति ओ ओंकार, अजन माड्या सब विस्तार ।
अजन ब्रह्मा सकर-इद्र, अजन गोपीसंगि गोविद ॥
अजन वाणी अजन बेद, अजन कीया नाना,भेद ।
अजन विद्या पाठ पुराण, अजन फोकट कथहिं गियान ॥
अजन पाती अजन देव, अजनकी करै अजन सेव ।
अजन नाचै अजन गावै, अजन भेष अनत दिखावै ॥
अजन कहाँ कहाँ लग केता, दान पुनि-तप तीरथ जेता ।
कहै कबीर कोई विरला जागै । अजन छांडि निरजन लागै ॥—क० ग्र०, पद ३३६

३ सिध सोई जो साधै इती । नाथ सोई जो त्रिभुवन जती ।—क० ग्र०, पद ३२७

४ वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरह भानुतेजस्कर वा,
सत्कर्तृव्यापक त्वा पवनगतिकर व्योमवन्निभर वा ।
मुद्रानादत्रिशूलैर्विमलरुचिधर खर्पर भस्ममिश्र,
द्वैत वाऽद्वैतरूप द्वयुत उत पर योगिन शकर वा ॥

यह मत वेदान्तियों, साख्यों, मीमांसकों, बौद्धों और जैनोंके मतसे अपना वैशिष्ट्य प्रतिपादित करता है। ये लोग श्रुतिको साधिका नहीं मानते। (गो० सि० स० पृ० २२-२८, ७५-७६) इनके मतसे वेद दो प्रकारके हैं, स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल वेद यज्ञ-यागका विधान करते हैं, योगियोंको इससे कोई वास्ता नहीं। (पृ० २६) उनका मतलब समस्त वेदोंके मूलभूत ओंकार मात्रसे है। क्योंकि ओंकार ही वेदका सार है। कबीर पंथमें भी स्थूल और सूक्ष्म वेदकी कल्पना की गई है जिसकी चर्चा आगे की जायगी। 'ज्ञानचोंतीसा' के आदिम कबीरदासने मानों इसी मतका समर्थन करते हुए कहा है कि जो ओंकार या प्रणवको जानता है वह उस पराशक्तिको जानता है जो लिखकर मिटा सकती है। अर्थात् जो सब कुछ करनेमें समर्थ है। और इसके बाद ही शायद ओंकारपर बहुत अधिक जोर देनेवाले इन योगियोंको लक्ष्य करके कहा है कि ओंकारकी बात तो सभी किया करते हैं पर इसे समझ सकनेवाले विरले ही हैं[1]।

गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रहमें पुस्तकी विद्याकी बड़ी खिल्ली उड़ाई है। इसमें कवैशय गीताकी एक कहानी उद्धृत की गई है। दुर्वासा मुनि सब शास्त्र पढ़कर महादेवकी सभामें गये। वहाँपर उनके अध्यात्मज्ञानके अभावको देखकर नारदने उन्हें 'भारवाही गर्दभ' कहा। अमर्षी दुर्वासाने सारी पुस्तकें समुद्रम फेंक दी और शिवसे अध्यात्म-विद्याकी भिक्षा माँगी। कबीरदासने भी पोथी पढ़-पढ़कर मरने-वाले और फिर भी रामको न जान सकनेवाले ज्ञान-गर्दभोंकी कुछ ऐसी ही खिल्ली उड़ाई है[2]। कबीरदासका स्वर बिल्कुल इन योगियोंसे मिलता-जुलता है। योगियोंके पूर्ववर्ती सहजयानी साधकोंमें भी यह बात पाई जाती है और और भी टटोल

१ वो ॐकार आदि जो जानै। लिखिके मेटै ताहि सो मानै।
वो ॐकार कहै सब कोई। जिन्हि यह लखा सो बिरले होई॥

—ज्ञानचोंतीसा १-२

२ तू राम न जपहि अभागी।
वेद पुरान पढ़त अस पाँडे खरचंदन जैसे भारा।
राम-नाम-तत्त समझत नाहीं अति पड़े मुखि छारा॥
नारद कहै, व्यास यों भाखै सुखदेव पूछौ जाई।

—क० ग्र०, पद ३९

जाय तो यह परम्परा बहुत पुरानी प्रतीत होगी। जो लोग कबीरदासकी इस प्रकारकी उक्तियोंको विदेशी साधकोंसे प्रभावित बताते हैं वे न जाने क्या सोचते रहते हैं। कबीरने जब कहा था कि पोथी पढ पढकर सारा संसार मर गया मगर पंडित कोई नहीं हुआ, केवल प्रियतमको मिलानेवाला एक ही अक्षर पढनेवाला पंडित हो जाता है[1], तो वे गोरखपंथी योगमार्गियोंके ही स्वरमें बोल रहे थे,—घर घरमें पुस्तकके बोझ ढोनेवाले विद्यमान हैं, नगर-नगरमें पंडितोंकी मंडली मौजूद है, वन-वनमें तपस्वियोंके झुण्ड वर्तमान हैं किन्तु परब्रह्मको जाननेवाला और उसे पानेका उद्योग करनेवाला कोई नहीं[2]। इस प्रसगमें कबीरदासने जो नारदादि मुनियोंका हवाला दिया है वह क्या कवेषय गीताकी उस कहानीके ही आधारपर? (तुल०, क० ग्र०, पद ३९)

"सभी सम्प्रदाय कहते हैं कि ग्रंथ हजारोंकी संख्यामें हैं। मैं कहता हूँ कि यदि मेरी बात मानो तो सभीको कुएँमें फेंक दो। भला जो लोग आधुनिक समयमें स्वयं मुक्त नहीं हो सके, वे दूसरेको मुक्तिका उपदेश दे सकते हैं, यह कैसे मान लिया जाय? जो व्यक्ति लोगोंको अचरजमें डाल देनेके लिये, या अभिमानवश या जीविकाके लिये, या व्यसनके लिये, या अन्य किसी अभिलषित वस्तुकी प्राप्तिके लिये ग्रन्थ लिखा करता है वह धर्मार्थी पुरुषोंके आगे कैसे शोभनीय हो सकता है?" (गो० सि० स० पृ०, ७७) इसीलिये योग-बीजमें कहा है कि "सैकड़ों तर्क-व्याकरणादि ग्रन्थोंसे वृद्ध होकर ये ज्ञानमूढ लोग शास्त्रोंके जालमें बुरी तरह फँस गये हैं। जिस अनिर्वाच्य पदको देवता भी नहीं बता सकते उसे ये शास्त्र क्या बतायेंगे?" और कबीरदासने मानों इसीपर

---

[1] पोथी पढि पढि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आखर पीवका, पढै सु पंडित होइ॥—क० ग्र० १-९४, पृ० ३०

[2] गृहे गृहे पुस्तकभारभारा पुरे पुरे पंडितयूथयूथ।
वने वने तापसवृन्दवृन्दा न ब्रह्मवेत्ता, न च कर्मकर्ता॥
अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभिः।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः॥
अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यते सुरैरपि।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रे प्रकाश्यते॥
—गो० सि० स० (पृ० १०) में उद्धृत

मुहर लगाते हुए कहा है कि हे भगवान्, तुम जैसे हो वैसा तुम्हें कोई नहीं जानता। लोग दूसरा ही कहते रहते हैं। चारो वेदके चार मतोंमें सारा संसार भूला पड़ा है और इस प्रकार श्रुति और स्मृति इन दोनोंके विश्वाससे जकड़ा हुआ संसार आशा-पाशमें व्यर्थ ही उलझा हुआ है। जब ब्रह्मादि देवता और सनकादि भक्त भी इस जालमें उलझे हुए हैं तो मुझ बेचारेकी क्या हस्ती है[1]।

अद्वैत मतसे नाथ मतका उत्कर्ष दिखानेके लिए एक कहानी कही गई है। शंकराचार्य अपने चार शिष्योंसहित नदी-तीरपर बैठे थे। वहाँ कापालिक रूपमें भैरवने कहा कि आप तो सन्यासी हैं, आप मित्र और शत्रुको समान-दृष्टिसे देखनेवाले हैं, सो कृपया मुझे अपना सिर काट लेने दीजिये ताकि मैं उससे भैरवकी पूजा कर सकूँ। शंकराचार्य जरा सोचमें पड़ गये। यदि दे देते हैं तो पराजय होती है, यदि नहीं देते हैं तो शत्रु-मित्रमें तुल्यदृष्टिता सिद्ध नहीं होती। शंकरको इस प्रकार शिथिल देखकर उनके एक शिष्य पद्माचार्यने नृसिंहदेवका स्मरण किया और नृसिंहदेवने भी तत्काल उग्र भैरवपर आक्रमण किया। तब उग्र भैरवने कापालिक वेश परित्याग कर अपना असली स्वरूप प्रकट किया और प्रसन्न होकर मेघ-गम्भीर ध्वनिमें कहा कि, 'अहो अद्वैतवाद आज पराजित हुआ! मैंने चालाक मल्लकी भाँति अपने शरीरकी हानि करके भी प्रतिद्वन्द्वीको चित कर दिया। तुम्हारा सिद्धान्त पराजित हुआ। आओ, युद्ध करो।' शंकराचार्य इस ललकारका मुकाबला नहीं कर सके, क्योंकि सन्यासी लोग प्रारब्ध कर्मोंमें विश्वास करते हैं, अर्थात् वे मानते हैं कि ज्ञानप्राप्ति हो जानेपर संचित और क्रियमाण कर्म तो जले हुए बीजकी तरह बेकार हो जाते हैं, पर जिस कर्मका फल मनुष्य भोग रहा है वह प्रारब्ध कर्म तब भी बना रहता है। परन्तु अवधूत लोग सभी कर्मोंको योग-बलसे भस्म कर देते हैं, चाहे वह प्रारब्ध हो या संचित हो या क्रियमाण हो।

---

१ जस तू तस तोहि कोई न जान, लोग कहै सब आनहि आन।
चारि वेद चहुँ मतका विचार, इहि भ्रमि भूलि परयो संसार।
सुरति सुमृति दुइको विसवास, बाझि परे सब आसा पास।
ब्रह्मादिक सनकादिक सुरनर, मैं बपुरो धूँ कामें का कर।
जिसि तुम्ह तारौ सोइपै तिरइ। कहै कबीर नातर बाँधे मरइ॥

—क० ग्रं० पद ४७

सो, प्रारब्ध कर्मोंने शकराचार्यको जड़ बना दिया। फिर कापालिकने योग मायाका आवाहन किया और उसने आकर शकरके चारों शिष्योंके सिर उतार लिये और उन्हें जलाकर भस्म कर दिया। अब जाकर आचार्य शंकरको ज्ञान हुआ कि वास्तविक शक्ति उनके अद्वैत ज्ञानमें नहीं बल्कि कापालिकोंके योग-मार्गमें है। इसके पूर्व शंकराचार्यने दक्षिण दिशामें विष्णु-सेवन और कर्मोपासनाका अनुष्ठान किया था, पूर्वमें जाकर वैद्यनाथधाममें शिवभक्तिकी साधना की थी और फिर भी पश्चिममें जब शक्तिरहित हो गये थे तो भयसे व्याकुल होकर 'सौन्दर्यलहरी' आदि शक्ति-स्तोत्र लिखे थे। आखिरकार जब वे उत्तरमें आये तो आश्चर्यके साथ देखा कि सारी उत्तर दिशा महासिद्धोंसे भरी है। यहाँ आचार्यकी मुलाकात तारानाथसे हुई। उन्होंने पूछा कि 'क्यों जी, तुम्हें तीर्थाटन ही करना है या कुछ अध्यात्म-साधना भी?' शकर कुछ मतलब नहीं समझ सके। उनकी जिज्ञासा देखकर सिद्ध तारानाथने नाथ पंथके अनुसार योगका उपदेश दिया। अब शकराचार्यको वास्तविक ज्ञान हुआ और उन्होंने वज्रसूचिकोपनिषद्[१] लिखी और सिद्धान्तबिन्दु नामक योगियोंका एक ग्रथ भी लिखा। यहाँ यह भूल नहीं जाना चाहिये कि कापालिक वस्तुत नाथपंथी हैं। क्योंकि शाबरतन्त्रमें जिन १२ आचार्योंको और उनके १२ शिष्योंको कापालिक कहा गया है वे वस्तुत नाथपन्थी ही हैं।[२]

बारह आचार्य और बारह शिष्योंके इन नामोंमेंसे कुछकी ऐतिहासिकता

---

१ वज्रसूची या वज्रसूचिकोपनिषद्का कर्ता कौन है, यह विवादास्पद प्रश्न है। १९२१ ई० में हडसनने इसे नेपालमें पाया था। वहाँ इस ग्रन्थके रचयिता अश्वघोष बताये गये, बादमें इसकी एक प्रति नासिकमें पाई गई जो शकराचार्यकी लिखी बताई गई। यह उपनिषदोंमें गिनी जाती है और निर्णयसागर प्रेसने १०८ उपनिषदोंका जो सग्रह छापा है उसमें छपी है। इस पुस्तकमें जातिभेदपर तीव्र आक्रमण किया गया है। इसके हिंदी अनुवादके लिये 'भारतवर्षमें जातिभेद' पृ० ४८–५० देखिये।

२ बारह आचार्य ये हैं आदिनाथ, अनादिनाथ, काल, अतिकाल, कराल, विकराल, महाकाल, कालभैरव, बटुक, भूतनाथ, वीरनाथ और श्रीकंठ। बारह शिष्य ये हैं नागार्जुन, जडभरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, मीननाथ, गोरक्षनाथ, चर्पट, अवद्य, वैराग्य, कंथाधारी, जालंदर और मलयार्जुन (गो० सि० स० पृ० १३–१९)।

सदिग्ध होनेपर भी नागार्जुन, मीननाथ, गोरक्ष और चर्पट आदि सचमुच ऐतिहासिक हैं। म० म० हरप्रसाद शास्त्रीने जब बौद्ध सहजयानके सिद्धाचार्योंके प्रति विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया तो जाना गया कि बहुतसे सिद्धगण और नाथपन्थके आचार्य एक ही हैं। आगे चलकर जब इस विषयकी ओर भी चर्चा हुई तो जाना गया कि ये नाम सिर्फ सिद्धों और नाथपंथियोंमें ही समान नहीं हैं, बल्कि, निरंजन-पंथियों, तान्त्रिकों और कापालिकोंमें भी समानरूपसे प्रचलित हैं। इस सूचीमें निर्गुण मतके सतोंका नाम भी जोड़ दिया जा सकता है। इस प्रकार इस विषयका अध्ययन केवल महत्त्वपूर्ण ही नहीं, काफी मनोरंजक भी सिद्ध हुआ है। दुर्भाग्यवश इस तरफ पंडितोंको जितना ध्यान देना चाहिये उतना अभीतक नहीं दिया गया है। सुप्रसिद्ध विद्वान् म० म० पं० गोपीनाथ कविराजका कहना है कि हठयोगियों अर्थात मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि नाथपंथियों, वज्रयानी और सहजयानी बौद्धों, त्रिपुरा सम्प्रदायके तान्त्रिकों, नववैष्णवोंका नियमित और वैज्ञानिक अध्ययन ऐसी बहुत-सी बातोंका रहस्योद्घाटन करेगा जो इन सबमें समान रूपसे विद्यमान हैं। महायान बौद्धधर्म और तन्त्रमतका संबंध बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इस संबंधमें सावधानता-पूर्ण और गम्भीर अध्ययनकी जरूरत है।

नाथपंथके आदि प्रवर्तक आदिनाथ अर्थात् स्वयं शिव माने जाते हैं। मत्स्येन्द्र इन्हींके शिष्य बताये जाते हैं। इन्हीं मत्स्येन्द्रनाथके कई शिष्य बड़े पंडित और सिद्ध हुए, जिनके प्रभावसे यह मत सारे भारतवर्षमें प्रतिष्ठित हो गया। इन शिष्योंमें सबसे प्रधान गोरखनाथ या गोरक्षक थे। सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ (=सिद्ध तारानाथ, जिनके शंकराचार्यके साक्षात्कारकी किंवदन्तीका ऊपर उल्लेख हो चुका है) का कथन है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बादमें शैव हो गये थे। इसीलिए तिब्बतके लामा लोग गोरखनाथको बड़ी घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। गोरखनाथने ही योग-मार्गके अभिनव रूप हठयोगको प्रतिष्ठित कराया। प्रसिद्ध महाराष्ट्र भक्त ज्ञाननाथने अपनेको गोरखनाथकी शिष्य-परम्परामें माना है। उनके कथनानुसार यह परम्परा इस प्रकार है: आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गाहिनी (गैनी) नाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञाननाथ। ज्ञाननाथ तेरहवीं शताब्दीमें वर्तमान थे। इसलिये गोरखनाथ ११ वीं १२ वीं शताब्दीमें हुए होंगे। इस प्रसंगमें गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह (पृ० ४०) में बताई

हुई गुरु-परम्पराका भी स्मरण कर लिया जा सकता है। एव श्रीगुरु आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ,—सत्पुत्र उदयनाथ-दण्डनाथ-सत्यनाथ सन्तोषनाथ कूर्मनाथ भवनाथ। उनके गोरक्षनाथ ईश्वरसन्तान थे। शायद मत्स्येन्द्रनाथके पुत्र-क्रमसे उदयनाथादि उत्तराधिकारी थे और शिष्य थे गोरखनाथ। इनके कई शिष्य बताये जाते हैं जिनमें बलनाथ, हालीकपाव, सलीपाव आदि मुख्य थे। बंगालके राजा गोपीचंदकी माता मयनामती भी इन्हींकी शिष्या थी। हालीकपाव या हाड़िफा हाड़ी नामक अन्त्यज जातिमें उत्पन्न हुए थे। ये पहले बौद्ध थे, बादमें नाथमार्गी हो गये थे। इन्हींका एक और नाम जालंधरनाथ बताया जाता है। गोपीचंद जालधरनाथके ही शिष्य थे। राजा भरतरी या भर्तृहरि भी इन्हीके शिष्य थे। (तु०—क० ग्र०, पद २९९, पृ० १८९)

इन योगियोंकी अद्भुत और आश्चर्यजनक करामातोकी सैकडो कहानियाँ सारे देशमें फैली हुई हैं। जान पड़ता है कि आगे चलकर इन योगियों और निर्गुण मतवादी सन्तोंमें लोकपर प्रभुत्व प्राप्त करनेकी होड़-सी मची हुई थी। कबीरदास और गोरखनाथके करामाती दॉव-पेंचोंकी कहानियॉ काफी प्रसिद्ध हैं। बंगालके दिनाजपुर आदि जिलोंमें गोरक्षमतके अनुवर्ती कहे जानेवाले योगियोंके 'धमाली' नामसे प्रचलित बहुतेरे अत्यन्त अश्लील गानोंका पता लगा है। योगियोंके साथ इन अश्लील गानोंका सबध कैसे हुआ, यह अनुसधान करने-योग्य प्रश्न है। अपनी 'हिंदी साहित्यकी भूमिका' में मैंने इस प्रसगमें एक बातकी ओर सुधीवृदका ध्यान आकृष्ट करना चाहा था। पूर्वी युक्तप्रान्त और बिहारमें होलीके अवसरपर जो अश्लील और अश्राव्य गान गाये जाते हैं उन्हें 'जोगीड़ा' कहते हैं। साधारणत इस गानके गानेवाले किसी लड़केको स्त्री रूपमें सजाकर नाच भी कराते हैं और बीच बीचमें 'जोगीजी धीरे धीरे' की आवाज देते रहते हैं। 'जोगीड़ा' गा लेनेके बाद 'कबीर' गाते हैं जो अश्लीलतामें जोगीड़ोंके भी कान काटनेवाले होते हैं। क्या इन 'जोगीड़ों' और 'कबीर' के साथ योगियों और कबीरपंथियोंकी प्रति-द्वंद्विताकी कोई पुरानी स्मृति जड़ी हुई है या ये अश्लील गान भी किसी समय उलटबॉसियोंकी भॉति अप्रस्तुत अन्तर्निहित सत्यकी ओर इशारा करनेवाले माने जाते थे?

इस प्रसगमें मेरे मित्र श्री ललितकिशोरसिहजी 'नटवर' ने एक महत्त्वपूर्ण बातकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया है। 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' में (पृ०

३७ पर) मैंने गोरखपंथियोंके पदोंसे मिलते हुए दादूके पदोंका हवाला दिया था। 'नटवर' जीने बताया है कि ये पद बिहारमें 'जोगीड़ों' के रूपमें प्रचलित हैं। उन्होंने इन पदोंको पटनेमें गाये जाते सुना है। अनुसंधित्सु पाठकोंको इस दिशामें खोज करनी चाहिये।

२

नाथपंथमें स्मार्त आचारोंको कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। यह बात उसे स्मार्त हिंदू धर्मसे एकदम विरुद्ध खड़ा कर देती है।

"लोग आचार-आचार कहा करते हैं। भला यह आचार अत्याचार होकर कैसे निभता है? भोजनमें जो घी देते हो वह भी तो चर्म-पात्रसे ही आता है! चलते समय जो पैरमें जूता देते हो, वह भी तो चमड़ेका ही है। शयनमें जो स्त्री-संग होता है उसकी तो बात ही जाने दो। सूर्यादि ग्रहणके अवसरपर मिट्टीके बर्तन और जल आदिको अशुचि समझकर छोड़ देते हो किन्तु धान्य-घृतादिको क्यों नहीं फेंक देते? बात यह है कि जलाशयमें जल तो बहुत मिल जाता है और कुम्हारोंके घर मिट्टीके बर्तन भी थोड़े ही दाममें मिल जाते हैं, तो फिर क्यों न इनको अपवित्र मानकर आचारवान् बन लिया जाय! पर घी और धान्य वगैरा खरीदनेमें तो बहुत पैसे लगते हैं, फिर इन्हें कैसे अपवित्र मानते? कहाँ तक ऐसी बातें लिखी जायें! सही बात तो यह है कि आचार वस्तु ही कल्पित है। बुद्धिमान् लोग इसे बिल्कुल नहीं मानते। पर यह न समझना चाहिये कि हमारे मतमें आचार बिल्कुल ही नहीं है। है, मगर विचार-पूर्वक। और लोग जैसा आचार पालन करते हैं वैसा तो हम करते नहीं, पर जो कुछ करते हैं वह गौण मान कर। उसीको मुख्य मान कर नहीं।" (गो० सि० पृ० ६०–६१) क्या ये युक्तियाँ कबीरदासकी युक्तियोंकी भाँति ही चकनाचूर कर देनेवाली नहीं हैं? फिर बड़े नामी गरामी पंडित किस मुँहसे कहा करते हैं कि भारतवर्षमें कबीरदासके पहले ऐसी युक्तियाँ अपरिचित थीं और कबीरदासमें जो इस प्रकारकी युक्तियाँ मिलती हैं वे विदेशी प्रभावके कारण?

संक्षेपमें कहा जाय तो ये लोग आचारका खंडन करते हैं; द्वैतवाद, अद्वैतवाद और स्मार्त आदि मतोंमें दोष दिखाते हैं, गार्हस्थ्य-वर्जन और कर्मत्यागपर जोर देते हैं, शिव-शक्तिमें अभेद साबित करते हैं, रुद्रादि देवताओंमें भगवद्बुद्धि नहीं

रखते, पौराणिक कहानियोंकी खिल्ली उड़ाते हैं और यह मानते हैं कि शक्ति सृष्टि करती है, शिव पालन करते हैं, काल संहार करते हैं, और नाथ मुक्ति देते हैं। नाथ ही एक मात्र शुद्ध आत्मा हैं, बाकी सभी बद्ध जीव हैं,—शिव भी, विष्णु भी, ब्रह्मा भी (पृ० ७०)। न तो ये लोग द्वैतवादियोंके 'क्रिया-ब्रह्म' में विश्वास करते हैं और न अद्वैतवादियोंके 'निष्क्रिय ब्रह्म' में। द्वैतवादियोंके स्थान हैं कैलास और वैकुंठ आदि, अद्वैतवादियोंका माया शबल ब्रह्म स्थान है, योगियोंका निर्गुण स्थान है, परन्तु बन्धमुक्तिरहित परम-सिद्धान्तवादी अवधूत लोग निर्गुण और सगुणसे परे उभयातीत स्थानको ही मानते हैं। क्योंकि नाथ निर्गुण और सगुण दोनोंसे अतीत परात्पर हैं (पृ० ७१)। पाठक इस बातको स्मरण रखें। कबीरमतके विकासको समझनेमें यह बहुत आवश्यक होगी।

अद्वैतके भी ऊपर विराजमान निराकार साकारसे अतीत, परमशून्य, निरंजन-स्वरूप नाथसे शुरूमें निराकार ज्योतिनाथ हुए, उनसे साकारनाथ, उनकी इच्छासे सदाशिव भैरव, और उनसे शक्ति भैरवी उत्पन्न हुई। सदाशिव भैरवसे ही विष्णु उत्पन्न हुए, उनसे ब्रह्मा और उनसे यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। नाथसे दो प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न हुई। नादरूपा और बिन्दुरूपा। हम आगे नाद और बिन्दुका दार्शनिक अर्थ समझनेका प्रयत्न कर रहे हैं। वही वह सैद्धान्तिक अर्थ है। यहाँ एक बार व्यावहारिक अर्थ भी समझ लिया जाय। नादरूपा सृष्टि शिष्य-क्रमसे और बिन्दुरूपा पुत्र-पौत्रादिक्रमसे चलती है। नादसे नव नाथ हुए और बिन्दुसे सदाशिव-भैरव। शब्दसृष्टिमें पहले सूक्ष्म-रूपिणी सृष्टि उत्पन्न हुई फिर स्थूलरूपिणी। सूक्ष्मरूपिणी सृष्टि है प्रणव, महागायत्री, योगशास्त्र और स्थूल-रूपिणी है ब्रह्मगायत्री और वेदत्रयी। योगशास्त्रसे तंत्रशास्त्र हुआ और वेदसे स्मृत्यादि शास्त्र हुए (गो० सि० पृ० ७२)।

इसका मतलब यह हुआ कि इन योगियोंके मतसे योगशास्त्र और तंत्रशास्त्रका सीधा सम्बन्ध है। शारदातिलक नामक प्रसिद्ध तन्त्र ग्रन्थमें सृष्टि-तत्त्वको जिस प्रकार समझाया गया है वह काफी साफ और ऊपरके इस वक्तव्यको समझनेमें सहायक है। शारदातिलकमें सृष्टितत्त्वको समझाते समय कहा गया है कि शिवके दो रूप हैं . निर्गुण और सगुण। जब शिवका प्रकृतिसे योग होता है तो सगुण शिव आविर्भूत होते हैं। सगुण शिवसे शक्ति उत्पन्न होती है और शक्तिसे

नाद (पर) और उससे बिन्दु (पर) की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सगुण शिव,—शक्ति, परनाद,—परबिन्दु यह क्रम होता है। यहाँ तक नाद और बिन्दु अव्यक्त रहते हैं। यहीसे वे व्यक्त होकर प्रकट होते हैं। ऐसी अवस्थामें परबिन्दुसे तीन प्रकारकी अभिव्यक्ति होती है : अपर बिन्दु, बीज और अपर नाद। इन्हीं तीनोंसे यथाक्रम रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और फिर सृष्टिका पहिया अविश्रान्त घूमता है।

इसका ध्यान रखना चाहिये कि प्रकृति अर्थात् शक्ति यहाँ सांख्यवादियोंके समान जड नहीं है। सीधी भाषामें यों समझाया गया है कि निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्य है और सगुण शिव उपाधियुक्त। उपाधियुक्त चैतन्यसे उपाधियुक्त शक्ति उत्पन्न होती है। इन दोनोंके संयोगसे विश्वमें जो एक विक्षोभ होता है वही नाद है और उस विक्षोभका क्रियाशील होना ही बिन्दु है। इस नाद और बिन्दुसे सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त विशेषताहीन नाद और बिन्दुका ही ग्रहण होना चाहिये,—इसी बातको समझानेके लिए इन्हें परनाद और परबिन्दु कहा जाता है। कभी कभी लोग परम नाद और बिन्दु भी कह देते हैं। इन्हींसे अपर या विशेषतायुक्त नाद, बीज और बिन्दु उत्पन्न होते हैं जो क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रियाके प्रतीक हैं। अर्थात अपरनाद इच्छा है, बीज ज्ञान है और अपर बिन्दु क्रिया है। इन्हींसे क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और रुद्रकी उत्पत्ति होती है। यह जो (पर) बिन्दुसे (अपर) नाद और (अपर) बिन्दु उत्पन्न हुआ वही उस भुलभुलैयावाले प्रश्नके मूलमें है कि पहले नाद प्रकट हुआ कि बिन्दु। इस प्रकार तन्त्रका निर्गुण शिव कबीरपन्थके सत्यपुरुषके बराबर है, सगुण शिव निरंजन पुरुष है और शक्ति आद्याशक्ति है। नाद ही स्वयंवेद यानी कबीरदासकी वाणियोंके 'निर्मल वेद' के समान है और बिन्दु उसकी क्रिया। हम आगे चलकर कबीरदासके सृष्टितत्त्वको अच्छी तरह समझनेका अवसर पायेंगे। यहाँ योगियों और तान्त्रिकोंके नाद और बिन्दु, निर्गुण और सगुण, तथा शक्ति और शिवके रहस्यको हमें अच्छी तरह मनमें रख लेनेकी जरूरत है। आगे हम कबीरके सृष्टितत्त्वको इनकी सहायतासे

---

१ देखिये 'शारदातिलक' में ज्ञानेन्द्रलाल मजुमदारका Notes on the First Chapter (Introduction)

आसानीसे समझ सकेंगे। यहाँ इसलिए भी इनकी चर्चा कर रखी गई कि जब तक हम कबीरदासके सृष्टितत्त्वको समझनेका अवसर न पा सकें तबतक बीचमें अगर कदाचित् कबीरसाहब निम्नलिखित प्रश्न कर बैठें तो हमें सोचने—विचारने-की सामग्री मिली रहे :—

प्रथमे गगन कि पुहुमे प्रथमे
प्रथमे पवन कि पाँणी।
प्रथमे चन्द कि सूर प्रथमे प्रभु
प्रथमे कौन बिनाणी।
प्रथमे प्राण कि प्यंड प्रथमे प्रभु,
प्रथमे रकत कि रेतं।
प्रथमे पुरुष कि नारि प्रथमे प्रभु
प्रथमे बीज कि खेतं।
प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभु
प्रथमे पाप कि पुन्य।
कहे कबीर जहाँ बराहु निरंजन,
तहाँ कछु आहि कि सुन्यं।

— ० —

४—हठयोगकी साधना

नाथपन्थकी साधना-पद्धतिका नाम हठयोग है। कबीरदासको समझनेके लिये इस साधना-पद्धतिकी जानकारी होनी चाहिये। इनके सिद्धान्तानुसार महा-कुण्डलिनी नामक एक शक्ति है जो सम्पूर्ण सृष्टिमें परिव्याप्त है। व्यष्टि (व्यक्ति) में व्यक्त होने पर इसी शक्तिको कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी और प्राण-शक्तिको लेकर ही जीव मातृ-कुक्षिमें प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणतः तीन अवस्थामें रहते हैं: जाग्रत्, सुषुप्ति और स्वप्न। अर्थात् या तो वे जागते रहते हैं या सोते रहते हैं या सपना देखते होते हैं। इन तीनों ही अवस्थाओंमें कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट रहती है। इस समय इसके द्वारा शरीर धारणका कार्य होता है। इस कुण्डलिनीको ठीक ठीक समझनेके लिये शरीरकी बनावटकी कल्पना करनी चाहिये। पीठमें स्थित मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर पायु और उपस्थके मध्यभागमें लगता है वहाँ एक स्वयभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्रमें अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्रमें स्थित स्वयंभू लिंगको साढे तीन वलयों या वृत्तोंमें लपेटकर सर्पिणीकी भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके ऊपर चार दलोंका एक कमल है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं। फिर उसके ऊपर नाभिके पास स्वाधिष्ठान चक्र है जो छह दलोंके कमलके आकारका है। इस चक्रके ऊपर मणिपूर चक्र है और इसके भी ऊपर हृदयके पास अनाहत चक्र। ये दोनो क्रमशः दस ओर बारह दलोंके पद्मोंके आकारके हैं। इसके भी ऊपर कण्ठके पास विशुद्धाख्य चक्र है जिसका आकार सोलह दलके पद्मके समान है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्यमें आज्ञा नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही "षट्चक्र हैं। इन चक्रोंके भेद करनेके[१] बाद मस्तकमेंका शून्य चक्र मिलता है जहां जीवात्माको पहुँचा देना योगीका चरम लक्ष्य है। इस स्थानपर जिस कमलकी कल्पना की गई है उसमें सहस्र दल हैं, इसीलिए इसे सहस्रार-चक्र भी कहते हैं। शून्यचक्र ही गगन-मण्डल है। इसीको कैलाश भी कहते हैं।

---

१ अत ऊर्ध्वं दिव्यरूप सहस्रार सरोरुहम्।
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्थ बाह्ये तिष्ठति सर्वदा।
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ॥—शिवसंहिता ५, १५१—२

कबीरदासने कभी कभी जब इसी शरीरमें कैलाश नादमें ही रम जाता है, यह
तो उनका मतलब सहस्रार चक्रसे ही रहता है। बतो[1]।
सहस्रार चक्रके भी ऊपर एक अष्टम चक्र,—सुरतिकमल- यो त्यो इन शब्दोंका
है। कहते हैं कि सहस्रार तक पहुँचे हुए योगीका चित्त व्युत्थ. अपने स्वरूपमें
समाधि टूटनेके बाद फिर वासनाका शिकार हो जाता है पर सुरतिक रहता। यह
करनेवाले सन्तका चित्त ऐसे खतरेसे निश्चिन्त रहता है (विचार० पृ० भिन्न
–५)। कभी कभी साधना-ग्रन्थोंमें कुंडली योगको हठयोगसे भिन्न माना ग
है। पर अधिकांश नाथ सम्प्रदायके ग्रन्थ कुडलिनीकी चर्चा अवश्य करते हैं।

अब मेरुदण्डमें प्राणवायुको वहन करनेवाली कई नाड़ियाँ हैं जिनमेंसे कुछका आभास हम साँस लेते समय पाते हैं। जो नाड़ी बाईं ओर है उसे इड़ा और जो दाहिनी ओर है उसे पिंगला कहते हैं। मौजी कबीरने अनुप्रास मिलानेके लिए इनकी जोड़ीका नाम 'इंगला पिंगला' बना लिया था। ये दोनों ही बारी बारीसे चलती रहती हैं। इन दोनोंके बीच सुषुम्ना नाड़ी है। इसीसे होकर कुण्डलिनी शक्ति ऊपरकी ओर प्रवाहित होती है। असलमें सुषुम्नाके भीतरकी कई सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। सुषुम्नाके भीतर वज्रा, उसके भीतर चित्रिणी और उसके भी भीतर ब्रह्मनाड़ी है जो कुण्डलिनी शक्तिका असल मार्ग है। इस प्रकार सुषुम्ना वस्तुतः तीन नाड़ियोंका एकीभाव है। हिसाबसे इड़ा, पिंगला और ये तीन नाड़ियाँ मिलकर पाँच होती हैं। इसीलिये इनको 'पंचस्रोत' या 'पाँच धारायें' कहनेकी भी प्रथा है (हठ० ३–१२)। परन्तु व्यवहारत इड़ा-पिंगला सुषुम्ना इन तीन नाड़ियोंकी ही चर्चा आती है। इन्हीं तीन नाड़ियोंको सिद्धाचार्योंने 'ललना-रसना-अवधूती' कहा है (बौ० गा० दो० पृ० ९)। अवधूती अर्थात् सुषुम्ना। क्योंकि, जैसा कि, 'हठयोगप्रदीपिका' में कहा है, वैसे तो शरीरमें ६२ हजार नाड़ियाँ हैं, पर एकमात्र सुषुम्ना ही शाम्भवी शक्ति है, बाकी नाड़ियाँ बेकार ही हैं[1]। कबीरदासके विद्यार्थीको अच्छी तरह याद रखना चाहिये कि इड़ा या इंगला ही 'गंगा' है, पिंगला ही 'यमुना' है और सुषुम्ना ही 'सरस्वती' है। इन तीनोंका जहाँ ब्रह्मरंध्रमें संगम हुआ है, वहीं त्रिवेणी या प्रयाग है। कबीरदास कभी कभी शिवसंहिता आदि हठयोगके ग्रन्थोंकी भाँति

१ द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे।
सुषुम्ना शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थका।—हठ० ५–१८

...न करते हैं। कबीरकी उलटबाँसियों और ...समान इन सांकेतिक शब्दोंको नहीं भूलना चाहिये।

...रकी साधनाओंके द्वारा कुण्डलिनी शक्तिको ऊपरकी ओर या ...उद्ध करता है। साधारण मनुष्योंमें यह कुण्डलिनी अधोमुख रहती ... इस साधनमें वह काम क्रोधका क्रीतदास बना रहता है। कुण्डलिनी जब उद्बुद्ध ... ऊपरकी ओर उठती है तो उससे स्फोट होता है जिसे 'नाद' कहते हैं। ...नादसे प्रकाश होता है और प्रकाशका ही व्यक्त रूप महाबिन्दु है। यह बिन्दु तीन प्रकारका होता है इच्छा, ज्ञान और क्रिया। पारिभाषिक तौरपर योगी लोग इन्हींको कभी सूर्य, चन्द्र और अग्नि कहते हैं और कभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी कहते हैं। अब, यह जो नाद और बिन्दु है वह असलमें अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त अनाहत नाद या अनहद नादका व्यष्टिमें व्यक्त रूप है। अर्थात् जो नाद अनाहत भावसे सारे विश्वमें व्याप्त है उसीका प्रकाश जब व्यक्तिमें होता है तो उसे नाद और बिन्दु कहते हैं। बद्ध जीव श्वासा-प्रश्वासाके अधीन होकर (इन श्वासोंकी संख्या दिन रातके चौबीस घण्टोंमें २१६०० होती है) निरन्तर इडा और पिंगलाके मार्गमें चल रहा है। सुषुम्नाका पथ प्रायः बन्द है। यही कारण है कि बद्ध जीवके इन्द्रिय और मनकी वृत्ति बहिर्मुख है। जो अखण्ड नाद जगत्के अन्तस्तलमें और निखिल ब्रह्माण्डमें निरन्तर ध्वनित हो रहा है उसे वह नहीं सुन पाता। परन्तु जब क्रिया-विशेषसे सुषुम्ना-पथ उन्मुक्त हो जाता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है, तो प्राण स्थिर होकर शून्य पथसे निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या अनहद नादको सुनने लगता है। अनुभवी लोगोंने बताया है कि पहले तो शरीरके भीतर समुद्र-गर्जन, मेघगर्जन और भेरी, झर्झर आदिका सा शब्द सुनाई देता है, फिर मर्दल, शंख, घण्टा, काहलकी-सी आवाज सुनाई देती है और अन्तमें किंकिणी, वंशी, भ्रमर और वीणाके गुंजार-सी मधुर ध्वनि सुनाई देने लगती है। जिस प्रकार मकरन्द-पानमें मत्त भौंरा गन्धकी ओर ताकता भी

---

१ इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संगोऽति दुर्लभः।
ब्रह्मरंध्रमुखे तासां संगमः स्यादसंशयः।
तस्मिन् स्नाते स्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः॥ शिव० ७-१३१

नहीं, उसी प्रकार योगीका नादासक्त चित्त नादमें ही रम जाता है, वह दुनियाके किसी और विषयकी परवाह भी नहीं करता[1]।

परन्तु ज्यों ज्यो मन विशुद्ध और स्थिर होता जाता है त्यो त्यो इन शब्दोंका सुनाई देना बद हो जाता है। क्योंकि चिदात्मक आत्मा उस समय अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाता है और फिर बाह्य प्रकृतिसे उसका कोई सरोकार नही रहता। यह नाद मूलत एक होकर भी औपाधिक सबधके कारण, अर्थात् भिन्न भिन्न उपाधियोंसे युक्त होनेके कारण सात स्तरोंमें विभक्त है। शास्त्रमें जिसे प्रणव या ओंकार कहते हैं वही उपाधिरहित शब्द-तत्त्व है। किसी किसी साधकने तथा वैयाकरणोंने इसीको 'स्फोट' कहा है। यह स्फोट अखण्ड सत्तारूप ब्रह्मतत्त्वका वाचक है। स्फोटको ही शब्द ब्रह्म और सत्ताको ही ब्रह्म कहा गया है। यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि स्फोट वाचक शब्द है और सत्ता वाच्य। इस प्रकार वाच्य (ब्रह्मसत्य) को प्रकाशित करनेवाला वाचक (स्फोट या नाद) भी ब्रह्म ही है। इसका मतलब यह हुआ कि ब्रह्म ही ब्रह्मका प्रकाशक है। इस सबधको लेकर भी सन्तोंने कितने ही गूढ रूपकोंकी रचना की है। यह शब्द मूलाधारसे उठता है और सहस्रारमें जाकर लय हो जाता है। हठयोगकी प्रक्रियाको समझनेके पहले यह सब जान लेना आवश्यक है।

लेकिन हठयोग असलमें लक्ष्य नहीं है। इसे राजयोगका सोपान ही बताया गया है, यद्यपि पक्का हठयोगी इसके सिवा अन्य किसी योगकी बात सुनना ही नही चाहता। शुरू शुरूमे हठयोगका उद्देश्य शरीर शुद्धि और मनका सम्मार्जन ही समझा गया था पर नाथ-पथमें काया-साधनसे ही मुक्ति मानी जाने लगी। देह-शुद्धिके लिये हठयोगी क्रियाओंका विशाल ठाठ है, धौति है, बस्ति है, नेति है, त्राटक है, नौलि है, कपालभाति है। इन्हें षट्कर्म कहते हैं। फिर

---

१ आदौ जलधि जीमूत भेरी झर्झर-संभवा।
मध्ये मर्दल शखोत्था घटाकाहलजास्तथा॥
अन्ते तु किंकिणी वश वीणा भ्रमरनिस्वन।
इति नानाविधा शब्दा श्रूयन्ते देहमध्यगा॥
मकरन्द पिबन् भृगो गध नापेक्षते यथा।
नादासक्त तथा चित्त विषयान्न हि काक्षति॥

आसनों, मुद्राओं, प्राणायामो, ध्यानों और समाधिका विराट् आडंबर है। और वैसे तो सभी सिद्धिके सोपान हैं पर सिद्धासनके समान आसन नहीं है, खेचरी मुद्राके समान मुद्रा नहीं है, केवलके समान प्राणायाम नहीं है और नादके समान समाधि नहीं है[1]। सिद्धासनमें नाभिके नीचे मेढ़्रस्थानपर बाईं एड़ी और ऊपर दाहिनी एड़ी रखनी पड़ती है, ठुड्डी स्थिर होती है और साधक स्थिर होकर भ्रूमध्यमें ध्यान लगाता है (हठ०१-३७)। प्राणायाम तीन प्रकारका होता है रेचक (साँसका छोड़ना), पूरक (साँसका भरना) और कुम्भक (साँसका रोकना)। असल प्राणायाम कुम्भक ही है और यह दो प्रकारका होता है जब रेचक और पूरककी सहायता ली जाती है तब तो इसे 'सहित' कहते हैं पर जब उन दोनोंकी सहायताके बिना ही यह प्राणायाम सिद्ध हो जाता है तो इसे 'केवल' कहते हैं। इसीकी सहायतासे कुण्डलिनी शक्ति उद्‌बुद्ध होती है।

कबीरदासकी उलटबाँसियोंके विद्यार्थीके कुछ कामकी चीज खेचरी मुद्रा है। इसमें योगी जीभको उलटकर कपाल-कुहरमें प्रविष्ट करता है, और उसकी दृष्टि भ्रुवोंमें निबद्ध होती है (हठ० ३-३२)। बड़ी साधना और आयासके बाद यह मुद्रा प्राप्त होती है पर एक बार यदि आधे क्षणके लिए भी यह प्राप्त हो गई अर्थात् योगी अपनी जीभको ऊपरकी ओर उलटकर कपाल कुहरमें स्थिर कर सका तो समस्त विषों और व्याधियोंसे मुक्त हो जाता है। इसी मुद्राका विशेष रूप व्योम चक्र भी कहलाता है। ब्रह्मरंध्रके सहस्राकार पद्मके मूलमें जो योनि नामक त्रिकोणाकार शक्तिका केन्द्र है वही चन्द्रमाका स्थान है। इसमेंसे सदा अमृत झरता रहता है। खेचरी मुद्रामें योगीकी ऊर्ध्वगा जिह्वा उसी अमृत रसका पान करती रहती है। यही अमृत सोमरस है। इसको पान कर सकने

१ नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः॥

—हठ०-१ ४५

२ ब्रह्मरन्ध्रे हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्।
तत्र कन्दे हि या योनिः तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः॥
त्रिकोणाकृतिस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम्।

—शिव० ५-१०३

वाला योगी अमर हो जाता है। और सच पूछिये तो वही योगी कुलीन कहलाता है जो नित्य 'गोमांस' का सेवन करता रहता है और ऊपरसे अमरवारुणी नामक मदिराका पान करता रहता है। और योगी तो कुलघातक हैं, क्योंकि 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे उलटकर तालु-देशमें ले जानेको ही 'गोमांस-भक्षण' कहते हैं। निस्सन्देह यह महापातकको नाश करनेवाला है। ऊपर जिस चन्द्रमासे निर्झरित सोम रसकी चर्चा की गई है वही अमर-वारुणी है[1]। इन दो कृत्योंको करनेवाला योगी कुलीन नहीं तो क्या है? सो कबीर-दासने इसी गोमांसके भक्षण न करनेवाले योगियोंकी खबर ली थी[2] और इसी रसको पान करनेके लिये अवधूको ललकारा था[3] और स्वयं भी शायद मनोन्मनी अवस्थामें रहकर भवकी भट्टीमें ज्ञानके गुड़ और ध्यानके महुएसे इसी महारसको

---

१ गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥
'गो'शब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी॥

—हठ० ३-४६-८

२ नितै अमावस नितै ग्रहन होइ राहु ग्रास तन छीजै।
सुरही भच्छन करत वेदमुख धन बरिसै तन छीजै॥

—बीजक, शब्द ८०

३ अवधू, गगनमंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंकनालि रस पीजै।
मूल बाँधि सर गगन समाना सुषमन यों तन लागी॥
काम क्रोध दोउ भया पलीता तहाँ जोगणी जागी।
मनवा जाइ दरीबै बैठा मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं सबद अनाहद बागा॥

—क० ग्र०, पद ७०

चुआ कर पिया था। गुरुप्रसादसे उन्हें यह अमृत-फलका रस मिल गया था[1]। वस्तुत, जैसा कि हठयोगप्रदीपिकामें कहा गया है, एक ही सृष्टिमय बीज बीज है, एक ही खेचरी मुद्रा मुद्रा है, एक ही निरालम्ब देव देव है, और एक ही मनोन्मनी अवस्था अवस्था है[2]। इस मनोन्मनी अवस्थामें वायु भीतर सचरित हुआ रहता है, मन स्थिर हो गया होता है और सही बात तो यह है कि मनके सुस्थिर होनेको ही मनोन्मनी अवस्था (कबीरदासके शब्दोंमें ' उन्मुनि रहनी ') कहते हैं[3]।

राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्य, अशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा और तुर्या: ये सब एक ही समाधिके वाचक शब्द हैं। (ह० ४।३-४) यह वह अवस्था है जब मन और प्राण एकीभूत हो जाते हैं और जब चंचल मन स्थिर और वशवर्ती हो जाता है। इन्द्रियोंका स्वामी मन है, मनका मारुत, मारुतका लय (लौ) और लयका नाद। सो यह (लौ) मोक्ष है। मन और प्राणके लौ लगनेपर कोई एक अभूतपूर्व आनन्द मिलता है (हठ० ४,२९-३०)। इसीलिए हठयोगप्रदीपिकामें कहा है कि आत्माको शून्यमें करके और शून्यको आत्मामें करके योगी निश्चिन्त हो जाय। शून्य अर्थात समाधि,—जब कि आत्मा छह चक्रोंको भेदकर सहस्रार या शून्य-चक्रमें अवस्थित होता है। ऐसी अवस्थामें

---

१ अवधू, मेरा मन मतवारा।
उन्मनि चढ्या गगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।
गुडकरि ग्यांन ध्यांन करि महुआ पीवै पीवनहारा॥ इत्यादि
—क० ग्रं०, पद ७४

२ एक सृष्टिमय बीज, एका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालंब, एकावस्था मनोन्मनी॥
—हठ० ३–५३

३ मारुते मध्य सचारे
मन स्थैर्य प्रजायते।
यो मन सुस्थिरीभाव
सैवावस्था मनोन्मनी॥
—हठ० २–४२

उसके भीतर भी शून्य है, बाहर भी शून्य है, आसमानमें जैसे कोई सूना घड़ा रखा हो! परन्तु असलमें वह भीतरसे भी पूर्ण होता है, बाहरसे भी पूर्ण होता है—समुद्रमें जैसे भरा घड़ा डुबाकर रखा गया हो!—

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः
शून्य कुम्भ इवाम्बरे ।
अन्त पूर्णो बहिः पूर्णो
पूर्णः कुम्भ इवार्णवे ॥
—हठ० ५।५५

कबीरदासने मानों इसी भावका अनुवाद करते हुए कहा है—

जलमें कुंभ कुंभमें जल है,
बाहर-भीतर पानी ।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना
यह तथ कहो गियानी ।
आदे गगना अन्त गगना
मध्ये गगना भाई ।
कहै कबीर करम किस लागै
झूठी एक उपाई ॥
—क० ग्र०, पद ४४

ऊपर जो गंगा-यमुना-सरस्वती-त्रिवेणी-कैलास-सूर्य-चन्द्र-गोमासभक्षण वारुणी-पान सोमरस आदि पारिभाषिक शब्द आये हैं वे विशेष रूपसे स्मरणीय हैं, क्योंकि आगे इनकी चर्चा अनेक अवसरोंपर विशेष आवश्यक होगी ।

५—निरंजन कौन है ?

मध्ययुगके योग, मन्त्र और भक्तिके साहित्यमें 'निरंजन' शब्दका बारम्बार उल्लेख मिलता है। नाथ-पंथमें भी 'निरंजन' शब्द खूब परिचित है। साधारण रूपमें 'निरंजन' शब्द निर्गुण ब्रह्मका और विशेष रूपमें शिवका वाचक है। नाथ पंथकी भाँति एक और प्राचीन पन्थ भी था जो निरंजन-पदको परमपद मानता था। जिस प्रकार नाथ-पंथी नाथको परमाराध्य मानते थे उसी प्रकार ये लोग 'निरंजन' को। आजकल निरंजनी साधुओंका एक सम्प्रदाय राजपूतानेमें वर्तमान है। कहते हैं, इस सम्प्रदायके प्रवर्तक स्वामी निरानन्द निरंजन भगवान् (निर्गुण) के उपासक थे। पर आजकलके निरंजन मतके अनुयायी बहुत कुछ रामानन्दी वैरागियोंके समान राम-सीताके उपासक हैं, शालिग्राम-शिला और गोमती चक्रको मान्य समझते हैं। (भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय, द्वितीय भाग, पृ० १८९)। श्रीक्षितिमोहन सेनने लिखा है कि उड़ीसाम अब भी वह निरंजन पंथ जी रहा है जिसने निर्गुण साधनाको प्रभावित किया था। यहींसे इस पंथकी शिक्षाएँ मध्यदेश और पूर्वी प्रान्तोंमे पहुँची थीं। पश्चिमी भारतमें भी इसका प्रभाव अभी तक विद्यमान है (मिडिएवल मिस्टिसिज्म पृ० ७०७)। हालकी खोजोंसे पता चला है कि बंगालके पश्चिमी हिस्सों तथा बिहारके पूर्वी जिलोंमें आज भी एक धर्ममत है जिसके देवता निरंजन या धर्मराज हैं। मैंने अपनी नई पुस्तक 'कबीर-पन्थ' में दिखाया है कि एक समय यह धर्मसम्प्रदाय झारखण्ड और रीवाँ तक प्रचलित था। बादमें चलकर यह मत कबीर सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त हो गया और उसकी सारी पौराणिक कथाएँ कबीर मतमें गृहीत हो गईं परन्तु उनका स्वर बदल गया। बंगालमें धर्म-पूजा विधानका एक काफी बड़ा साहित्य उपलब्ध हुआ है। शुरू शुरूमें धर्म ठाकुर या निरंजन देवताको बौद्ध धर्मके त्रिरत्नमेंसे एक रत्न (=धर्म) का अवशेष समझा गया था, पर अब इस मतमें सन्देह भी किया जाने लगा है (दे० सुकुमार सेन और पचानन मण्डल सम्पादित 'रूपरामेर धर्ममंगल' की भूमिका)। कबीर पन्थके अध्ययनसे निरंजनका सम्बन्ध बुद्धसे था, ऐसा भी अनुमान होता है (दे० विश्वभारतीपत्रिका खण्ड ५ अंक ३ में मेरा लेख)। नाथपन्थमें निरंजनकी महिमा खूब गाई गई है। हठयोगी जब नादानुसन्धानका सफल अभ्यासी हो जाता है तो उसके समस्त

पाप क्षीण हो जाते हैं, उसके चित्त और मारुत निरंजनमें लीन हो जाते हैं[1]। यह योगीका परम साध्य है क्योंकि जब तक ज्ञान निरंजनके साक्षात्कार तक नहीं उठता तभी तक इस संसारके विविध जीवों और नाना पदार्थोंमें भेद-दृष्टि बनी हुई है[2]। एक विशेष पद तक पहुँचनेपर निरंजनका साक्षात्कार होता है। ऐसी हालतमें वह समस्त उपाधियों या विशेषताओंसे हीन हो जाता है और तभी वह अपनेको अखण्ड ज्ञान-रूपी निरंजन कह सकता है[3]। गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह (पृ० ३३) में पद्मपुराणकी कपिल गीतासे एक वचन उद्धृत किया गया है जिसमें कहा गया है कि बिन्दु-संयुक्त ओंकारका योगी लोग नित्य ध्यान करते हैं। इसके भीतर जो तत्त्व है उसे सद्गुरु ही बता सकते हैं, दूसरा कोई नहीं। ॐ कारमें पाँच खण्ड होते हैं, (१) तारक, (२) दण्ड, (३) कुण्डली, (४) अर्द्धचन्द्र और (५) बिन्दु। इन पाँचोंमें पाँच देवताओंका निवास है। तारकमें ब्रह्मा, दण्डमें विष्णु, कुण्डलीमें रुद्र, अर्द्धचन्द्रमें ईश्वर और सबसे ऊपरवाले बिन्दुमें सदाशिवका वास है। इसके भी ऊपर निरंजन हैं जो सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कारण हैं। यही परम तत्त्व है जो सद्गुरुकी कृपाके बिना समझमें नहीं आ सकता, क्योंकि, यदि सद्गुरुकी कृपा न हो तो विषय-त्याग दुर्लभ है, तत्त्व-दर्शन दुर्लभ है, सहजावस्था दुर्लभ है[4]। इससे स्पष्ट है कि निरंजनका साक्षात्कार ही परम पद

---

१ सदा नादानुसन्धानात् क्षीयन्ते पापसंचयः।
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्त मारुतौ॥ —हठ० ४-१०४

२ यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरंजने।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यन्ते विविधानि च॥ —शिव० १-४८

३ निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः।
तदा विवक्षतेऽखण्ड ज्ञान-रूपी निरंजनः॥ —शिव० १-६८

४ ईश्वर उवाच—ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
तस्मिन्मध्ये स्थितं तत्त्वं प्रदर्शयति सद्गुरुः॥
तारकं च भवेद् ब्रह्मा दण्डकः विष्णुरुच्यते।
कुण्डल्यां हि तथा रुद्रोऽर्द्धचन्द्रे स ईश्वरः।
निरंजनस्तदतीत उत्पत्तिस्थितिकारणम्।
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥—कपिलगीता (पद्मपुराणान्तर्गत)

है। स्वयं कबीरदासकी उक्तियोंमेंसे ऐसी ढूंढी जा सकती हैं जिनमें उन्होंने निरंजनको परमाराध्य समझा है। पर आगे चलकर कबीर पंथमें निरंजनकी बड़ी दुर्गति हुई है। निरंजन वहाँ पक्का शैतान बना दिया गया है। इस शब्दका ऐसा विकास कुतूहलजनक है। कबीरदासके नामपर जो दर्जनों ग्रन्थ प्रचलित हैं, उनमें निरंजनकी इस दुर्दशाके समर्थक पद प्रचुरमात्रामें हैं।

'कबीर मन्सूर' में बताया गया है कि सत्यपुरुष समस्त जगत्का उत्पन्न-कर्त्ता है। वह कभी गर्भमें नहीं आता,—सबसे अतीत, सबसे परे, सबसे ऊपर। कबीरसाहब उसी सत्यपुरुषके अनागत-वक्ता (भविष्यवक्ता) हैं। इनमें सब गुण वे ही हैं जो उक्त सत्यपुरुषमें हैं। वस्तुतः वे उससे अभिन्न हैं और संसारके त्राणकर्त्ता हैं। यही कबीरसाहब सत्ययुगमें 'सुकृति' नामसे, त्रेतायुगमें 'मुनीन्द्र' नामसे, द्वापरमें 'करुणामय स्वामी' नामसे और कलिकालमें 'कबीर' नामसे अवतीर्ण हुए हैं।

तो, सत्यपुरुषने स्वयं ही जो अपना स्वरूप उत्पन्न किया वह कबीर साहब है। इन्हीं कबीर साहबके द्वारा ब्रह्म सृष्टि (जिसकी चर्चा आगे आ रही है) को सूक्ष्म वेद दिया गया। यह वेद निर्दोष और निष्कलंक था पर दुर्भाग्यवश सदा ऐसा नहीं रह सका। कारण यह है : सत्यपुरुषने सृष्टिके लिये छह पुत्र उत्पन्न किये थे—(१) सहज, (२) अंकुर, (३) इच्छा, (४) सुहंग (=सोऽहं), (५) अचिन्त (=अचिन्त्य) और (६) अक्षर। ये छहो बड़े तेजस्वी और तपस्वी हुए। सारा जगत् उस समय जलसे परिपूर्ण था और उसमें सत्यपुरुषने अपनी सातवीं सन्तान,—एक अण्डेको छोड़ दिया। यह अण्डा अक्षर-पुरुषके पास,—जो उस समय तपोमग्न था, आकर फूटा और उसमेंसे दुर्दमनीय कालपुरुष निरंजन पैदा हुआ जिसे पिताने पहलेसे ही असंख्य युगपर्यन्त अखण्ड राजभोगकी अनुज्ञा दे दी थी। इसी अण्डेको मन्वादि शास्त्रोंमें 'हिरण्य-गर्भ' कहा गया है। यह कालपुरुष बड़ा प्रचण्ड, अभिमानी और प्रतापी हुआ। इसीके नाम नाना शास्त्रोंमें नाना भावसे आए हैं। कुछ नाम ये हैं काल, कैल, अकार, ओंकार, निरंकार, निर्गुण, ब्रह्म, ब्रह्मा, धर्मराय, खुदा, अल्लाह, करीम, अद्वैत, केशव, नारायण, हरि, विश्वम्भर, वासुदेव, जगदीश, जगन्नाथ, परमेश्वर, ईश, विश्वनाथ, खालिक, रब, रब्बिल, आलमी, हक इत्यादि।

पिता (सत्यपुरुष) की आज्ञासे इसी निरंजनने इस सृष्टिका जाल पसारा।

इस सारी सृष्टिको बनानेके मसालेको एक कूर्मजीने बड़ी सावधानीसे अपने पेटमें छिपा रखा था। कूर्मजीका आकार कछुएका है और वे सृष्टिके आधार हैं। इनका आकार भी निरंजनसे दूना है। खैर, निरंजन तो सृष्टि करनेका निश्चय कर चुका था। वह कूर्मजीसे मसालेके लिए लड़ पड़ा। कूर्मजी ऐसे दुर्दान्तको सृष्टिका मसाला क्यों देने लगे? लड़ाई हो गई। चालाक निरंजनने कूर्मजीके तीन सिर चबा डाले और फिर तो रास्ता साफ हो गया। कूर्मजीके पेटमें पड़ी हुई सामग्री दिख गई। निरंजनने उसे चुरा लिया और इस भवजालको खड़ा करनेमें समर्थ हो गया। बेचारे कूर्मजीको सत्यपुरुषकी आज्ञा बादमें मालूम हुई और वे चुप हो रहे।

अब सृष्टिको पैदा करनेके लिये कालपुरुष (निरंजन)ने आद्य शक्ति या मायाको उत्पन्न किया और उसके संयोगसे सत्त्व-प्रधान ब्रह्मा, रजोगुण-प्रधान विष्णु और तमोगुण प्रधान शिवकी सृष्टि की। ज्यों ही ये तीन देवता उत्पन्न हुए, वह अन्तर्धान होकर अपने लोकमें चला गया। जाती बार मायासे कहता गया कि इन पुत्रोंको मेरा पता मत बताना। सो, इन्होंने बादमें जब आद्यशक्ति या मायासे पूछा कि तू कौन है, तेरा पति कौन है, हम लोग कौन हैं और हमारे पिता कौन हैं तो मायाने जवाब दे दिया कि वही उनकी पिता है, वही माता और वही पत्नी भी! तीनों देवता इस उत्तरसे सन्तुष्ट नहीं हुए। बताया गया है कि स्वयं कबीरदासने पहली रमैनीमें इस तत्त्वकी ओर इशारा कर दिया है।

तब बरम्हा पूछा महतारी। को तोर पुरुष कवन तैं नारी ॥

इसपर मायाने उत्तर दिया—

हम तुम तुम हम और न कोई।
तुमहि पुरुष हमहीं तोर जोई।—बीजक, प्रथम रमैनी

इधर जब निरंजन अपने लोकमें जाकर समाधिस्थ हुआ था तो उसने सूक्ष्म वेदको हृदयमें धारण कर लिया था। उसकी सूक्ष्म बातें तो भीतर ही रह गई पर जो स्थूल अंश था वह उसकी नाकसे साँसके साथ ही गिर गया। यही 'त्वचा-ज्ञान' वाला आधुनिक वेद है। इसमें रस नहीं, केवल छिलका ही भर है, इसीलिए कबीरपंथी लोग इसे 'त्वचा-ज्ञान' कहते हैं। यह स्थूल अंश ही आजकल वेदके नामपर चल रहा है। जब ब्राह्मण लोग भक्ति गद्गद स्वरमें कहते हैं कि उस परम-पुरुषको नमस्कार है जिसके निःश्वास ही वेद हैं और इन

वेदोंसे ही जिसने इस जगत्‌का निर्माण किया है[1] तो वे असलमें इस धूर्त निरंजनकी स्तुति करते हैं। बेचारे जानते भी नहीं कि कितने धोखेमें हैं।

सूक्ष्म वेदके यो जो चार वेद-पुत्र हुए सो 'दोषी तथा पाखण्डी निरंजनके संसर्ग'से हुए और इसीलिए इनमें कलुषका रह जाना कुछ आश्चर्यकी बात नहीं। निरंजन खूब जानता है कि एक बार यदि लोगोंको सूक्ष्म वेदका ज्ञान हो जाय तो कोई उसे पूछेगा भी नहीं, इसीलिए वह बड़ी होशियारीसे संसारको अपने जालमें फंसाये हुए है। किन्तु कबीरदास जब इस संसारमें भले मानुसोंके उद्धारके लिये प्रकट हुए तो उन्होंने चारों सूक्ष्म वेदोंको फिरसे पृथ्वी-वासियोंके निकट प्रकट कर दिया। इस प्रकार कबीर साहबकी

(१) कूट वाणी ही सूक्ष्म ऋग्वेद है,
(२) टकसार-वाणी ही सूक्ष्म यजुर्वेद है,
(३) मूकज्ञान-वाणी ही सूक्ष्म सामवेद है, और
(४) बीजक-वाणी ही सूक्ष्म अथर्ववेद है।

और आजकल जो वेदके नामपर पुस्तकें चल रही ह वे ओ३म्‌से निकली हैं ओ३म्‌की माता कुण्डलिनी है, कुण्डलिनी महामाया है, महामाया नागिन है और इसीलिए ये स्थूल वेद जहरीली नागिनके जहरसे आपाद-मस्तक सिक्त हैं। कहते हैं, इसी महामाया नागिनको लक्ष्य करके कबीर साहबने कहा है—

अन्तरजोत सबद एक नारी। हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी॥

—बीजक, प्रथम रमैनी

इस प्रकार आद्या, ब्रह्मा, विष्णु और शिवने चार खान और चौरासी लाख योनियोंकी सृष्टि की है। आद्यने अण्डज, ब्रह्माने पिण्डज, विष्णु उष्मज (=ऊष्मज) और शिवने स्थावर सृष्टि की। फिर इनकी शक्तियां बनी, नरक बने, स्वर्ग बने और तीनों लोक इन्हींकी पूजामें व्यस्त हो रहा। गोया ये ही परम दैवत हों! क्वचित कोई अगर निरंजनको जान गया तो वह अपनेको धन्य समझने लगा, परन्तु निरंजन भी तो अत्यन्त निचला स्तर है। यह निरंजन बराबर महात्माओंके मार्गमें विघ्न खड़ा करता रहता है, बराबर ज्ञानप्राप्तिसे उन्हें वंचित करनेकी चेष्टा कर रहा है। अब तक कई बार तो कबीर साहबसे ही उसकी मुठभेड़ हो चुकी है। यद्यपि यह मायाका स्वामी है पर निष्कलुष तो नहीं है। वेद बिचारे करें तो क्या? उन्हें निरंजनके ऊपरके किसीकी खबर भी

[1] यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्। निर्ममे तमहं वन्दे ज्ञानरूपं जनार्दनं॥

तो हो। लेकिन इस व्यापारका सबसे मनोरंजक अंश यह है कि जिस प्रकार निरंजनने सत्यपुरुषका नाम लोप करके अपनी ही पूजा चलानी चाही थी उसी प्रकार उसके गुरुमार पुत्रोंने अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिवने निरंजनका नाम भी लोप कर देना चाहा। उन्होंने संसारमें अपनी ही पूजा फैलाई। सचमुच ही निरंजनका नाम मद्धिम पड़ गया।

हम लोग जिस कर्मलोक पृथ्वीपर निवास कर रहे हैं उसके नीचे सात पाताल या नरक हैं। सबसे नीचे जो है उसका नाम पाताल है। उसके ऊपर क्रमशः तलातल, रसातल, महातल, सुतल, वितल, अतल,—ये लोक हैं। इनके ऊपर हमारी पृथ्वी है। (१) इसके ऊपर देवताओं और सिद्धोंकी पुरी है—साधारणतः इसे स्वर्ग कहा जाता है। फिर निम्नलिखित नव लोक एकके ऊपर दूसरे क्रमसे विराजित हैं। (२) दक्ष अंशका स्थान जहाँ सालोक्य मुक्ति होती है, (३) विष्णुका वैकुण्ठ जहाँ सामीप्य मुक्ति मिलती है, (४) निरंजनका झाँझरी द्वीप जहाँ सारूप्य मुक्ति मिलती है, (५) अक्षरका अरण्यद्वीप जहाँ सायुज्य मुक्तिकी व्यवस्था है, (६) अचिन्तका अचिन्त्य-द्वीप, (७) सोऽहंका सुहंग-द्वीप, (८) इच्छा-पुरुषका इच्छा द्वीप, (९) अंकुर-पुरुषका अंकुर-द्वीप और (१०) सहज-पुरुषका सहज-द्वीप। इन सबके बहुत ऊपर सत्यपुरुषका सत्यलोक है जो परम धाम है, जहाँसे समय समयपर सत्य-पुरुषकी अनुज्ञा पाकर सद्गुरु कबीर अवतीर्ण हुआ करते हैं। देवताओं और सिद्धोंके स्थानके ऊपरकी नौ पुरियोंको मुसलमानी शास्त्रके साथ सामंजस्य लगाकर क्रमशः (१) नासूत, (२) मल्कूत, (३) जबरूत, (४) लाहूत, (५) हाहूत, (६) बाहूत, (७) साहूत, (८) राहूत, (९) जाहूत कहा गया है[1]।

यहाँ यह उल्लेख-योग्य है कि कुछ सूफियोंके अनुसार साधकको चार लोकोंको पार करना होता है। ये चार लोक 'आलम' नामसे प्रसिद्ध हैं। नासूत (मानव), मलकूत (अदृश्य लोक), जबरूत (उच्चतम लोक) और

१ जुल्मत नासूत मल्कूतमें फिरिस्ते नूर जलाल जबरूतमें जी।
लाहूतमें नूर जम्माल पहिचानिये हक्क मकान हाहूतमें जी॥
बका बाहूत साहूत मुर्सिद पार है जो रब्ब राहूतमें जी।
कहत कब्बीर अविगति आहूतमें खुद खाविन्द आहूतमें जी॥
—विश्व० पृ० २४३

लाहूत (परम लोक) ये चार आलम हैं। पर कुछ दूसरे सूफी पाँच मानते हैं। ये लोग इस सूचीमें 'राम लोक' या 'आलमे मिशाल' को और जोड़ देते हैं। दारा शिकोहने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक मजमुल बहरईन (दो समुद्रोंका संगम) नामक ग्रन्थमें उपर्युक्त चार आलमोंके साथ वेदान्तियोंकी चार अवस्थाओं,— जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयकी समानता बताई है[1]। यह ठीक समझमें नहीं आया कि कबीर पन्थके नौ लोक इन्हीं चार आलमोंका विस्तार हैं या किसी सूफी सम्प्रदायमें सचमुच ही नौ लोकोंकी कल्पना है। महाराज विश्वनाथसिंहजूदेवने 'हाहूत'को इस्लाम-सम्मत पाँचवाँ स्थान बताया है जहाँ केवल मुहम्मद साहबकी ही गति थी[2]। हम नहीं कहते कि उनका वक्तव्य किसी शास्त्रीय ग्रन्थके आधारपर है या नहीं, पर उन्होंने 'पनाह अता' नामक किसी मुस्लिम कविकी एक कविता प्रमाण-स्वरूप उद्धृत की है जो काफी मनोरंजक है[3]। इनके परिचयमें उन्होंने इतना ही कहा है, "पीरान पीर साहबके पास पहुँचे हैं, ऐसे जे हैं सल्लेलके मालिक पनाह अता तिनको कवित्त।"

इस सारे भवजालको जिसने सिरपर धारण किया है वह शेषनाग है जो स्वयं शूकरपर आरूढ़ है। शूकर भी एक गौपर चढ़े हैं और गौजी भी कूर्मजीपर। यही वह कूर्मजी हैं जिनको श्री सत्यपुरुषने सृष्टि बनानेकी सामग्री दी थी और वे उसे बड़ी सावधानीसे सँभाल रहे थे। इन्हींकी तीन गर्दन काटकर निरंजनने सृष्टिकी सामग्री प्राप्त की थी। निरंजनके साथ कबीरदासके जो झगड़े होते रहे हैं उसकी बात यहाँ नहीं उठाई जा रही है क्योंकि उससे अनावश्यक विस्तार बढ़ेगा, पर इतना पाठकको हमेशा याद रखना चाहिये कि कबीरसाहेबने सदा

---

1 MAJAMUL BAHARAIN Ed. M. Mahfuzal Huq B. A. S. Calcutta 1929 p. 11

२ विश्व, पृ० २६२

३ देह नासूत सुरे मलकूत औ जीव जबरूतकी रूह बखाने।
अरसीमें निराकार कहै जेहि लाहुतै मानिके मंजिल ठाने।
आगे हाहूत लाहूत है जाहूत खुद खाविन्द लाहूत में जाने।
सोई श्रीराम पनाह सबै जग नाह पनाह अता यह गाने।
तजै कर्म नासूत लहि निरखे तब मलकूत।
तहाँ न मरै न बीछुरै जाय न तहँ जमदूत॥

ज्ञानियों और भक्तोंको निरजनके जालसे छुड़ानेका प्रयत्न किया है। इस कलि-कालमे ही अबतक वे लगभग एक दर्जन बार आ चुके हैं। इसी निरजनके धोखेसे बचनेके लिये कबीरदासके मुखसे यह कहलवाया गया है—

अवधू निरजन जाल पसारा।
स्वर्ग-पाताल-जीव-मृत मण्डल तीन लोक बिस्तारा।
ब्रह्मा बिस्नु-सिव प्रकट कियो है ताहि दियो सिर भारा॥
ठॉव ठॉव तीरथ-व्रत थाप्यौ ठगनेको ससारा।
माया मोह कठिन विस्तारा आपु भयौ करतारा॥
सतगुरु शब्दको चीन्हत नाहीं कैसो होय उबारा।
जारि-भूँजि कोइला करि डारै फिरि फिरि लै अवतारा॥
अमरलोक जहा पुरुष बिराजै तिनका मूदा द्वारा।
जिन साहबसे भये निरजन सो तो पुरुष है न्यारा॥
कठिन कालतें बॉचा चाहो गहो सब्द टकसारा।
कहैं कबीर अमर करि राखौ मानो शब्द हमारा॥ शब्द०—पृ० ३४

कबीरदासने कितनी ही बार कहा है कि जो कुछ पिण्डमे है, वही ब्रह्माण्डमें है। पिण्डमें ब्रह्माण्ड है और ब्रह्माण्डमें पिंड है। ऊपर जो ब्रह्माण्डका विचार किया गया है तदनुसार पृथ्वीके ऊपरके दस मुकामोंकी स्थिति इस प्रकार हुई—

सख्या	मुकामोंके नाम	हिन्दू समशील नाम[1]	मुसलमानी समशील नाम
१	सत्य लोक	गो लोक	
२	सहज-द्वीप	(द्वितीय) सत्यलोक	आहूत

१ तु०—श्रीसौमित्रिरुवाच—
महर्लोक क्षितेरूर्ध्वमेककोटिप्रमाणत । कोटिद्वयेन विख्यातो जनलोको व्यवस्थित ॥
चतुष्कोटिप्रमाण तु तपो लोको विराजित । उपरिष्टात्तत सत्यमष्टकोटिप्रमाणत ॥
आयु प्रमाण कौमार कोटिषोडशसम्भवम्। तदूर्ध्वापरिसख्यातमुमालोक सुनिश्चितम्॥
शिवलोक तदूर्ध्वं तु प्रकृत्या च समागतम्। तदूर्ध्वं सर्वतत्त्वानां कार्यकारणमानिनाम्॥
निलय परम दिव्य महावैष्णवसज्ञकम्। तदूर्ध्वं तु पर दिव्य सत्यमन्यद् व्यवस्थितम्॥
न्यासिना योगिना स्थान भगवद्भावितात्मनाम्। महाशम्भुर्मदितेऽत्र सर्वशक्तिसमन्वित ॥
तदूर्ध्वं तु स्वय भात गोलोक प्रकृते परम्।—विश्व०, पृ० २४०में सदाशिवसहिताके वचन

३	अंकुर-द्वीप	विष्णु-लोक	शाहूत
४	इच्छा-द्वीप	शिव-लोक	साहूत
५	सोऽहं द्वीप	शक्ति-लोक	बाहूत
६	अचिन्त-द्वीप	कौमार-लोक	हाहूत
७	अरण्य द्वीप	(प्रथम) सत्य लोक	लाहूत
८	अक्षरी द्वीप	तपःलोक	जबरूत
९	वैकुण्ठ	जनलोक	मलकूत
१०	दशांश	भुवःलोक	नासूत
	पृथ्वी	भूलोक	आलमे फानी

पृथ्वीके नीचे सात नरक-लोक हैं। इन सबकी कल्पना पदतल-एड़ी-गिट्ट-पिंडली-जानु-जंघा और तड़ागीमें की गई है, अर्थात् मानव-देह (पिण्ड) में आधार-चक्रके नीचे सातों नरक हैं। आधारचक्र पृथ्वीका समकक्ष है। उसके ऊपर ११ अन्य चक्रोंकी कल्पना की गई है। अब तक हम योगियोंके सात चक्र ही जानते आते हैं। इन सात चक्रोंमें कई नये जोड़कर दो उद्देश्य सिद्ध किये गये हैं। एक तो पिण्ड और ब्रह्माण्डकी समशीलताकी रक्षा और दूसरा योगियोंसे कबीर-पदका अतिशय उत्कर्ष-साधन। ये चक्र इस प्रकार हैं—

१३ अक्षर-भगवान्
१२ ब्रह्मरन्ध्र-देह
११ अलख-निरंजन
१० पूर्णगिरि
९ आज्ञा चक्र
८ बलवान् चक्र
७ विशुद्ध-शक्ति चक्र
६ अनाहत चक्र
५ मनोमहाराज चक्र
४ मनःपौरुष चक्र
३ कुण्डलिनी देवता
२ स्वाधिष्ठान चक्र
१ आधार चक्र

इन समस्तसे अतीत सत्यपुरुषका स्थान है। मध्ययुगमें इन चक्रोंको बढ़ाकर दिखानेकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। प्रायः प्रत्येक सिद्धपुरुषके सम्प्रदायमें यह प्रवृत्ति लक्ष्य की जा सकती है। इन चक्रोंको भेद करना परम सिद्धिका प्रमाण माना जाता था। फिर भी सामान्य रूपसे यह कहा जा सकता है कि स्वयं सिद्धपुरुष लोग चक्रभेदकी अपेक्षा भक्तिको ही श्रेष्ठ समझते थे। कबीरकी ही

भाँति गुरु नानकदेवने भी कहा था कि, "जो ब्रह्माण्डे सोइ पिण्डे, जो खोजे सो पावे।" जिस प्रकार ब्रह्माण्डके तीन स्तर हैं अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व-लोक, उसी प्रकार पिण्डके भी। इनकी जैसी सुन्दर विवेचना श्री सन्त पूर्णसिंहजीने की है वह केवल सिख सम्प्रदायके ही नहीं कबीरदासके लोक संस्थान और पिण्ड-ब्रह्माण्डैक्यको समझनेमें भी बड़ी सहायक है। उसके आवश्यक अंशोंको हम संग्रह कर रहे हैं।

सप्त अधोलोकोंका ब्यौरा तो वही है जो हम पहले दे चुके हैं अर्थात् एड़ीसे लेकर तलागी तकके सात अंगोंमें सात नरकोंकी कल्पना की गई है। मध्यलोकमें सात लोक हैं जो मानव-देहके सात चक्रोंमें प्रतीक रूपसे स्थित हैं—(१) चतुर्दल मूलाधार चक्रमें, भूलोक, (२) षटदल स्वाधिष्ठान चक्रमें भुवलोक, (३) दशदल मणिपूर चक्रमें स्वर्लोक [इसीसे थोड़ा हटकर अष्टदल चक्र है जिसपर मन भरमा करता है।], (४) द्वादश दलवाले अनाहत चक्रमें महर्लोक, (५) षोडशदल विशुद्ध चक्रमें जनलोक (६) द्विदल आज्ञाचक्रमें तपलोक और (७) आनिक दल सहस्रार चक्रमें सत्यलोक। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि यह पहला सहस्रार चक्र है। साधारण योगियोंकी यहीं तक गति होती है।

इसके बाद इस पिण्डमें ब्रह्माण्डकी ही भाँति ऊर्ध्व लोक है। (१) ब्रह्माण्डी मनका स्थान—जो षटदल कमलके आकारका है और जहाँ त्रैलोक्यपति महान् देवका वासस्थान है, (२) शिव शक्ति-समवाय स्थान जिसे प्रथम शून्य, मध्यशून्य या महाशून्य पद कहते हैं, (३) निरालम्ब पुरी—अन्त शून्य पद; (४) शब्द-ब्रह्मस्थान—प्रणव तथा बिन्दुपदाधारः (५) निजपद—३२ दलका श्वेतकमल या भँवर गुफा, (६) गुरुपद—निरकार देश, (७) दूसरा सहस्रार चक्र या पूर्ण पद।

यह जो द्वितीय सहस्रार पद है वह भी अन्तिम पद नहीं है। बहुत से योगी तो प्रथम सहस्रारको ही परमपद मान लेते हैं पर जो गोरखनाथ जैसे सिद्ध हैं वे दूसरे सहस्रार तक पहुँच जाते हैं। पर यह भी सब कुछ नहीं है। नानकदेव इसके भी ऊपर कई स्थानोंको पार कर महामहिमावती विहगम पुरीमें जा सके थे जो देश कालके परिच्छेदसे शून्य पारावाररहित अकथ (अवाच) पद है। विशेष विस्तारके लिए प्राण० प्रस्तावना पृ०७५—८४ देखना चाहिये।

अस्तु, यह तो अवान्तर बात हुई। प्रासंगिक यह है कि कबीरदासने पृथ्वीके

ऊपर दस मुकाम माने हैं, वे दसों मुकाम जिस प्रकार ब्रह्माण्डमें हैं उसी प्रकार पिण्डमें भी। स्वयं कबीरसाहबने इनका साक्षात्कार किया था, इसका प्रमाण उनकी वाणियोंमें है—

चला जब लोकको शोक सब छाँडके हंसको रूप सदगुरु बनाई।
भृङ्ग ज्यों कीटको पलटि भृंगी किया आप सम रंग दे ले उड़ाई॥
छोड़ि[1] नासूत-मलकूतको पहुँचिया विष्णुकी ठाकुरी देख जाई।
इन्द्र कुबेर जहाँ रंभा निरत है देव तेतीस कोटि रहाई॥ १॥

छोड़ि बैकुण्ठको हंस आगे चला शून्यमें ज्योति जहाँ जगमगाई।
ज्योति-परकाशमें निरख निःतत्त्वको आप निर्भय हो भय मिटाई॥
अखिल-निर्गुन जेहि वेद अस्तुति करैं तीनहूँ देवको है पिताई।
भगवान तिनके परे सेत मूरति धरे भागको आन तिनको रहाई॥ २॥

चार मुकामपर खण्ड सोरह कहैं अण्डको छोर ह्यांते रहाई।
अण्डके परे स्थान अचिन्तको निरखिया जब उहाँ जाई।
सहस औ द्वादशै रूह सगमें करत कलोल अनहद बजाई॥
तासुके बदनकी कौन महिमा कहौं भासती देह अति नूर छाई॥ ३॥

महल कंचन-बने मनिक तामें जड़े बैठ तहँ कलश आखंड छाजै।
अचिन्तके परे स्थान सोहंगका हंस छत्तीस तहवाँ बिराजै।
नूरका महल औ, नूरका भूम्य है तहाँ आनंदसों द्वंद भाजै।
करत कल्लोल बहु भाँतिके संग यक हंस सोहंगके जो समाजै॥ ४॥

हंस जब जात षट्‌चक्रको बेधिके सात मुक्काममें नजर फेरा।
सोहंगके परे सुरति इच्छा कही सहस बावन जहँ हंस हेरा।
रूपकी राशिते रूप उनको बना नहीं उपमा इन्द्रजी निबेरा।
सुरतिसे भेंटिके शब्दको टेकि चढि देखि मुक्काम अंकूर केरा॥ ५॥

---

[1] खेल ब्रह्माण्डका पिंडमें देखिया जगतकी भर्मना दूरि भागी।
बाहरा भीतरा एक आकासवत सुषुमना डोरि तहँ उलटि लागी॥
पवनको उलटि करि सुन्नमें घर किया धरियामें अधर भरपूर देखा।
कहै कब्बीर गुरु पूरकी मेहरसों तिरकुटीमद्ध दीदार पेखा॥
—शब्दा० पृ० १०५

शन्यके बीचमें विमल बैठक जहाँ सहज अस्थान है गैबकेरा ।
नवो मुक्काम यह हस जब पहुँचिया पलक त्रिलम्ब ह्वां कियो डेरा ।
तहाँसे डोरि कम तार ज्या लागिया ताहि चढि हस गो दे दरेरा ।
भये आनन्दसे फ द सब घोडिया पहुँचिया जहाँ सतलोक मेरा ।।६।।
हंसनी हम सब गाय बजायके साजिके कलश वहि लैन आये ।
युगन युग बीछुरे मिले तुम आइकै प्रेम करि अगसो अग लाये ।
पुरुषने दर्शन जब दीन्हिया हसको तपनि बहु जनमकी तब नसाये ।
पलटिके रूप जब एकके कीन्हिया मनहुँ तब भानु षोडश उगाये ।।७।।
पुहुपके दीप पीयूष भोजन करें शब्दकी देह जब हस पाई ।
पुहुपके सेहरा हस और हसिनी सच्चिदानन्द सिर छत्र छाई ।
दिप बहु दामिनी दमक बहु भाँतिकी जहाँ घन शब्दको घुमड लाई ।
लगे जहाँ वरषने गरज घन घेरिके उठा तहँ शब्द धुनि अति सोहाई ।।८।।
सुनै सोइ हम तह यूथके यूथ है एक ही नूर इक रग रागै ।
करत बीहार मनभामिनी मुक्तिमें कर्म औ भर्म सब दूरि भागै ।
रक और भूप कोई परखि आवै नही करत कल्लोल बहु भाँति पागै ।
काम औ क्रोध मद लोभ अभिमान एक छाँडि पाखण्ड सत शब्द लागै ।।९।।
पुरुषके वदनकी कौन महिमा कहाँ जगतमें ऊपमा कछु न पाई ।
चन्द्र औ सूरगण ज्योति लागै नहीं एक ही नक्खय परकाश भाई ।
पान परवान जिन वंशका पाइया पहुँचिया पुरुषके लोक जाई ।
कहै कब्बीर यहि भाँतिसों पाइहौ सत्यकी राह सो प्रगट गाई ।।१०।।

विश्व० पृ० २३९–४०, क० मन० पृ० ५७६

ध्यानसे देखा जाय तो नाथपन्थी योगियोंके सूक्ष्म वेद, (देखिए ऊपर पृ० ३४) द्वैताद्वैतविलक्षण, (दे० ऊपर पृ० ३२) निरजन पद, (दे० ऊपर पृ० ५२—५३) नाथपद (दे० ऊपर चौथा अध्याय) आदिके भीतर ही ऐसी उद्भट कल्पनाके बीज वर्तमान थे । यह सारा बखेड़ा असलमें एक बड़ी पुरानी परम्पराका विकास मालूम पड़ता है । कबीरदासके नामपर चलनेवाले बहुत-से पद इस कल्पनाके पोषक बताये जा सकते हैं । हमने पहले ही एक वाणीमें लक्ष्य किया है (ऊपर पृ० ५९) कि निरजन एक महाठग है और उसने सारे जगत्‌को धोखा देनेके लिए यह जाल पसार रखा है । स्वयं बीजकमें इस आशयके पद

ढूँढे जा सकते हैं जिनमें बताया गया है कि अलख निरंजनके बाँधनेसे सारा जगत बँधा हुआ है[1]। उसीने नाना प्रकारके कर्मचक्र बनाए हैं जिनमें संसार चक्कर मार रहा है, उसीने वेदों और शास्त्रोंका, तीर्थों और व्रतोंका, दान और पुण्यका चक्का चलाया है। बीजककी इक्कीसवीं रमैनीके अन्तमें एक साखी उद्धृत की गई है, " मैं ही सिरजाता हूँ, मैं ही मारता हूँ, मैं ही जलाता हूँ (या जीर्ण करता हूँ), मैं ही खाता हूँ, मैं ही जल और स्थलमें रमा हुआ हूँ,— मेरा ही नाम निरंजन है[2]।" इन सबसे यह साबित होता है कि निरंजन कोई सचमुच ही वैसा ही पदार्थ है जैसा हम देख आए हैं। शास्त्रीय विचारके टीकाकार श्रीविचारदासने इस जगह निरंजनका अर्थ 'यम' किया है। परन्तु एक बार यदि हम चित्तसे निरंजनकी ऊपर बताई कल्पना हटा दें तो कमसे कम बीजकके इन पदोंसे निरंजनका अर्थ सर्वशक्तिमान निर्दोष ब्रह्म किया जा सकता है। उसे शैतान समझनेकी बिलकुल जरूरत नहीं।

फिर बीजकके ११४ वें शब्दके अनुसार भी आदिपुरुष निरंजन-त्रिदेव आदिकी परम्पराका समर्थन होता है और यह भी समर्थित होता है कि कबीरदास

---

१ अलख निरंजन लखइ न कोइ। जेहि बंधे बंधा सब लोई।
जिहि झूठे बंधा सो अयाना। झूठा वचन साँचि करि माना।
बंधा बंधा कीन बेवहारा। करम बिवरजित बसै निनारा।
षट आश्रम षट दरसन कीन्हा। षटरस वस्तु खोट सब चीन्हा।
चारि बिरिछ छव साख बखानै। बिधा अगिनित गनै न जानै।
औरो आगम करै बिचारा। ते नहिं सूझे वार न पारा।
जप तीरथ व्रत कीजे पूजा। दान पुन्न कीजै बहु दूजा।
साखी मंदिल तो है नेहका मति कोइ पैठे धाय।
जो कोइ पैठे धाइसे बिन सिर सेती जाय॥
—रमैनी २२

२ मैं सिरजौं मैं मारहू, मैं जारौं मैं खाव।
जल-थलमें मैं रमि रह्यौ, मोर निरंजन नाँव॥
—रमैनी २१ की साखी

सचमुच ही इस विपत्ति-सागरसे मनुष्योंका उद्धार करनेका दावा करते थे[1]। परन्तु प्राचीन पोथियोंमें पाये गये पदोंको पढ़नेसे ऐसा लगता है कि निरंजनवाली पौराणिक कल्पना चाहे जितनी प्राचीन परम्पराका विकसित रूप क्यों न हो कबीरदास उसे ज्योंका त्यों नहीं मानते थे। वे ब्रह्म या निरंजनको शैतान तो मानते ही नहीं थे, उल्टे उसे परम काम्य समझते थे। वस्तुत जैसा कि इस अध्यायके आरंभमें ही बताया जा चुका है निरंजन या धर्मरायको परम देवत समझनेवाला सम्प्रदाय बादमें जिस समय कबीर पंथमें अन्तर्भुक्त हुआ था उसी समय निरंजनकी महिमा घटानेका प्रयत्न किया गया होगा। यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि कबीरदास द्वैताद्वैत विलक्षणवादमें योगियोंसे प्रभावित थे (ऊपर पृ० ३२–३३), फिर यह भी निश्चित है कि वे उस परम सहजावस्थाको महान् पद समझते थे जहाँ अल्लाह या रामकी गम नहीं होती[2]। कई पदोंसे स्पष्ट है कि कालसे उनका मतलब निरंजनसे नहीं है और ब्रह्म न तो उनकी दृष्टिमें ठग ही है और न ब्रह्मज्ञान हेय ही[3]।

---

१ 'सार' शब्दसे बाँचिहो मानहु इतबारा हो।
आदि पुरुष इक वृच्छ है निरंजन डारा हो।
तिरि देवा साखा भये पत्ता संसारा हो।
ब्रह्मा वेद सही कियो सिव जोग पसारा हो।
बिस्नु माया उतपति किया उरले व्यवहारा हो॥
तीन लोक दसहूँ दिसा जम रोकिन द्वारा हो।
कीर भये सब जीयरा लिए विषके चारा हो॥
जोति सरूपी हाकिमा जिन अमल पसारा हो।
करमकी बंसी लायके पकर्‍यो जग सारा हो॥
अमल मिटावा तासुको पठवो भव पारा हो।
कहहि कबीर निरभय करौ परखो टकसारा हो॥—बीजक शब्द ११४

२ सुर नर मुनि अरु औलिया, ए सब बेले तीर।
अलह रामकी गम नहीं, तह घर किया कबीर॥—स० क० सा० पृ०६८

३ अब मैं पाइबौ रे पाइबो ब्रह्म गियान।
सहज समाधे सुखमैं रहिबो, कोटि कलप बिश्राम।

* * *

आपैमें तब आपा निरख्या अपनपै आपा सूझ्या।
आपै कहत सुनत पुनि अपना अपनपै आपा बूझ्या।
अपनै परचै लागी तारी अपनपै आपसमानां।
कहै कबीर जे आप बिचारै मिटि गया आवन जाना॥—क० ग्र० पद ६

कबीर-ग्रन्थावलीमे एक ऐसा पद है जिससे पता चलता है कि भिन्न भिन्न चक्रोंमे देवताओंके निवासका जो विवरण कबीरदासने दिया है वह अपेक्षाकृत सहज है और सर्वांशमे ऊपर बताई हुई व्यवस्थाके अनुकूल नहीं है। षट्दल-कमलमें कालका अभाव बताया गया है और शायद 'मनके मोहन बीठुला' या बिट्ठल भगवानका वह निवासस्थान है। अष्टदल कमलमे श्रीरंग केलि करते हैं पर द्वादशदल-बिहारी भगवानके रूपका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया। यह जरूर बताया गया है कि त्रिवेणी स्नानके (देखिये ऊपर पृ० ४५) बाद सनकादिकका साथ हो जाता है,—अर्थात् शायद वैकुण्ठबिहारी विष्णुका स्थान नजदीक आ जाता है। फिर गगन-गुफामे अनन्ततारका-दर्शन बताया गया है और षोडशदल कमलमें बनवारीके मिल जानेकी बात है[1]। ऐसा जान पड़ता है कि कबीरदासका

१ मनके मोहन बीठुला यहु मन लागो तोहि रे।
चरनकँवल मन मानियाँ और न भावै मोहि रे।
षट्दल-कँवल निवासिया चहुको फेरि मिलाइ रे।
दहुँके बीच समाधिया तहाँ काल न व्यापै आइ रे।
अष्टकँवल दल भीतरा तहाँ श्रीरंग केलि कराइ रे।
सद्गुरु मिलै तो पाइये नहीं तौ जन्म अकारथ जाइ रे।
कदली कुसुमदल भीतरा तहाँ दस अंगुलका बीच रे।
तहाँ दुआदस खोजि ले जनम होत नहिं मीच रे।
बंक नालिके अन्तरे पछिम दिसाकी बाट रे।
नीझर झरै रस पीजिये तहाँ भँवर गुफाके घाट रे।
त्रिवेणी मनाइ न्हवाइये सुरति मिलै जो हाथि रे।
जहाँ न फिर मघ जोइये सनकादिक मिलिहै साथि रे।
गगन गरजि मघ जोइये तहाँ दीसै तार अनन्ता रे।
बिजुरी चमकि घन बरषि है तहा भीजत हैं सब सन्ता रे।
षोडश कँवल जब चेतिया तब मिलि गये श्रीबनवारि रे।
जरा मरण भ्रम भाजिया पुनरपि जनम निवारि रे
गुरु गमितैं पाईये झखि मरै जनि कोइ रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या सहज समाधी सोइ रे॥—क० ग्र०, पद ४

मतलब इस पदमें उस सहज समाधिसे है जिसमें पद पदपर भगवानका दर्शन होता है और इस पदमें आये हुए विट्ठल, श्रीरंग, बनवारी आदि पद पारिभाषिक नहीं बल्कि सीधे-साधे ढंगसे भगवान्‌के वाचक हैं। सच पूछा जाय तो कबीरदास योगमार्गकी क्लिष्ट साधनाओंको भी बाह्याचार ही समझते रहे। उनके जैसा उन्मुक्त विचारका मनुष्य किसी प्रकारकी रूढ़ियोंका कायल नहीं हो सकता था। बारबार वे जिस सहज-समाधिकी घोषणा कर गये हैं उसमें नाना प्रकारके प्राणायाम, आसन, समाधि और मुद्राएँ परम-तत्त्वकी उपलब्धिके साधन हैं, साध्य नहीं। सहज समाधिसे ही अगर वह उद्देश्य सिद्ध हो जाता है तो कायाको क्लेश देनेसे क्या लाभ है ? आँख मूँदे बिना, मुद्रा धारे बिना, आसन लगाये बिना खुली आँखोंसे परमाराध्यका मनोहर रूप देख सकना ही सहज समाधि है। ऐसे साधकका हिलना-डुलना सब कुछ परिक्रमा है, सोना-बैठना ही दण्डवत् है, बोलना ही नाम-जप है, खाना-पीना ही पूजा है। एक बार इस सहज समाधिमें जो साधक रम गया वह उस अपूर्व अनहद नादको निरन्तर सुनता रहेगा जिसके सुनने मात्रसे रोम थकित हो जाते हैं, समस्त इन्द्रिय श्लथबन्ध हो जाते हैं, मन आनन्दसे परिपूर्ण हो जाता है[१]। उसीमें समस्त कुशलोंका कुशल है जिसमें सहज समाधि प्राप्त हो जाती है। यह उपाधिमय शरीर सहज-समाधिमय बन जाता है, दुःखके दुर्गमें सुखका विश्रामागार बन

---

१ साधो सहज समाधि भली।
गुरुप्रताप जा दिनते उपजी दिन दिन अधिक चली।
जहँ जहँ डोलौं सोइ परिकरमा जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत पूजौं और न देवा।
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन खाँव-पियौं सो पूजा।
गिरह-उजाड़ एकसम लेखौं भाव न राखौं दूजा।
आँख न मूँदौं कान न रूँधौं तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारौं।
सबद निरंतरसे मन लागा मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै ऐसी तारी लागी।
कह कबीर यह उनमुनि रहनी सो परगट करि गाई।
दुख सुखसे कोइ परे परम पद तेहि पद रहा समाई।—शब्दा०

जाता है, शत्रु मित्र हो जाते हैं, शाक्त वैष्णव बन जाते हैं। एक बार यदि साधक आत्माराम बन सके,—आप ही आपमें रम सके, तो फिर कोई विघ्न सता नहीं सकता, मन सनातन हो जाता है, जन्म-मरणका ज्ञान हस्तामलककी भाँति सहज हो जाता है। वैसी हालतमें न तो साधकसे कोई उद्विग्न होता है और न किसी औरसे साधक ही उद्वेग पाता है[1]।

अनुमानतः कबीरदासके समयका एक अपेक्षाकृत सहज मतवाद बादमें चलकर जटिल हो गया है। स्पष्ट है[2], कबीरदास निर्गुण या निरंजन ब्रह्मको शैतान-जैसा नहीं समझते थे। परन्तु यह बात भी सन्देहके परे है कि गोरख-नाथके योगमार्गमें वेदान्त, वेद, अद्वैत और निर्गुण ब्रह्मको द्वैताद्वैत-विलक्षण और सगुण-निर्गुणसे अतीत परम तत्त्वकी अपेक्षा छोटा समझा गया है और कबीरदासमें यह भाव ज्योंका त्यों रह जाता है। वस्तुत कबीरके मतसे भगवान्‌के निर्गुण होनेका अर्थ सगुणनिर्गुणातीत होना होता है और यह दोनों बातें अर्थात् भगवानको निर्गुण, निरंजन और गुणातीत कहना असंगत नहीं है। यह जानी हुई बात है कि भगवान अलौकिक गुणोंके आश्रय हैं और इसी-लिये लोकमें जो बात परस्परविरोधी दिखाती है वह भगवानमें संगत हुआ करती है।

---

१ अब हम सकल कुसल करि मानां।
स्वाति भई तब गोब्यंद जाना॥
तनमें होती कोटि उपाधि। उलटि भई सुख-सहज समाधि॥
जमथैं उलटि भया है राम। दुख बिसरा सुख किया बिश्राम।
बैरी उलटि भये हैं मीता। साषत उलटि सजन भये चीता।
आपा जानि उलटि ले आप। ता नहीं व्यापै तीन्यूं ताप।
अब मन उलटि सनातन हूवा। तब हम जाना जीवत मूवा।
कहै कबीर सुख सहज समाऊँ। आप न डरौं न और डराऊं॥

२ आगे भी निरंजन शब्दका थोड़ा विचार किया गया है। देखिये, क० ग्र०, पद २१९, २३७ और २३८

पाँचवें अध्यायका परिशिष्ट

'आदि मगल' नामसे निम्नलिखित पद्य कबीरदासके नामपर चलते हैं। ये पद्य विश्वनाथसिंहजूकी टीकाके आरम्भमें दिए हुए हैं तथा 'कबीर मन्सूर' और 'सत्य कबीरकी साखी' में भी सग्रहीत हैं। इस 'आदि मगल' से निरजनवाली कथाका समर्थन किया जाता है। यहाँ विश्व० का पाठ दिया जा रहा है। यह ध्यान देनेकी बात है कि इस आदि मगलकी शैली प्रश्नोत्तरकी है और स्पष्ट ही जान पडता है कि इसे कबीरदास स्वयं नहीं लिख रहे हैं।

अथ आदि मगल

दोहा—प्रथमै समरथ आप रहे, दूजा रहा न कोइ।
दूजा केहि विधि ऊपजा, पूछत हैं गुरु मोइ॥
तब सतगुरु मुख बोलिया, सुकृत सुनो सुजान।
आदि अन्तकी पारचै, तोसौं कहौ बखान॥
प्रथम सुरति समरथ कियो, घटमें सहज उचार।
ताते जामन दीनिया, सात करी विस्तार॥
दूजे घट इच्छा भई, चित मन सातो कीन्ह।
सात रूप निरमाइया, अविगत काहे न चीन्ह॥
तब समरथके श्रवणते, मूल सुरति भइ सार।
शब्द कला ताते भई, पॉच ब्रह्म अनुहार॥
पाचौ पॉचै अण्ड धरि, एक एकमा कीन्ह।
दुइ इच्छा तहँ गुप्त है, सो सुकृत चित चीन्ह॥
योगमया यकु कारणे, ऊजे अक्षर कीन्ह।
या अविगति समरथ करी, ताहि गुप्त करि दीन्ह॥
श्वासा सोहं ऊपजे, कीन अमी बधान।
आठ अंस निरमाइया, चीन्हो सत सुजान॥
तेज अड अचिन्त्यका, दीन्हों सकल पसार।
अड सिखापर बैठिके, अधर दीप निरवार॥
ते अचिन्तके प्रेमते, उपजी अक्षर सार।
चार अस निर्माइया, चारि वेद विस्तार॥

तब अक्षरका दीनिया, नींद-मोह-अलसान ।
वे समरथ अविगति करी, मरम कोइ नहिं जान ॥
जब अक्षरके नींद गइ, दबी सुरति निरबान ।
श्याम वरण इक अंड है, सो जलमें उतरान ॥
अक्षर घटमें ऊपजे, व्याकुल संशयशूल ।
किन अंडा निरमाइया, कहा अंडका मूल ॥
तेहि अंडके मुक्खपर, लगी शब्दकी छाप ।
अक्षर दृष्टिसे फूटिया, दसद्वारे कढ़ि बाप ॥
तेहिते ज्योति निरंजनौ, प्रकटे रूप-निधान ।
काल अपरबल बीरमा, तीनि लोक परधान ॥
ताते तीनो देव भे, ब्रह्मा-विस्नु महेश ।
चारि खानि तिन सिरजिया, मायाके आदेश ॥
चारि वेद षट शास्त्रऊ, औ दस-अष्ट पुरान ।
आसा दै जग बाँधिया, तीनों लोक भुलान ॥
लख चौरासी धारमों, तहाँ जीव दिय वास ।
चौदह यम रखवारिया, चारि वेद विश्वास ॥
आपु आपु सुख सब रमे, एक अंडके माहिं ।
उतपति परलय दुःख-सुख, फिरि आवहि फिरि जाहिं ॥
तेहि पाछे हम आइया, सत्य शब्दके हेत ।
आदि-अन्तकी उतपती, सो तुमसों कहि देत ॥
सात सुरति सब मूल है, प्रलयहु इनही माँहि ।
इनही माँसे ऊपजे, इनही माँह समाहि ॥
सोई ख्याल समरत्थकर, रहे सो अछप छपाइ ।
सोई संधि लै आइया, सोवत जगहि जगाइ ॥
सात सुरतिके बाहिरे, सोरह सखके पार ।
तहँ समरथको बैठका, हंसनकेर अधार ॥
घर घर हम सबसों कही, शब्द न सुनें हमार ।
ते भवसागर डूबहीं, लख चौरासी धार ॥
मंगल-उतपति आदिका, सुनियो संत सुजान ।
कहै कबीर गुरु जाग्रत, समरथका फुरमान ॥

६—कुछ अन्य शब्दोंके भाग्य-विपर्यय

'निरजन' शब्दके इस भाग्य-विपर्ययको देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। भारतवर्षकी जलवायुमें ही कुछ ऐसा गुण है कि यहाँके साधक और पण्डित समस्त प्रचलित पौराणिक परम्पराको स्वीकार करते हैं, अपने विशेष मतकी पुष्टिके लिए उससे सगति बैठाते हैं और अपने उपास्य देवको सबके सिरपर बैठा देते हैं। विष्णुको भजनेवाले शिवको विष्णुका दास बनाते हैं और शिवको भजनेवाले विष्णुको शिवका भक्त और फिर शक्तिके उपासक शिवकी छातीपर कालीका कराल ताण्डव देखकर भाव-विह्वल हो उठते हैं। यह चिरपरिचित घटना है। निरजन बेचारेको जरा कड़ा दण्ड मिला है। वह ईश्वरसे शैतान हो गया है,—अवश्य ही कबीरदासके हाथों नहीं बल्कि उनके चेलोंकी कृपासे!—परन्तु इस प्रकारकी मनोरजक परिणति तक कई अन्य शब्दोंको भी जाना पड़ा है। दुर्गतोंकी जमातमें निरंजन अकेला नहीं है।

सबसे अधिक मनोरंजक है शून्य और सहज, नाद और विंदु तथा खसम और घरनी। शून्य और सहज तो भारतीय साहित्यके अत्यधिक मनोरजक शब्दोंमेसे हैं। बौद्ध महायान सम्प्रदायके दार्शनिकोंकी दो शाखायें हैं। एक मानती है कि ससारमें सब कुछ शून्य है, किसीकी भी कोई सत्ता नही और दूसरी शाखावाले मानते हैं कि जगत्के सभी पदार्थ बाहरी तौरपर असत् होनेपर भी चित्के निकट सत् हैं। असत् अर्थात् सत्ता-रहित या नौन एक्जिस्टेंट और सत् अर्थात् सत्तावान् या एक्जिस्टेंट। इन दोनों शाखाओंमेंसे पहलीको शून्यवाद कहते हैं और दूसरीको विज्ञानवाद। नागार्जुनने शून्यकी व्याख्या करते हुए कहा है कि इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नही कह सकते और दोनों (=शून्याशून्य) भी नही कह सकते। फिर यह भी नहीं कह सकते कि यह शून्य भी नहीं है और अशून्य भी नही है। इसी भावकी प्रज्ञप्तिके लिए 'शून्य' का व्यवहार होता है[1]। इस प्रकार यह सिद्धान्त बहुत कुछ अनिर्वचनीयतावादका रूप ग्रहण कर लेता है। हमने ऊपर देखा है

---

१ शून्यमिति न वक्तव्यं अशून्यमिति वा भवेत्।
उभय नोभय नैव प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥

(पृ० ४४) कि नाथपंथी लोग अपने रावके ऊपरी सहस्रार चक्रको 'शून्य चक्र' कहते है। उनके मतसे जब जीवात्मा नाना प्रकारकी यौगिक क्रियाओं-द्वारा इस चक्रमें पहुँचता है तो वह समस्त द्वंद्वोंसे ऊपर उठता है और 'केवल' रूपमें विराजता है। यही शून्यावस्था है जिसमें आत्माको और किसी प्रकारकी अनुभूति नहीं होती, न सुखकी न दुखकी, न रागकी, न द्वेषकी, न हर्षकी, न अमर्षकी इन समस्त द्वंद्वोसे रहित केवलावस्थाको शून्यावस्था कहना अनुचित नहा है। पर स्पष्ट ही यह अर्थ बौद्ध अर्थसे कुछ दूर हट गया है। मजेदार बात यह है कि योगी लोग इस केवल 'शून्यावस्था' को 'शून्या-शून्य-अवस्था' भी कहते है और इस प्रकार शब्दोंमे नागार्जुनके बताये हुए परम लक्ष्यको ज्योका त्यों स्वीकार करते हुए भी अर्थमे एकदम भिन्न हो गये है।

यह जो केवलावस्था है वह और भी पुराने कालसे सम्बद्ध है। सहजयानी सिद्ध लोग इसी केवलावस्थाको बार बार शून्य पदसे पुकारते हैं (चर्या० १३-१, १७-२, २८-५, ३१-१ इत्यादि)। इन सहजयानी सिद्धोंने प्रायः 'शून्य' और 'सहज' शब्दका व्यवहार एक साथ किया है। यह परम्परा अर्थात् 'शून्य' और 'सहज' का साथ व्यवहार करना नाथपथी योगियोंमें ज्योंकी त्यों चली आई है और कबीरदास आदि सन्तोंने भी इस परम्पराको लुप्त होने नहीं दिया है। कबीरदास प्राय 'सहज-शून्य' का एक ही साथ प्रयोग करते हैं और कितनी ही जगह उन्होंने एक ही अर्थमें भी प्रयोग किया है। हम पहले ही देख आये हैं कि सहजावस्था जो नाथपंथियोंकी चरम साधना है इस शून्यावस्थासे भिन्न नहीं है। यही बात सहजयानी सिद्धोंके विषयमे भी कही जा सकती है। इस मतमें चार प्रकारके आनन्द माने गये है प्रथमानन्द, परमानन्द विरमानन्द और सहजानन्द। परन्तु योगियोंके 'सहजानन्द' से सहजयानियोके 'सहजानन्द' का तात्त्विक भेद है। योगीको जहा इस अवस्थामें आत्मोपलब्धि होती है, वह आत्माराम हो जाता है अर्थात अपनमे आपही रमने लगता है, वहाँ सहजयानीको इस अवस्थामे इन्द्रिय-बोधके लोप हो जानेका तो अनुभव होता ही है, अपने आपको जाननेकी स्थिति भी लुप्त हो जाती है। वहा वह केवल एक ऐसी अवस्थामे पहुँच जाता है जिसे किसी शब्दसे कहकर नहीं समझाया जा सकता, जो अनुभवैकगम्य है। सरहपाद यही बात बतानेके लिये कह गये हैं कि—

इन्दिअ जत्थ विलअ गउ, णट्ठिउ अप्प सहावा ।
सो हले सहज न तनु फुड़, पुच्छहि गुरु पावा ॥

कबीरदासके आविर्भावके अव्यवहित पूर्वकालमें एक ऐसी भी अवस्था बीती है जब सहजयानी सिद्ध लोग शून्यको तनात्मक बतानेके लिये एक अन्य शब्दका व्यवहार करने लगे थे। यह शब्द है 'सुखराज' या 'महासुख'। इतना वे भी मानते थे कि सर्वज्ञ भगवान बुद्धदेवने इस शब्दका कभी प्रयोग नहीं किया और भावकी प्रज्ञप्तिके लिये भी कुछ नहीं कहा। वस्तुतः 'सुखराज' अर्थात् धनात्मक 'सुख' की कल्पना बौद्ध धर्ममें बहुत परवर्ती घटना है। परन्तु साथ ही इस मतके माननेवाले बुद्धदेवके मौनका अपने पक्षकी पुष्टिमें ही उपयोग करते थे। उनका कहना था कि यद्यपि भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ थे तथापि वे इस महासुख-राज विषयमें जो मौन रह गये वह इसलिये कि यह वाणीसे परे था, 'जय हो इस कारणरहित सुखराजकी, जो जगत्के नाशमान चंचल पदार्थोंमें एकमात्र स्थिर वस्तु है और सर्वज्ञको भी इसकी व्याख्या करते समय वचन-दरिद्र हो जाना पड़ा था।—'

जयति सुखराज एष कारणरहित सदोदितो जगतां ।
यस्य च निगदन-समये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः ॥

सो यह सुखराज ही सार है, यही शून्यावस्था है क्योंकि इसका न आदि है, न अन्त है, न मध्य है। न इसमें अपना ज्ञान रहता है न परायेका। न यह जन्म है न मोक्ष, न भव, न निर्वाण। इसी अपूर्व महासुखराजको सरहपादने इस प्रकार कहा है—

आइ ण अन्त ण मज्झ णउ णउ भव णउ णिव्वाण ।
एहु सो परम महासुह णउ पर णउ अप्पाण ॥

—ज० डि० ले० पृ० १३

किस प्रकार यह सहजमत बादमें चलकर सहजिया वैष्णव सम्प्रदायमें बदल गया यह साधनाके इतिहासमें बड़ी मनोरंजक कहानी है, पर हम उधर नहीं जा सकते क्यों कि वह कबीरदासके बादकी घटना है।

कबीरदासने 'शून्य' और 'सहज' से जिस प्रकारकी समाधिकी बात कही है वह योगियोंकी सहजावस्थासे भिन्न है। वे उस सन्तको अपना सारा जप-तप दलालीमें भेट कर देनेको तैयार थे जो उन्हें सहज सुखके योग्य बना दे, जो उन्हें एक बूँद भी राम-रस चखा दे। यह राम ही उनकी सहजा-

वस्थाका सुख है[1]। इसी 'राम-रस' का आस्वादन उन्होंने सहज शून्यमें किया था। इसी 'रामरस' से शिव सनकादि मत्त हो गये थे। इडा और पिंगलाकी भट्ठी बनाई, उसमें ब्रह्म-अग्नि जला दी, सूर्य और चन्द्रसे दसो दरवाजे बन्द कर दिये और उल्टी गंगा बहाकर पानीकी व्यवस्था की, तब जाकर पाँचो प्राणोको साथ लेकर 'राम-रस' चुआया गया और कबीरदासने छक कर पान कीया। सद्गुरु न मिले होते तो यह विचित्र रस सम्भव न होता[2]। खैर, कबीरदास भाग्यशाली थे, उन्हें राम-रसका चस्का लग गया और वे दिन-रात इस महारसमें बुद्द बने रहे। इस प्रकार कबीरदास हद्द छोड़कर बेहद्दमें पहुँच सके थे और वहाँ 'शून्य' सरोवरमें आप्राण मज्जन करके ऐसे महलमें विश्राम कर सके थे जहाँ मुनिजन भी नही पहुच पाते[3]। सहजावस्था भी कबीरदासके मतसे वह है जहाँ भक्त सहज ही भगवान्को पा सके। पुत्र-कलत्र और वित्तका त्याग करना कृच्छ्रता है, कोई एक ऐसा योग है जिसमें ये चीजें स्वयं छूट जाती हैं।

---

१ है कोउ सन्त सुख उपजै जाकों जप तप देउ दलाली।
एक बूंद भरि देइ राम रस, ज्यूं भरि देइ कलाली। इत्यादि।
—क० ग्र० पद १५५

२ बोलो भाइ रामकी दुहाई।
इहि रस सिव सनकादिक माते पीवत अजहूं न अघाई।
इला प्यंगुला भाटी कीन्ही, ब्रह्म अगनि परजारी।
ससिहर सूर द्वार दस मूंदे लागी जोग जुग तारी।
मन मतिवाला पीवै राम रस दूजा कछु ना सुहाई।
उलटी गंगा नीर बहि आया अमृत धार चुआई।
पंच जनै सो संग करि लीन्हे चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियालै पीवन लागे सोवत नागिनि जागी।
सहज सुनिमै जिन रस चाख्या सतगुरुथे सुधि पाई।
दास कबीरा इहि रस माता कबहूं उछकि न जाई॥
—क० ग्र०, पद ७४

३ हद्द छाडि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनिजन महल न पावई, तहां किया विश्राम॥
—क० ग्र०, ५-११ (पृ० १३)

कबीरदासने इसी अनासक्ति-योगको अपनाया था और उन्हें अपने पुत्र और कलत्रकी ममता और अर्थ और कामकी चिन्ता सहज ही चली गई थी,—वे 'एकमेक' होकर रामसे सहज ही मिल सके थे—

सहजे सहजैं सब गए, सुत बित कामिणि-काम।
एकमेक है मिलि रह्यौ, दासि कबीरा राम ॥
सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ ॥
—क० ग्र० २१, ३-४ (पृ० ४२)

किन्तु हमने ऊपर देखा है कि कबीरपथी लोगोंने इस 'सहज' शब्दका भी लोक विशेषके अर्थमें ही प्रयोग किया है। कबीरदासने यद्यपि यहाँ सहज ही हरिको पा लिया था पर कबीरके शिष्योंको यह पसन्द नहीं था कि उन्हें सहज ही छोड दिया जाय। सो सहज शून्यकी नैरात्म्य, कैवल्य, महासुख, राम रस-निर्झरसे होती हुई सहज लोक तक पहुँचनेकी यात्रा बडी ही मनोरंजक है। फिर भी इतना तो सन्तोष किया ही जा सकता है कि उस परिणतिके पश्चात् भी सहजलोकमें वास करनेवाला सहज-पुरुष निरंजन जेसा ठग और धोकेबाज नहीं बताया गया है और वह सत्यलोक-रूप परमपदसे बस एक ही सीढी नीचे है।

'खसम' शब्द और भी मनोरंजक है। सिद्धोंके गानों और दोहोंमें यह कई जगह आया है। सरोजवज्रकी निम्नलिखित चौपाईमें यह दो बार आया है। एक जगह केवल 'खसम' है और दूसरी जगह 'खसम-सहावें' या 'खसम-स्वभावेन' के रूपमें है—

सब्ब रूअ तहि खसम करिज्जन।
खसमसहावेँ मण वि धरिज्जइ ॥

दुर्भाग्यवश इस चौपाईपर अद्वयवज्रकी टीका खण्डित मिली है। आखिरी पंक्तिका अर्थ उन्हें 'मनश्च खसमस्वभावेन धार्यते' अर्थात् 'मन भी खसम स्वभावसे धारण किया जाता है' इस प्रकार किया है। परन्तु इसके बादकी चौपाईकी टीकामे जो कुछ लिखा है उससे कोई सन्देह नही रह जाता कि 'खसम' वस्तुतः सहजयानी लोगोंकी सहजावस्था या शून्यावस्थाका वाचक शब्द है। 'खसम' का शब्दार्थ भी 'शून्यके समान' या 'आकाशके समान' (नाथपंथियोंके शब्द 'शून्योपम' और 'गगनोपम' से तुलना कीजिये।)

है। अद्वयवज्र लिखते हैं कि, "तथा सोऽपि खसमस्वरूपं मनः तस्मिन्मनः क्रियते। एव यः करोति स उत्तमः पुरुषः सहजस्वभावे रमते क्रीडति इति यावत्।" अर्थात् आकाशके समान व्यापक मनमें जो साधक अपने मनको लीन कर देता है वह उत्तम पुरुष निश्चय ही खभावसे क्रीड़ा करता है। (सहजाम्नाय-पंजिका पृ० ११०-१११)

इसी तरह शवरपादके निम्नलिखित पदमें 'खसमे समतुला' शब्द आया है—

हेरिषे मेरि तइला बाडी खसमे समतुला
पुकडए सेरे कपासु फुटिला।

टीकाकार यहाँ 'खसमे समतुला' का अर्थ 'प्रभास्वरतुल्यभूता' अर्थात् 'अत्यन्त उज्ज्वल' किया है। जान पड़ता है कि सहजयानी लोगोंमें इस शब्दका प्रयोग शून्यावस्था और नैरात्म्य-भावके लिये किया जाता था। इस भावके व्यंजक जितने भी पुराने शब्द योगियों और तान्त्रिकोंके साहित्यमें बच रहे हैं उनका अर्थ थोड़ा बदल गया है। नैरात्म्यका स्थान 'भावाभावविनिर्मुक्तावस्था' ने ले लिया है अर्थात् बौद्ध लोग जहाँ उन शब्दोंसे आत्माके लुप्त होनेका भाव लिया करते थे (नैरात्म्य), वहाँ योगी और तान्त्रिक लोग एक ऐसी अवस्थाका अर्थ समझने लगे जिसमें साधकको न भावका अनुभव होता है न अभावका—न तो वह 'है' को महसूस करता है और न 'ना' को (भाव-अभाव विनिर्मुक्त-अवस्था)। यही योगियोंकी दुर्लभा सहजावस्था है। ध्यान देनेकी बात है कि इस अवस्थाके लिये योगियोंने 'खसम' शब्दके तुल्यार्थक 'गगनोपम' शब्दका व्यवहार किया है। 'अवधूत-गीता' में अवधूतकी इस गगनोपमावस्थाका विस्तारपूर्वक वर्णन है। गगनोपमावस्था (या ख-सम अवस्था) जहाँ द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य, सत्य और असत्य देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नहीं होते, जो मायाप्रपंचके ऊपर है, जो दम्भादि व्यापारके अतीत है, जो सत्य और असत्यके परे है, जो ज्ञानरूपी अमृतपानका परिणाम है—

अद्वैतरूपमखिलं हि कथं वदामि
नित्यं ह्यनित्यमखिलं हि कथं वदामि।
सत्यं ह्यसत्यमखिलं हि कथं वदामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥

ब्रह्मादया सुरगण कथमत्र सन्ति
स्वर्गादयो वसतय कथमत्र सन्ति ।
यद्येकरूपममल परमार्थतत्त्व
ज्ञानामृतं समरस **गगनोपमो**ऽहम् ॥
माया-प्रपञ्च-रचना न च मे विकारः
कौटिल्य-दम्भ-रचना न च मे विकार ।
सत्यानृतेति रचना न च मे विकारः
ज्ञानामृतं समरस **गगनोपमो**ऽहम् ॥
न शून्यरूपं न विशून्यरूपं
न शुद्धरूपं न विशुद्धरूप ।
रूप-विरूप न भवामि किञ्चिद्
स्वरूपरूप परमार्थतत्त्वम् ॥

जब यह शब्द कबीरदास तक पहुँचा तबतक इससे मिलता-जुलता एक अरबी शब्द खसम (=पति) भारतवर्षकी सीमामें पहुँच चुका था। कबीरदासको यह शब्द दो मूलोंसे प्राप्त हुआ। हठयोगियोंके माध्यमसे यह आत्माके शून्यचक्रमें पहुँचकर समभावकी अवस्थाको प्राप्त होनेके अर्थमें आया और मुसलमानी माध्यमसे पतिके अर्थमें। हमने पहले ही देखा कि कबीरदास योगियोंके कृच्छ्राचार-द्वारा प्राप्त समाधिको बहुत ऊची अवस्था नहीं मानते थे। मेरुदण्डपर दुलैचा डालकर समाधि लगानेको वे कच्चा योग ही समझते थे—

मेरुदण्डपर डारि दुलैचा जोगी तारी लावैं ।
सो सुमेरकी खाक उडैगी कच्चा योग कमावैं ॥

बीजकके ६५ वें पदमें यह बताया गया है कि योगियोंका महाकालको धोखा देनेकी धुनमें लगे रहना कितना हास्यास्पद है। भला हृदयमें भगवद्भक्ति न हो तो शरीरकी साधना कहाँ तक साथ दे सकती है? जो रस बधनेमें है ही नहीं, उसे टोंटीके रास्ते गिरानेका प्रयत्न हास्यास्पद नहीं तो क्या है—

जरि गौ कन्था धज गौ टूटी । भजि गौ डडे खपर गौ फूटी ।
कहहिं कबीर इ कलि है खोटी । जो रहै करवा सो निकरै टोंटी ॥

इसीलिए कबीरदासने शून्य समाधिवाली गगनोपमावस्था या खसम भावको सामाजिक आनन्द ही माना है, बड़ी चीज तो सहज समाधि है जिसके लिये न

डंडेकी जरूरत है न कंथाकी, न मुद्रा आवश्यक है न आसन (पृ० ६७ टि० देखिये)। यही कारण है कि खसमका अर्थ सब समय उन्होंने 'निकृष्ट पति' समझा। इन्द्रिय-वधुओंका संगमके साथ 'सूतने' अर्थात् यौगिक क्रियाओंद्वारा मुग्ध बने रहनेको उन्होंने कुछ इसी अर्थमें प्रयोग किया है। फिर खसम वह पति है जो अपनी पत्नीको वश न कर सके और इंद्रियोंके दास मनको भी इसी लिये कबीरदासने कभी कभी खसम कहा है। कमसे कम कबीरदासके नामपर चलने वाले बहुतसे परवर्ती भजनोंमें इसका इस दूसरे अर्थमें ही प्रयोग अधिक है। टीकाकारों और भक्तोंने अपनी उर्वर कल्पनाके बलपर इस शब्दका अर्थ कभी जीव, कभी मन और कभी परमात्मा भी किया है।

मेरा अनुमान है कि कबीरदास 'खसम' शब्दकी पुरानी परम्परासे जरूर वाकिफ थे और उन्होंने जान-बूझकर खसमावस्थाकी तुलना निकृष्ट पतिसे की है। उद्देश्य योगियोंकी कच्चाई बताना था। तिहत्तरवीं रमैनीमें यह शब्द इस प्रकार आया है :

जाइन मरै सुपैबी सौरी, खसम न चीन्है घरनि भै बौरी।
साँझ-सकारा दियना बारै, खसम छोड़ि सुमिरै लगवारै।

ठीक इसी प्रकारकी उक्तियाँ सिद्धोंकी वाणियोंमेंसे खोजी जा सकती हैं। सिद्ध लोग 'घरणि' या घरनीका अर्थ तीन वृत्तियोंमेंसे कोई एक समझते हैं। यद्यपि इन तीन वृत्तियोंके नाम उस जमानेकी नीच समझी जानेवाली जातियोंके नामपर हैं पर वे बौद्ध तान्त्रिक साधनकी बहुत ऊँची अवस्थाओंकी द्योतिका हैं। सहज-मतकी तीन वृत्तियाँ (या मार्ग) ये हैं (१) अवधूती, (२) चाण्डाली, (३) डोम्बी या बंगाली। अवधूतीमें द्वैत-ज्ञान बना रहता है, चाण्डालीमें द्वैत ज्ञानके बने रहनेको कह भी सकते हैं, नहीं भी कह सकते, पर डोम्बी या बंगालीमें विशुद्ध अद्वैत-ज्ञान ही विराजा करता है। एकका रास्ता इड़ा मार्गसे है, दूसरीका पिंगला मार्गसे और तीसरीका सुषुम्नासे। भूसुकपादने इसी लिए अपनेको सम्बोधित करके कहा है कि 'ऐ भुसुक, तूने चण्डालिनी घरनीको तो अपना लिया, अब आज बंगालिन घरनी भी बना ले और इस प्रकार सर्वद्वन्द्व-विनुर्मुक्त खसम-भावको प्राप्त हो'

आजि भुसु बंगाली भइली, णिअ घरणी चाण्डाली लइली।

इस प्रकार इस साहित्यमें 'घरणी' शब्द प्रायः ही तीन वृत्तियोंके अर्थमें संकेतित है। इस अर्थके प्रकाशमें कबीरदासकी ऊपरवाली रमैनीका विचार किया जाय तो

अर्थ बहुत साफ हो जाता है। खसम भावको पहचाननेवाली वृत्ति सुषुम्नावाहिनी है, अन्य मार्ग जो द्वैतज्ञानमूलक हैं, उन्हें यह वृत्ति पहचानती नहीं।

इसी प्रकार निम्नलिखित साखीमें भी खसम भावकी अपेक्षा भक्तिप्रतिपाद्य भगवद्भावको श्रेष्ठ बताया है—

भोरै भूली खसमके, कबहुँ न किया बिचार।
सतगुरुसाहिब बताइया पूरबला भरतार॥

परंतु ऐसा जान पड़ता है कि या तो कभी कभी कबीरदास स्वयं खसम शब्द परम्परासमर्थित अर्थमें प्रयोग नहीं करते थे या फिर ऐसे पद कबीरदासके नाम पर बादमें चल पड़े होंगे। बीजकमें ही खसम शब्दका ऐसा प्रयोग पाया जाता है जिसका बहुत खींच-तान करने पर भी 'खसमावस्था' अर्थ नहीं किया जा सकता [1]। उदाहरणार्थ,

भाई, मैं दूनो कुल उजियारी।
बारह खसम नैहरे खायो, सोरह खायो ससुरारी।
इत्यादि (शब्द ६२)

हमने यह पहले ही देखा है कि कबीरदासजीमें शून्य-सहजमें 'राम रस' पानेका अनुभव किया था। अपने आपको खसमावस्था या गगनोपम भावके ऊपर उठाकर प्रेम-प्रवण 'हरिरस' की ओर उन्मुख करनेके लिए वे जो कुछ कहते हैं उससे तो खसम शब्दका पुराना अर्थ ही समर्थित होता है—

धीरौ मेरे मनवाँ तोहि धरि टाँगौं, तैं तो कियो मेरे खसमसूँ खाँगौं।
प्रेमकी जेवरिया तेरे गले बाँधूँ, तहाँ लै जाउँ जहाँ मेरे माधौ।
काया नगरी पैसि किया मैं बासा, हरि-रस छाँडि विषै-रसि माता॥
कहै कबीर तन-मनका ओरा, भाव-भगति हरिसूँ गँठ जोरा॥

इस प्रकार 'सहज' और 'शून्य' की भाँति 'खसम' और 'घरनी' की परिणति भी साधना साहित्यकी एक मनोरंजक घटना है।

---

१ प० चन्द्रबली पाण्डेने साप्ताहिक 'आज' में एक लेख 'खसमकी खोज' नामसे लिखा था। इसमें उन्होंने दिखाना चाहा है कि खसम शब्दका अर्थ कबीरदासकी वाणियोंमें 'निकृष्ट पति' नहीं होता बल्कि पति स्वामी आदि साधारण अर्थमें ही होता है। पाण्डेजी नहीं मानते कि कबीरदासके इस शब्दके प्रयोगमें कोई जटिलता है। पाण्डेजीके लेखमें जानने योग्य बातें है पर मुझे अपना मत परिवर्तन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं मालूम हुई।

७—योगपरक रूपक और उलटबाँसियाँ

कबीरदासके नामपर बहुतसे योग-परक रूपक और उलटबाँसियोंका पाया जाना बड़े भारी भ्रम और विवादका विषय बन गया है। ऐतिहासिक दृष्टिसे न देख सकनेके कारण अनेक पण्डित इसके वास्तविक रहस्यको नहीं समझ सके। कबीरदास जिस वंशमें उत्पन्न हुए थे उसमें योग-चर्चा अत्यंत मामूली धर्म-चर्चाके समान थी। बाहर भी योगियोंका बहुत जबर्दस्त प्रभाव था। इन योगियोंकी अद्भुत क्रियायें साधारण जनताके लिए आश्चर्य और श्रद्धाका विषय थीं। परन्तु इन योगियोंका किसी भी विषयमें साधारण जनतासे साम्य नहीं था। बल्कि ये लोग गर्वपूर्वक घोषणा करते फिरते थे कि वे तीन लोकसे न्यारे हैं। सारी दुनिया भ्रममें उलटी बही जा रही है, सही रास्तेपर वे ही लोग हैं जो हठयोगके सिद्धान्तों और व्यवहारोंको मानते हैं। 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' में कहा गया है कि

"एक योगसम्प्रदायके सिवा अन्य सभी मतोंकी बात उलटी है। नाथका अंश नाद है, नादका अंश प्राण और उधर शक्तिका अंश बिन्दु है और बिन्दुका अंश शरीर। इससे स्पष्ट है कि नाद और प्राण बिन्दु और शरीरसे अधिक महत्त्व-पूर्ण हैं, अर्थात् पुत्र-क्रमकी अपेक्षा शिष्य-क्रम अधिक मान्य है। दुनियाके लोग ठीक इसके उलटे चलते हैं। उनकी दृष्टिमें पुत्र-क्रम ही अधिक मान्य है और शिष्य-क्रम अल्प-मान्य। परन्तु नाथपन्थी लोग शिष्यक्रमको प्रधान मानते हैं, और यही ठीक भी है। दुनियाका क्रम है: धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-सन्यास, शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-बीभत्स-भयानक-अद्भुत-शान्त, पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश, ब्रह्मा-विष्णु-शिव इत्यादि, —सब उलटा!! क्योंकि जो श्रेष्ठ है उसको पहले स्थान देना चाहिए अपेक्षाकृत कम श्रेष्ठको बादमें। इस प्रकार वास्तविक क्रम बिल्कुल उलटा होगा। यथा मोक्ष-धर्म-अर्थ-काम, सन्यास-वानप्रस्थ-गार्हस्थ्य-ब्रह्मचर्य, शान्त-करुण-अद्भुत-वीर-रौद्र-हास्य-भयानक-बीभत्स-शृङ्गार . इत्यादि। यही योग सम्प्रदायकी रीति है, यही तन्त्र सम्प्रदायकी।" (पृ० ५८–५९।) इस साम्प्रदायिक वृत्तिका परिणाम यह हुआ कि योगी और तान्त्रिक लोग दुनियासे उलटी बात कहनेके अभ्यस्त हो गये। विरोधाभास यह कि ऐसा कहनेसे उनकी

प्रतिष्ठा बढ़ती ही गई, घटी बिल्कुल नहीं। और ये लोग अधिकाधिक उत्साहसे डकेकी चोट सीधी बातको भी उल्टी करके, जटिल करके, धक्कामार बनाके कहते गये। तुम कहते हो सूर्य प्रकाश और जीवन देता है?—बिल्कुल गलत है। वही तो मृत्युका कारण है। चन्द्रमासे जो कुछ अमृत झरा करता है वह सूर्य ही चट कर जाता है उसका मुँह बन्द कर देना ही योगीका परम कर्तव्य है[१]। क्योंकि जो आकाशमें तप रहा है वह वास्तवमें सूर्य नहीं है, असलमें सूर्य नाभिके ऊपर रहता है और चन्द्रमा तालुके नीचे (हठ० ३—७८)। तुम कहते हो गोमास-भक्षण महापाप है? वारुणी पीना निषिद्ध है?—भोले हो तुम। यही तो कुलीनका लक्षण है, क्योकि 'गो' जिह्वाका नाम है और उसे तालुमें उलटकर ब्रह्मरध्रकी ओर ले जाना ही 'गोमास-भक्षण' है। तालुके नीचे जो चन्द्र है उससे जो सोमरस नामक अमृत झरा करता है वही अमर वारुणी है। इसका पाना तो बड़े पुण्यका फल है! (हठ० ३—४६, ४८) तुम कहते हो बाल विधवा सम्मान और पूजाकी वस्तु है? सारे समाजको उसके सम्मानकी और रक्षाकी जिम्मेदारी लेना चाहिये?—एकदम उल्टी बात है। क्योंकि गंगा और यमुनाकी मध्यवर्ती पवित्र भूमिमे वास करनेवाली एक तपस्विनी बाल विधवा है, उसका बलात्कार-पूर्वक ग्रहण करना ही तो विष्णुके परमपदको प्राप्त करनेका सही रास्ता है! कारण स्पष्ट है। गंगा इडा है, यमुना पिंगला। इन दोनोंकी मध्यवर्तिनी नाडी सुषुम्नामें कुण्डलिनी नामक बालरण्डाको जबर्दस्ती ऊपर उठा ले जाना ही तो मनुष्यका परम लक्ष्य है[२]। तुम कहते हो कि पंचम-वर्णी अवधूत बनकर मन्त्र-तन्त्र करनेसे सिद्धि मिलेगी—बेतुकी बात है यह। अपनी घरनीको लेकर जब तक केलि नहीं करते तब तक बोधि-प्राप्तिकी आशा बेकार है। इसी तरुणी घरनीके बिना जप-

---

[१] यत् किञ्चित्स्रवते चन्द्राद्मृत दिव्यरूपिण।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्य तेन पिण्डो जरायुत॥—हठ ३—७६

[२] गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णो परम पदम्॥
इडा भगवती गगा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा तु कुण्डली॥—हठ० ३-१०१,२

होम सब व्यर्थ हैं। क्योंकि घरनी तो अरालमें महामुद्रा है। उसके बिना निर्वाण पद कैसे मिल सकता है[1]।

योगियों, सहजानियों और तान्त्रिकोंके ग्रन्थोंसे ऐसी उल्टवांसियोंका संग्रह किया जाय तो एक विराट् पोथा तैयार हो सकता है। परन्तु हमें अधिक संग्रह करनेकी जरूरत नहीं। इस प्रकरणमें जो प्रसंग उत्थापित किया जा रहा है उसीको सुनकर धैर्य सम्हाल रखना आसान काम नहीं है।

सहजयानियोंमें इस प्रकारकी उल्टी बानियोंका नाम 'सन्ध्या भाषा' प्रचलित था। म० म० हरप्रसाद शास्त्रीके मतसे 'सन्ध्या-भाषा'से मतलब ऐसी भाषासे है जिसका कुछ अंश समझमें आये और कुछ अस्पष्ट लगे, पर ज्ञानके दीपकसे जिसका सब स्पष्ट हो जाय। इस व्याख्यामें 'सन्ध्या' शब्दका अर्थ 'गोधूलि' मान लिया गया है और यह भाषा अन्धकार और प्रकाशके बीचकी,—सन्ध्याकी भाँति ही कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट बताई गई है। किन्तु ऐसे बहुतसे विद्वान् हैं जो उक्त भाषाका यह अर्थ स्वीकार नहीं करना चाहते। एक पण्डितने अनुमान भिड़ाया है कि इस शब्दका अर्थ सन्धि देशकी भाषा है। सन्धि देश भी, इस पण्डितके अनुमानके अनुसार, वह प्रदेश है जहाँ विहारकी पूर्वी सीमा और बंगालकी पश्चिमी सीमा मिलती है। यह अनुमान स्पष्ट ही बे बुनियाद है, क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बंगाल और विहारके आधुनिक विभाग सदासे इसी भाँति चले आ रहे हैं। म० म० प० विधुशेखर भट्टाचार्यका मत है कि यह शब्द मूलतः 'सन्धा भाषा' है, 'सन्ध्या भाषा' नहीं। अर्थ अभिसन्धि-सहित या अभिप्राययुक्त भाषा है। आप 'सन्धा' शब्दको संस्कृत 'सन्धाय' (=अभिप्रेत्य) का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं। बौद्ध शास्त्रके किसी किसी वचनने सहजयान और वज्रयानमें यह रूप धारण किया है। असलमें, जैसा कि भट्टाचार्य महाशयने सिद्ध कर दिया है, वेदों और उपनिषदोंमेंसे भी ऐसे उदाहरण खोज निकाले जा सकते हैं जिनमें सन्धा भाषा जैसी भाषाके प्रयोग मिल जाते हैं। परन्तु बौद्ध धर्मकी अन्तिम यात्राके समय यह शब्द और यह शैली

---

१ एक्क न किज्जइ मन्त न तन्त। णिअ घरणी लेइ केलि करन्त॥
णिअ घर घरणी जाव ण मज्जइ। ताव कि पचवण्ण विहरिज्जइ॥
एष जप होमे मण्डल-कम्मे। अनुदिन अच्छसि काहिउ धम्मे।
तो विणु तरुणि निरन्तर नेहे। बोधि कि लब्भइ एण वि देहे।
—कृष्णाचार्यका दोहा, बौद्ध० पृ० १३१ २ और उसकी संस्कृतटीका।

अत्यधिक प्रचलित हो गई थी और साधारण जनतापर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था।

हमने ऊपर जिस योगसिद्धान्तकी चर्चा की है उससे ही स्पष्ट है कि योगियोंके पारिभाषिक शब्दोंमें उल्टी बानीको प्रभावशाली और अद्भुत बना देनेकी शक्ति है। हठयोगप्रदीपिका, शिव-संहिता और घेरण्ड-संहिता आदि ग्रन्थोंमें उपमान-रूपमें निम्नलिखित विषयोंके लिये निम्नलिखित संकेत कहे गये हैं। कबीरदास तथा अन्य परवर्ती सन्तोंकी उलटबाँसियों और योगशास्त्रीय रूपकोंको समझनेमें ये उपमान (या संकेत) कामके सिद्ध हुए हैं। नीचे उनका संग्रह किया जा रहा है।

चित्त—भ्रमर (हठ० ४–८९), अग्नि (४–९७)

मन—मत्त गजेन्द्र (हठ० ४–९०), खग (हठ० ४–९१), पारद (हठ० ४–९५)

{ अन्तःकरण—हरिण (हठ० ४–९८)
{ अन्तरंग (अन्तःकरण) भुजंगम (हठ० ४–९६), हरिण (हठ०–९३)

वायु—सिंह, गज, व्याघ्र (हठ० २–१५)

ब्रह्मनाड़ी—बिल (हठ० २–८८)

नाद—शिकारी (हठ० ४-९२), गंधक (हठ० ४ ९४) काष्ठ (४-९७)

उन्मनी — कल्पलता

इडा—सूर्य-अंग (हठ० ३–१५), वरुणा (शिव० ५–१००), गंगा (हठ० ३-१०२)

पिंगला—चन्द्र-अंग (हठ० ३–११), यमुना (हठ० ३–१०२), असी (शिव० ५–१२३)

सुषुम्ना—शून्य पदवी (शून्य मार्ग), राजपथ, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग (हठ० ३–४), ब्रह्मनाडी (हठ० ३–६८), सरस्वती (शिव० ५–१२३)

कुण्डलिनी—कुटिलांगी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती (हठ० ३–९७) बालरण्डा (३–१०१)

मूलाधारपद्म—(नाभिके ऊपर)—सूर्य (शिव० ५–१०६)

ब्रह्मरन्ध्र (तालुके नीचे)—चन्द्र (शिव० ५–१०३)

चन्द्रका रस—सोम-रस, अमर वारुणी (वही तथा हठ० ३,४६–४८)

ब्रह्मरन्ध्र—त्रिवेणी (शिव० ५–१३२), शून्य, कमल, कूप, गगन इत्यादि[1] ।

परन्तु रूपको और उलटबाँसियोंको समझनेके लिये केवल ऊपर बताये हुए शब्द ही पर्याप्त नहीं हैं। वस्तु-धर्मके साथ जिस किसी भी उपमानका साधर्म्य हो सकता है उसे ही अतिशयोक्ति अलंकारकी शैलीपर उस वस्तुका वाचक मान लिया गया है। उदाहरणार्थ चित्त चञ्चल है, इसलिये हरिण-मच्छ-आदि कई चाञ्चल-धर्मी उपमानोंको चित्तका वाचक मान लिया गया है। इसी तरह संसारमें विषयी लोग डूब जाते हैं इसीलिये वह सागरका समानधर्मी है जिसमे एक बार पड़ जानेवालेको मार्ग नही मिलता। फिर वह गहन वनके समान भी है जहाँ पद पदपर हिंस्र जन्तुओंके समान कुवृत्तियोंका भय है। इस प्रकार संसारके लिये ' सागर ' और ' वन ' पर्यायवाची हो गये हैं।

योगियोंके उक्त शब्दोंके साथ कबीरदासके अपने शब्द भी मिले हुए हैं। ' बिलैया ', ' मूसा ', ' पूत ', ' बाँझ माता ' आदि शब्द योगियोके साहित्यमें नहीं मिलते। कमसे कम मुझे देखनेको नहीं मिले। इन स्थानोंपर उद्देश्य माया और जीवसे होता है। इस प्रकार श्री विचारदासजीने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तकमें इन शब्दोंको संकेतित माना है।

मन—मच्छ, माछ, मीन, जुलाहा, सावज, सियार, रोझ, हस्ती, मतंग, निरजन आदि।

जीवात्मा—पुत्र, पारथ, जुलाहा, दुलहा, सिंह, मूसा, भौंरा, योगी आदि।

माया—माता, नारी, छेरी, गैया, बिलैया।

ससार—सायर, वन, सीकस।

नर-तन—यौवन, दिवस, दिन।

इन्द्रिय—सखी, सहेलरी, इत्यादि। —बिचार० पृ० ४०

---

१ खोज की जाय तो कबीरदासके पदोंमें इन शब्दोंसे मिलते जुलते संकेतित बहुत से शब्द ढूँढे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, विहंगम (क० ग्र० पद ६), मृग (पद ९), बिल (पद ९), गंगा यमुना (पद १४ और १८), बेलि (पृ० २६, साखी ५८, ३–४), सूर्य (पद ६,१८,१७३) चन्द्र (पद ६,१८,१७३) त्रिवेणी (पद ४,१८) इत्यादि भूरिश पाये जा सकते हैं।

श्री विचारदासजीका दावा है कि ये शब्द सम्प्रदायमें स्वीकृत हैं। परन्तु उन्होंने भी यह दावा नही किया कि ये ही सब कुछ हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से शब्द हैं जिनकी चर्चा उन्होंने विस्तार-भयसे नहीं की है। परन्तु यह बात अच्छी तरहसे समझ लेना चाहिए कि अतिशयोक्ति अलकारकी शैलीपर कहे जानेपर भी वे स्वयं अतिशयोक्ति अलकार नहीं हैं। इनमें कुछका तो तत्तत् शास्त्रमें सकेतितार्थ निश्चित ही है अर्थात् वहाँ उपमेयोपमान भावकी कल्पना ही नही की गई। उदाहरणार्थ, जब इडा और पिगलाको गंगा और यमुना कहा गया है तो प्रस्तुत गगा-यमुनामें (उपमानमें), अप्रस्तुत इडा पिगलाके (उपमेयके) अर्थका 'निगिरण-पूर्वक अध्यवसान' नहीं है, जब कि ऐसा होना ही अतिशयोक्ति अलकारका बीज है,—बल्कि वहाँ गगा-शब्दका सकेतितार्थ ही इडा है और पिगला शब्दका सकेतितार्थ ही यमुना है। इस प्रकार जितनी उलट-बाँसियाँ हैं उनमें साधारण तौरसे विपरीत भाव दिखानेपर भी योगशास्त्रीय परिभाषाओंका ही व्यवहार है। परन्तु यही बात रूपकोंके बारेमें ठीक नहीं है ('रूपक' से यहाँ अलकार रूपकका विशिष्ट अर्थ न लेकर सामान्य अर्थ ही लेना चाहिए)। अधिकाश रूपकोंमें प्रस्तुत अर्थका निगिरण सचमुच ही हुआ है जिसका परिणाम यह हुआ है कि टीकाकारोंकी कल्पनाको यथेष्ट स्वाधीनता मिल गई है। एक ही पदमें आये हुए एक ही शब्दको भिन्न भिन्न टीकाकारोंने भिन्न भिन्न अर्थोंमें ग्रहण किया है। इस तरह ऊपर श्री विचारदास द्वारा बताये सकेतोंको साम्प्रदायिक सकेत मान भी लें तो इनके अतिरिक्त बहुतेरे शब्द रह जाते हैं जिनके लिये अलग अलग कल्पनाकी गुंजाइश रह जाती है।

परम्परा निस्सन्देह किसी तत्त्वके समझनेका उत्तम साधन है, पर परम्पराका ऐतिहासिक विकास और भी अधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। सहजयानी सिद्धों, नाथपन्थी योगियों और निर्गुण मतके सन्तोंके सांकेतिक शब्दोंकी तुलना करनेपर हम निस्सन्देह इस परिणामपर पहुँचते हैं कि दूसरी श्रेणीके सकेतितार्थोंमें,—अर्थात् जहाँ प्रस्तुतार्थका अप्रस्तुतार्थ द्वारा निगिरण हो गया होता है वहाँ धर्म ही संकेतका कारण है, धर्मी नहीं। दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो जब ये सिद्ध, योगी और सन्त लोग मनको मच्छ या हरिण कहते हैं तब 'मन' से संकेतित चाञ्चल्य-धर्म होता है, चाञ्चल्यधर्मी हरिण नहीं। वह हरिण किसी

अन्य साधर्म्यवश किसी अन्य वस्तुका द्योतक भी हो सकता है। 'हरिण' या 'मच्छ' शब्दसे साधर्म्यके प्रसगवश कई पदार्थ ग्रहण किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ हरिणका भीतियुक्त स्वभाव कभी कमजोर साधकका भी द्योतक हो सकता है।

अधिक निश्चित उदाहरणके लिये भूसुकपादका यह यह पद लिया जाय—

अपणा मासे हरिणा वैरी। खनह न छाड़अ भूसुकु अहेरी॥
तिण न छुअइ हरिण पिवइ न पाणी। हरिणा हरिणीर निलअ न जाणी।

यहा—हरिण=चित्त
आखेटिक=स्वयं भूसुकपाद (साधक)
हरिणी=ज्ञानमुद्रा

इसमें 'हरिण' 'हरिणी' शब्द जो भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुए है वे दो भिन्न धर्मोंके कारण, यह बात टीकाकारने साफ साफ स्वीकार की है[१]। धर्म भी एक अर्थगत है दूसरा शब्दगत। चित्तको हरिण इसीलिये कहा गया है कि वह चाञ्चल्यधर्मी है और ज्ञान मुद्राको हरिणी इसीलिये कहा गया है कि विषपान और भवग्रह आदिको हरिण करती है और भूसुकपाद अपनेको आखेटिक इसलिये कहते हैं कि उनमें गुरुके वचनरूपी बाणोंसे चित्त-चाञ्चल्यको वेध सकने योग्य आखेटकत्व धर्म विद्यमान् है।

इसी प्रकार कृष्णाचार्यके,

मारिअ शासु ननेद घरे शाली।
माअ मारिअ कान्ह भइल कपाली॥

इस पदमें,

सास = श्वास, ननँद = इन्द्रिय, मा = काया, कपाली = स्वयं कृष्णाचार्य (= साधक)[२]।

---

१ अपणेत्यादि। अतएव स्वय कृतविद्यामात्सर्यदोषेण चाचल्यतया पुन स एव चित्तहरिण सर्वेषा वद्धवैरी। क्षणमपि चित्तहरिण विहाय भूसुकपाद आखेटिक सद्‌गुरु वचन बाणेनेन प्रहरति। विषपान भवग्रहान् हरति खण्डयति। हरिणीति सन्ध्याभाषया राव ज्ञानमुद्रा नेरात्मा।

—चर्या० पृ० १२–१३

२ चर्या० ११–५, पृ० २१–२२

इन शब्दोंमें साधर्म्यकी प्रधानता ही संकेतका कारण समझी गई है। उदाहरणोंकी संख्या और भी बढ़ाई जा सकती है। स्वयं कबीरदासने भी कभी जीवात्माको दूल्हा कहा है और कभी मनको ही इस शब्दसे स्मरण किया गया है। कभी उनके राम भी इस दूल्हापदको सुशोभित करते हैं। अगर सर्वत्र 'दुलहा' में एक ही धर्मका आरोप होता तो ऐसा होना संभव नहीं था।

'निरंजन' शब्दके बारेमें जो साम्प्रदायिक विचार बादमें प्रतिष्ठित हुआ था, उसे देखते हुए निरंजनको मनका वाचक समझ लेना कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है। हम पहले ही देख चुके हैं कि न तो परम्परा ही और न कबीरदासकी पुरानी बानियाँ ही निरंजनको मन (या भगवानके अतिरिक्त और कोई वस्तु) समझनेका समर्थन करती है। कबीरदासने तो स्पष्ट रूपमें 'निरंजन'से निरुपाधि निर्गुण गोविन्दको सम्बोधित किया है,—गोविन्द जिसका कोई रूप नहीं, रेख नहीं, मुद्रा नहीं, माया नहीं, जो मुद्रा भी नहीं, पहाड़ भी नहीं—सबसे विलक्षण, सबके अतीत[1]। कबीरदास संसारको ही अंजन समझते हैं, उत्पत्ति भी, परिवर्तन भी, आवागमन भी, योग भी,—सब कुछ अंजन है, सब कुछ कलुष है। निरंजन या निष्कलुष अकेले राम हैं जो सब घटमें समाये हुए हैं। एक अन्य पदमें तो निरंजनसे मन लगानेका उपदेश देकर उन्होंने मानों साफ घोषणा कर दी है कि निरंजन कोई और है, मन कुछ और[2]। फिर भी यह अस्वीकार नहीं

---

[1] गोब्यंदे, तू निरंजन, तू निरंजन, तू निरंजन राया ॥
तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं, मुद्रा नाहीं माया ॥
समन्द नाहीं, सिखर नाहीं, धरती नाहीं गगना ।
रवि ससि दोउ एकै नाहीं, बहत नाहीं पवना ॥
नाद नाहीं, ब्यंद नाहीं, काल नाहीं काया ।
जबथे जल ब्यंब न होते तब तूंहि राम राया ॥ इत्यादि,
—क० ग्र० पद २१९

[2] अंजन अलप निरंजन सार। यहै चीन्हि नर करहु बिचार ।
अंजन उतपति बरतनि लोई । बिना निरंजन मुक्ति न होई ॥
अंजन आवै अंजन जाइ । निरंजन सब घटि रह्यौ समाइ ।
जोग ध्यान तप सबै बिकार । कहै कबीर मेरे राम अधार ॥
—क० ग्र० पद ३३७

किया जा सकता कि कबीरके उत्साही चेलोंने 'निरंजन' को जिस सीमा तक घसीटा उसके आधारपर सम्प्रदायमें 'निरंजन' का अर्थ मन हो जाना बहुत अन्याय नही है।

इतनी नीरस चर्चाके बाद हम कबीरदासकी बहुतेरी उलटबॉसियो और अधिकाश योगपरक रूपकोंके समझने योग्य अवस्थामें आ गये हैं। जहॉ शास्त्रीय सकेतोंको ग्रहण किया गया है। (अर्थात् गगा, यमुना, सरस्वती, त्रिवेणी, बाराणसी, सूर्य, चन्द्र, सोमरस, वारुणी, मदिरा, गोमास, ब्रह्मपथ, भुजगी, नागिन, बिल, अमृत, श्मशान, बेलि, लता, शून्य, गगन, आदि) वहॉ तो विशेष सुविधा है। हम ऑख मूदकर असली रहस्यको समझ सकते हैं। इस प्रकार, पूतके (जीवके) पहले बॉझ माताका (मायाका) जन्म, बॉबीका (ब्रह्म-नाड़ीका) भुजगको ग्रास कर जाना (क० ग्र० पद, १६२,), किसी विचित्र बेलिका (उन्मनीका) लहलहाना और (विषय-वारिसे) सीचनेपर कुम्हला जाना और आकाश (शून्य-चक्र) में फल देना (क० ग्र० पृ० ८६, साखी ५८ ३), चन्द्र (तालुके नीचे) और सूर्यके (नाभिके ऊपर) खंभोंमें बंक-नालकी (कुडलिनीकी) डोरी बॉधकर झूलती हुई सखियोंकी (इन्द्रियोंकी) क्रीड़ासे दुलहिनका (मनका) आकर्षित होना, नीचेसे ऊपरको बहती हुई गंगा-यमुना, [इड़ा पिंगला—मूलकमल (नाभिकमल) के घाटपर और सगम त्रिवेणीके पास है] और उनमें षट्चक्रकी गगरीका भरा जाना (क० ग्रं० पद १८), धागेके (ध्यानके) टूटनेसे गगनका (शून्य समाधिका) विनिष्ट होना और सबदका गायब हो जाना (क० ग्र० पद ३२), जहॉ सूर्य और चन्द्रका प्रकाश नही जाता वहॉ (अर्थात् सहस्रार चक्रमें) आनन्दरूपका दर्शन पाना, (क० ग्रं० ३१), शून्यमें अनाहत तूर्यका-बजना (क० ग्र० पद ७), डाइनका (मायाका) कुत्तेपर (मनपर) डोरा डालना, पॉच कुटुम्बियोंका (तत्त्वोंका), शब्दका बजना, रोझ, मृग या शशकका (मनका) पारधीको (जीवको) घेर लेना (क० ग्रं० पद ९) आदि बातें अत्यन्त सरल हो जाती है।

---

१ ना हज जाऊ ना तीरथ पूजा। एक पिछाण्यॉ तो क्या दूजा॥
कहै कबीर भरम सब भागा। निरजनसूं मन लागा॥

—क० ग्र० पद ३३८

परन्तु बहुत-सी बाते फिर भी अनुमान सापेक्ष रह जाती है क्योकि उनका सकेत निश्चित नहीं है और कौन सा धर्म उनमे आरोपित करना उचित है, यह सपूर्णतया श्रोतापर निर्भर करता है। बहुत बार केवल सख्यावाचक विशेषण ही अर्थाविगमका कारण होता है। पॉच कुटुम्ब (क० ग्र० पद ९) में 'पॉच' शब्दका आना ही सूचित करता है कि या तो ये पॉच इन्द्रियॉ हैं या पॉच तत्त्व। प्रसगानुसार यह निश्चित करनेमें विशेष कठिनाई नहीं पड़ती कि वे तत्त्व ही हैं। ऊपर जो योगशास्त्रीय सिद्धान्त बताये गये है और और भी आगे चलकर जो भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त कहे जायेंगे उन्हें ध्यानमें रखकर अर्थ करनेवाला कल्पना-शील श्रोता कोई भी सिद्धान्त-सम्मत अर्थ उनमेंसे निकाल सकता है। एक पद बीजकसे उद्धृत किया जा रहा है। यह पद 'कबीर-ग्रन्थावली' में भी थोड़े पाठान्तरके साथ है। प्रधान पाठ भेद यह है कि जहॉ बीजकमें 'सन्तो' सबोधन है, वहॉ 'कबीर ग्रथावली' मे 'अवधूत'। कहना नही होगा कि इस सबोधन-भेदसे अर्थमें बड़ा अन्तर आ जाता है। पहले लक्ष्य कर चुके हैं कि कबीरदास सन्तोंको सबोधन करके अपना मत व्यक्त करते है पर अवधूतको सबोधन करके उसके मतका खण्डन करते हैं। मुझे 'कबीर ग्रथावली' वाला पाठ (क० ग्र० पृ० १४१-१४२) ठीक जँचता है। अप्रासंगिक होनेपर भी यहॉ स्मरण करा दिया जा सकता है कि बीजकका पाठ भी ऑख मूँदकर नहीं ग्रहण करना चाहिये। पद इस प्रकार है :

सन्तो, जागत नींद न कीजै।
काल न खाय, कल्प नहि व्याप, देह जरा नहि छीजै॥
उलटि गंग समुद्रहि सोखै औ' सूर गरास।
नवग्रह मारि रोगिया बैठे जलमे बिब प्रकासे॥
बिनु चरननको दस दिसि धावे, बिन लोचन जग सूझे।
ससा रो उलटि सिहको ग्रास, ई अचरज कोउ बूझै॥
औंधे घड़ा नहीं जल डूबै, सूधेसो घट भरिया।
जेहि कारण नर भिन्न भिन्न, कर गुरुप्रसादते तरिया॥
पैठि गुफामे सब पग देखै, बाहर कछुक न सूझै।
उलटा बान पारिधिहि लागे, सूरा होय सो बूझै॥

गायन कहै, कबहुँ नहि गावै, अनबोला नित गावै ।
नटवर बाजी पेखनी पेखै, अनहद हेतु बढावै ॥
कथनी-बदनी निजुके जोहैं, ई सब अकथ कहानी ।
धरती उलटि आकासहि बेधै, ई पुरुषहिकी बानी ॥
बिना पियाला अमृत अचवै, नदी नीर भरि राखै ।
कहै कबीर सो जुग जुग जीवै, राम-सुधारस चाखै ॥

—बीजक, शब्द[1] २

१　'कबीर ग्रन्थावली' का पाठ इस प्रकार है—

अवधू, जागत नींद न कीजे ।
काल न खाइ कल्प नहीं ब्यापै, देही जुरा न छीजे ।
उलटी गंगा समुद्रहि सोखै ससिहर सूर गरासै ।
नवग्रिह मारि रोगिया बैठे जलमैं ब्यब प्रकासै ।
डाल गह्याँथे मूल न सूझै मूल गह्या फल पाया ।
बाबई उलटि सरपकौं लागी धरणि महारस खाया ।
बैठि गुफामैं सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै ।
उलटै धनकि पारधी मार्यो यहु अचरज कोई बूझै ॥
औंधा घडा न जलमैं डूबै सूधा सूभर भरिया ।
जाकौ यहु जग घिणकरि चालै ता प्रसादि निस्तरिया ।
अम्बर बरसै धरती भीजै यहु जाणै सब कोई ।
धरती बरसै, अम्बर भीजै, बूझै बिरला कोई ॥
गावणहारा कदे न गावै अणबोल्या नित गावै ।
नटवर पेखि पेखना, पेखै अनहद बेन बजावै ।
कहणी रहणी निज तत जाणै यहु सब अकथ कहाणी ।
धरती उलटि अकासहिं ग्रासै यहु पुरुषाकी बाणी ॥
बाझ पियालै अमृत सोख्या नदी नीर भरि राख्या ॥
कहै कबीर ते बिरला जोगी धरणि महारस चाख्या ॥

—क० ग्र० पद १६२

इस पदके सांकेतिक शब्दोंका क्या अभिप्राय है, इस बातको भिन्न भिन्न टीकाकारोंके अर्थपरसे तुलना करना मनोरंजक सिद्ध होगा—

सांकेतिक शब्द	अभिप्राय		
	विश्वनाथ	विचारदास	शास्त्रीय परम्परा
१ उल्टी गंगा	संसारमुखी रागरूपी गंगाका ब्रह्म-मुखी होना	ब्रह्माण्डमें चढ़ाई हुई श्वास	इड़ा
२ समुद्र	संसार	संताप	संसार (भव)
३ शशि	एक जीवात्माको मानना	इड़ा	इड़ा या नाभिके ऊर्ध्वभागका सूर्य
४ सूर्य	नाना निरंजनादि ईश्वरनकों मानिबेकों ज्ञान	पिंगला	पिंगला या तालुके अधोभागका चन्द्र
५ नवग्रह	वैशेषिकके नौ पदार्थ	नवद्वार	
६ जल	राग	ब्रह्माण्ड	×
७ बिंब	शुद्ध साहबका अंश	ब्रह्मज्योति	×
८ रोगिया	ग्रह-ग्रस्त संसारी	योगी	
९ शश	अहंब्रह्म विचार	मन	संसारी
१० सिंह	'तैं' (मूढ)	जीवात्मा	मन
११ औंधा घड़ा	साहबकी ओर पीठ किया हुआ मनुष्य	बहिरंग वृत्ति	जीवात्मा
१२ सूधा घड़ा	साहबकी ओर मुख किया हुआ मनुष्य-शरीर	अंतरंग-वृत्ति	जगत्-मुख शरीर उद्बुद्धकुण्डलीक
१३ गुफा	सुरति (जो जगत्-मुख, ब्रह्म-मुख ईश्वर-मुख और जीवात्मा-मुख है)	गगन-गुफा	शरीर ?
१४ उलटा बाण		श्वास	प्राणवायु

सांकेतिक शब्द	अभिप्राय		
१५ पारधी	पार्थिव परम पुरुष	(वीर) मन	मन
१६ नटवर बाजी	निर्गुण ब्रह्मको देखना नटकी बाजीके समान धोका है	(नटवर बाज) =अनाहत नाद	×
१७ धरती	जड़ माया	पिण्डाण्ड	मूलाधार
१८ आकाश	ब्रह्म	ब्रह्माण्ड	शून्यचक्र
१९ प्याला	स्थूल सूक्ष्मादि पंच शरीर	अन्यान्य साधन	इन्द्रिय ?
२० अमृत	साहबके प्रति प्रेम	निजानंदरूप अमृत	अमरवारुणी
२० नदी	जगत	आत्माकार वृत्ति	नाड़ी ?
२२ नीर	राग		श्वास ?
२३ राम-सुधारस	राम-प्रेम	आनंदामृत	सहजामृत

इनकी तुलना करनेसे स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि टीकाकारोंने काफी स्वाधीन कल्पनासे काम लिया है। ऊपरकी दो टीकाओंमेंसे विचारदासजीकी टीका विश्वनाथसिंहजीकी अपेक्षा परम्पराके अधिक नजदीक है। वस्तुतः जिन शब्दोंका सकेतितार्थ शास्त्रीय परम्परासे समर्थित है उनके ही विषयमें निश्चित रूपसे कहा जा सकता है, बाकी जितने भी संकेत-शब्द हैं उनका तद्गत धर्मके अनुसार ऐसा कोई भी अर्थ किया जा सकता है (और किया भी गया है) जो प्रसगके अनुकूल हो और कबीरदासके सिद्धान्तके विरुद्ध न हो। इसका मतलब यह हुआ कि यदि कबीरदासके सिद्धान्तका ज्ञान करना है तो योग रूपक और उलटबाँसियाँ बहुत कम सहायता कर सकती हैं, क्योंकि वे अपनी व्याख्याके लिये स्वयं सिद्धान्तोंकी अपेक्षा रखती हैं, ऊपरके टीकाकारोंमें श्रीविश्वनाथसिंहजू देव साकेत-वासी रामको ही कबीरका प्रतिपाद्य समझते हैं जब कि श्रीविचारदासजी निर्गुण निराकार ब्रह्मको। दोनों ही विचार कबीरके नहीं हो सकते। फिर भी अपने अपने सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये दोनोंने अपने मनोऽनुकूल अर्थ लगा लिये हैं। इसीलिये यह दृढतापूर्वक कहा जा सकता है कि कबीरदासके सिद्धान्तोंकी

जानकारीके लिये उनकी सीधी-सादी वाणियाँ और पद ही सहायक हो सकते हैं। किसी भी योगपरक रूपक और उलटबाँसीका अर्थ करते समय दो बातोंका ध्यान रखना परम आवश्यक है—(१) शास्त्रीय परम्परा और (२) कबीरदासका व्यक्तिगत मत। पहले विषयकी चर्चा हमने पिछले अध्यायोंमें कर ली है, जो थोड़ा बाकी है उसकी अगले अध्यायमें कर लेंगे। परन्तु दूसरी बातका कहना जरा कठिन है। शास्त्रीय परम्परा, वंशगत प्रभाव और पारिपार्श्विक अवस्थाओंकी छलनीसे छानकर ही हम कबीरदासके व्यक्तित्वका कुछ अनुमान लगा सकेंगे। अगले अध्यायोंमे उस तरफ हमारा प्रयत्न रहेगा।

योगशास्त्रीय मतोका यह जो ऊपर ब्यौरा दिया गया है उसकी सहायतासे ही हम कबीरके योगपरक रूपकों और उलटबाँसियोंका अर्थ समझ सकते हैं। तब प्रश्न हो सकता है कि क्या कबीरदास वही मानते थे जो हठयोगी लोग माना करते थे? ऊपर हमने कई बार कहा है कि कबीरदास योगियोंके द्वारा प्रभावित तो बहुत हैं, पर वे स्वयं वही नही हैं जो योगी हैं। हम यहाँ फिर एक बार कहते हैं कि कबीरदास योगिक क्रियाओंको भी बाह्य आचार ही मानते थे। वे उन सारी क्रियाओको सहजावस्थाकी प्राप्तिका कारण नहीं मानते थे। उनके मतसे उन क्रियाओंके द्वारा प्राप्त शून्य-भाव (या ख-सम भाव) शराबीके नशेकी भाँति अस्थायी है। योग-द्वारा प्राप्त शम-भाव है तो ठीक, पर शाश्वत नही है। शाश्वत है सहज समाधि, सहज भजन। अनहदनाद बजता ठीक है पर वही परम सत्य नहीं है, चरम वह है जो उसे बजाता है। जो तोड़ भी सकता है और जोड़ भी सकता है, जो बना भी सकता है और बिगाड़ भी सकता है। वह षड्-दर्शनका विषय नहीं है और न छयानवे पाखण्डोंकी पहुँचके भीतर है और न जप-तप-पूजा-अर्चाका ही विषय है। शास्त्र लिख लिख कर लोगोंने लोगोको धोखा ही दिया है। कबीरदासका कहना है कि योगी हो या जंगम, सब झूठी आशा ले लेकर ही अपनी साधना कर रहे हैं। जो चरम सत्य और परम तत्त्व है वह भक्तिसे

१ बाजै जन्त्र नाद धुनि हुई। जो बजावै सो औरै कोई॥
बाजी नाचै कौतिग देखा। जो नचावै सो किनहुँ न पेखा॥—
—क० ग्र० पृ० २३०–३१

ही मिल सकता है [१]। कैसा विपरीत है यह तमाशा ! अनहद नादकी दुराशामें फँसकर ये योगी वहाँ चले गये जहाँ शून्य है,—जहाँ कुछ भी नहीं है !—निरालम्ब शून्यमें भटकनेवाले इस जीव (योगी) ने किसी ऐसे लाज बचावन-हारेकी परवा तक न की, उसका हाथ भी छोड़ दिया और खुद बेहाथ हो गया ! संसार सशंकका शिकार है, काल अहेरी सबको मार रहा है। भलेमानसो, रामका सुमरिन करो। कालने चुटिया पकड़ रखी है, कौन जाने कहाँ और कब उसे मारेगा !—

अनहद-अनुभवकी करि आसा।
देखौ यह विपरीति तमासा !
इहै तमासा देखहु (रे) भाई।
जहवाँ सुन्न तहाँ चलि जाई।
सुन्नहि बाँध सुन्नहि गयऊ।
हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ॥
ससय सावज सब ससारा !
काल अहेरी साँझ-सकारा॥
सुमिरन करहू रामका, काल गहे कर केस।
ना जानो कब मारिहै, का घर का परदेस॥

—बीजक० रमैनी १९

* * *

यह अनहदको बजानेवाला, शरणागत-रक्षक काल-अहेरीका नियामक अपरम्पार महिमाशाली राम कौन है ?

१ भाई रे बिरले दोस्त कबीरके, यहु तत बार बार कासौं कहिये॥
भांगण घडण सवारण समथ ज्यूँ राखै त्यूँ रहिये॥
आलम दुनी सबै फिरि खोजी हरि बिन सकल अजाना।
छह दरसन-छ्यानबे पाखण्ड आकुल किनहू न जाना।
जप तप संजम पूजा-अरचा जोतिग जग बौराना।
कागद लिखि लिखि जगत भुलाना मनहि मन समाना॥
कहै कबीर जोगी अरु जंगम ए सब झूठी आसा।
गुरु प्रसाद रटौ चातिग ज्यौं निहचै भगति निवासा॥—क० ग्र० पद ८४

८—ब्रह्म और माया

सभी परम्परायें इस बातका समर्थन करती हैं कि कबीरदासका रामानदके साथ सबध था। कबीरदासने स्वय स्वीकार किया है कि रामानन्दने उन्हें चेताया था पर क्या चेताया था और स्वय क्या चेते हुए थे इस विषयमें नाना मुनियोके नाना मत हैं। प० रामचद्र शुक्लने लिखा है कि "तत्त्वदृष्टिसे रामानुजाचार्यजीके मतावलम्बी होनेपर भी अपनी उपासना इन्होंने अलग की। इन्होने उपासनाके लिये वैकुण्ठनिवासी विष्णुका स्वरूप न लेकर लोकमें लीला-विस्तार करनेवाले उनके अवतार रामका आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम हुए और मूल मत्र रामनाम। कर्मके क्षेत्रमें शास्त्र-मर्यादा इन्हें मान्य थी पर उपासनाके क्षेत्रमें किसी प्रकारका लौकिक प्रतिबंध ये नहीं मानते थे। सब जातिके लोगोको एकत्र कर राम भक्तिका उपदेश ये देने लगे और रामनामकी महिमा सुनाने लगे। इनकी उपासना दास्य-भावकी थी (इन्होंने) ब्रह्म-सूत्रपर आनन्द-भाष्य, श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्य, वैष्णव-मतातर भास्कर, श्रीरामार्चना-पद्धति आदि कई ग्रन्थोंकी रचाना की जिनमेंसे अब बहुतोंका पता नहीं लगता।" (शुक्ल पृ० १२२-४) खेद है कि शुक्लजीने यह नहीं लिखा कि ऊपर बताई हुई पुस्तकोंमें जो लापता है वह कौन कौन हैं और जो बची हैं वे कौन हैं तथा अपना उक्त मत शुक्लजीने किन पुस्तकोंके आधारपर स्थिर किया है। उन्होने श्रीरामानन्ददिग्विजय और वैष्णव-मतान्तर-भास्करसे दो श्लोक अपनी पुस्तकमें उद्धृत किये हैं और इसलिये यह अनुमान किया जा सकता है कि इस मतको शुक्लजीने इन्ही दो पुस्तकोंके आधार-पर स्थापित किया होगा। मुझे ये पुस्तकें देखनेको नहीं मिली हैं। पर कुछ पण्डितोंका दावा है कि रामानन्दजी और चाहे जिस दृष्टिसे रामानुजके मतावलम्बी क्यों न रहे हों तत्त्वदृष्टिसे वे उनके मतावलम्बी नहीं ही थे। कुछ दूसरे पण्डित ठीक इनके बिरुद्ध मतका प्रतिपादन करते हैं, वे तत्त्वदृष्टिसे तो रामानन्दको रामानुजका अनुयायी मानते हैं पर उपासना-पद्धतिमें एकदम अलग। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सारी परम्परायें रामानन्दका रामानुज-सम्प्रदायसे सम्बन्ध बताती हैं पर

साथ ही कुछ ऐसी दलीलें भी उपस्थित की गई हैं जिनसे इस अनुमानकी पुष्टि होती है कि दोनों आचार्योंका सम्बन्ध दूरका ही था। कहा गया है कि रामानंदके प्रवर्तित सम्प्रदायमें राम और सीताको जिस प्रकार एकमात्र परमाराध्य माना जाता है उस प्रकार रामानुजके प्रवर्तित श्रीवैष्णवसम्प्रदायमें नहीं। श्रीवैष्णव लोग सभी अवतारोंकी उपासना करते हैं। फिर रामानन्दी लोगोंमें जो मंत्र प्रचलित है वह भी रामानुज सम्प्रदायके मन्त्रसे भिन्न है। उनका तिलक भी यद्यपि रामानुजी मतके तिलकसे मिलता जुलता है फिर भी हू-ब-हू वही नहीं है, थोड़ा भिन्न है। स्वयं रामानंदजी त्रिदण्डी सन्यासी नहीं थे, यह भी सिद्ध किया गया है। फिर और भी एक विचारणीय बात है। रामानन्दी सम्प्रदायका नाम हू-ब-हू वही नहीं है जो रामानुजीय संप्रदायका। इस प्रकार नीचे लिखी तालिकासे स्पष्ट हो जायगा कि दोनों सम्प्रदायोंमें सभी महत्त्वपूर्ण बातोंमें भेद है।

	रामानुजीय	रामानंदीय
सम्प्रदाय—	श्रीवैष्णव सम्प्रदाय	श्रीसम्प्रदाय
मंत्र	ॐ नमो नारायणाय	ओं रामाय नमः
भाष्य—	श्री-भाष्य	आनन्द भाष्य

फिर भी परम्परासे रामानन्दका सम्बन्ध रामानुजीय सम्प्रदायसे सिद्ध है। इसका समाधान इस प्रकार किया है: अनुमान कर लिया गया है कि तामिल देशमें बहुत पुराने जमानेसे कोई राम-सम्प्रदाय चला आ रहा था जो कभी श्रीवैष्णवोंमें अन्तर्भुक्त हो गया था। रामानन्द उसी सम्प्रदायके आचार्य थे। कहा गया कि ऐसा मान लेनेसे सभी बातोंकी सन्तोषजनक मीमांसा हो जाती है[1]। पहले एक संशय खड़ा करके फिर उसका समाधान करनेका प्रयत्न भारतीय साधना और साहित्यके इतिहासमें यह अकेला नहीं है।

इधर पं० वैष्णवदासजी त्रिवेदी न्यायरत्न वेदान्ततीर्थने 'कल्याण' में एक लेख लिखा है। उसमें रामानंदाचार्यके आनन्द-भाष्यके आधारपर बताया गया है कि आचार्यने (रामानंदने) विशिष्टाद्वैत मतको ही ब्रह्म-सूत्र-सम्मत बताया है। अर्थात तत्त्व-दृष्टीसे वे रामानुजके मतको ही मानते थे। इस प्रकार "रामानन्दा-

१ फर्कुहर पृ० ३२४-६

चार्यने अनन्यभक्तिको ही मोक्षका अव्यवहितोपाय माना है, प्रपत्तिको मोक्षका हेतु माना है, कर्मको भक्तिका अंग माना है, जगत्का अभिन्न निमित्तोपादानकारण ब्रह्मको माना है। जीवोंका परस्पर भेद और नानात्व माना है। तथैव जीवोंका स्वरूपतः अणुत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और नित्यत्व इत्यादि माना है। जीवोंका ब्रह्मसे भेद माना है। विद्योपकारिका वर्णाश्रम व्यवस्थाको स्वीकार किया है। विवर्तवादका बारंबार प्रत्याख्यान किया है। 'नारदपंचरात्र' को बहुधा प्रमाण-रूपसे स्वीकार किया है। 'निर्विशेष-ब्रह्म'का अनेक स्थलोंपर निराश करके 'सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। 'सत्ख्यातिवाद'को स्वीकार किया है और वेदोंका *अपौरुषेयत्व* माना है[2]।' इस मतके लिए *आनन्द भाष्यके उद्धरण* उद्धृत किये गये हैं किन्तु आनन्द-भाष्यकी प्रामाणिकताके बारेमें इधर काफी सन्देह प्रकट किया गया है।

परन्तु एक दूसरी दलील जो फर्कुहरने पेश की है, काफी वजनदार है। कहा जाता है कि रामानन्द ही पहले पहल 'अध्यात्म-रामायण' और 'अगस्त्य-सुतीक्ष्णसंवाद' अपने साथ ले आये थे और इस बातमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि उनके सम्प्रदायमें इन ग्रन्थोंका आज भी बहुत समादर है। प्रसिद्ध राम भक्त गोसाईं तुलसीदासजीके 'रामचरित-मानस' पर अध्यात्म-रामायणका प्रभाव सबको मालूम है। आज भी रामानन्दी वैष्णव इन ग्रन्थोंको सम्प्रदायमान्य ग्रन्थ मानते हैं, और यह आश्चर्यकी बात है कि ये ग्रंथ विशिष्टाद्वैतकी अपेक्षा शांकर-

---

१ 'परिणामवाद' अर्थात् अव्यक्त प्रकृतिसे उत्तरोत्तर विकार या परिणामद्वारा सृष्टिका विकास अपने आप होता है ऐसा सांख्य शास्त्रका मत है। 'आरम्भवाद,' अर्थात् ईश्वरकी इच्छासे परमाणुद्वारा सृष्टि होती है, ऐसा न्याय शास्त्रका मत है। इन दोनोंके विरुद्ध अद्वैत-वेदान्ती 'विवर्तवाद' को मानते हैं।—*अर्थात् जगत ब्रह्मका विवर्त या कल्पित रूप है*, ऐसा मानते हैं। सीपीको यदि कोई भ्रमवश चाँदी समझ ले तो चाँदीको सीपीका विवर्त कहा जाएगा। रामानुजीय मतमें 'परिणामवाद' को माना जाता है। दूधका विकृत रूप दही है, वह अन्य वस्तु तो हो जाता है पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह दूधसे भिन्न ही है। परिणामवाद और विवर्तवादको 'सत्कार्यवाद' या 'सत्ख्यातिवाद' कहते हैं और आरम्भ-वादको 'असत्कार्यवाद'। माध्ववेदान्ती भी नैयायिकोंकी भांति 'असत्कार्यवादी' हैं।

२ हिन्दुत्व पृ० ६८४–६८८

मतकी ओर अधिक झुके हैं (तु० अध्यात्म रामायण १,३२–५१) । म० म० पं० गिरिधर शर्माजीने सप्रमाण सिद्ध किया है कि गोस्वामीजीने रामायणमें अद्वैत-मतको ही मान्य समझा है (तुलसी-ग्रंथावली, नि० ६३–१३०)। इस प्रकार यह अनुमान असंगत नहीं जँचता कि रामानन्दजीके मतमें भक्ति ही सबसे बड़ी चीज थी, तत्त्ववाद नहीं । उनके शिष्योंमें और सम्प्रदायमें अद्वैत-वेदान्तका पूर्ण समादर है, तथापि वे स्वयं विशिष्टाद्वैत-वादके प्रचारक थे। इसी तरह उनके शिष्योंमें केवल एक बातको छोड़कर अन्य बातोंमें काफी स्वतन्त्रताका परिचय पाया जाता है । वह बात है भक्ति—अनन्य भक्ति । उनके कितने ही शिष्य उनकी भाँति वर्णाश्रम-व्यवस्थाको नहीं मानते, जीवोंका ब्रह्मसे भेद नहीं मानते और कितने ही यह तक नहीं मानना चाहते कि दिव्य गुणोंसे भगवान्का सगुणत्व भी सिद्ध होता है और संपूर्ण वेदान्त-शास्त्र सगुण ब्रह्मका ही प्रतिपादक है (१,१–२) । केवल एक ही बात उनके सर्व शिष्योंमें समान भावसे समादृत है : अनन्यभक्ति ही मोक्षका अव्यवहित उपाय है । प्रपत्ति या शरणागति ही मोक्षका परम साधन है ।

ऐसी हालतमें यह प्रश्न बहुत कुछ गौण हो जाता है कि कबीरने जो कुछ रामानन्दसे चेता था वह रामानन्दके चेते हुए ज्ञानका कौन-सा रूप है । रामानन्दके प्रधान उपदेश अनन्य-भक्तिको कबीरने शिरसा स्वीकार कर लिया था । बाकी तत्त्वज्ञानको उन्होंने अपने संस्कारों, रुचि और शिक्षाके अनुसार एकदम नवीन रूप दे दिया था । अब तक हम उनके संस्कारोंकी चर्चा करते आये हैं जिनका प्रभाव उनके पदों और साखियोंमें है और, खूब सम्भव है, जिनका ज्ञान उन्हें रामानन्दजीके सत्संगसे प्राप्त हुआ था । यही ज्ञान कबीरदासको अक्खड़ सिद्धों और योगियोंकी परम्परासे अलग कर देता है । कबीरके विद्यार्थीके लिए इसका बहुत महत्त्व है ।

यह स्मरण रखना चाहिए कि जब हम शंकर, रामानुज और रामानंदके वेदान्त मतकी चर्चा करते हैं तो हमारा मतलब एक पूरे तत्त्ववाद (फिलासॉफिकल सिस्टम) से होता है; किन्तु कबीरकी वाणियाँ वह चीज नहीं है । वेदान्त-मतको पाँच मोटे विभागोंमें बाँट लिया जा सकता है : धर्मविज्ञान (थियॉलॉजी), सृष्टि-तत्त्व (कास्मोलॉजी), अंतःकरणविज्ञान (साइकोलॉजी), मोक्षविज्ञान (लिबरेशन) और जन्मान्तर-व्यवस्था । इनमें प्रथम और अन्तिमके विषयमें तो

कबीरदासने स्पष्ट भाषामें अपना मत व्यक्त किया है पर बाकी तीनके विषयमें उनका मत अनुमान सापेक्ष ही है।

वेदान्तशास्त्रके अनुसार मनुष्यका सबसे बड़ा लक्ष्य या पुरुषार्थ मोक्ष है,—मोक्ष अर्थात् छुटकारा। यह संसार दुःखरूप है और मोक्ष ब्रह्म स्वरूप ही है। अन्य दर्शनोंकी भाँति वेदान्त इसे प्राप्य नहीं मानता। कहा गया है कि मनुष्य जब जान जायगा कि वह क्या है, और उसके आत्माका बड़े आत्मासे,—अर्थात् परमात्मासे क्या सम्बन्ध है तो वह छूट जायगा। क्योंकि वह जो छूट नहीं रहा है, उसका कारण अज्ञान है या फिर गलत ज्ञान है। इसीलिए सही ज्ञान ही छुटकारा है। इस सही ज्ञानको 'विद्या' कहते हैं। इसलिए 'विद्या' का एकमात्र विषय है 'आत्मा' या 'ब्रह्म' का ज्ञान। यही कारण है कि इस विद्याको 'आत्म-विद्या,' 'आत्मविज्ञान,' 'ब्रह्मविद्या' और 'ब्रह्मज्ञान' शब्दसे पुकारते हैं।

यह जो ब्रह्मकी जानकारी है वह दो प्रकारकी होती है। एकको ऊँची जानकारी या 'परा विद्या' कहते हैं और दूसरीको घटिया जानकारी या 'अपरा विद्या'। पहले प्रकारकी जानकारी (परा विद्या) ही ठीक ठीक समझने (सम्यग्दर्शन) में सहायक है, इसका एकमात्र फल मोक्ष है। दूसरी जानकारी (अपरा विद्या) का लक्ष्य ब्रह्मोपासना है। इससे कर्म-समृद्धि होती है, सुख और कल्याण (अभ्युदय) प्राप्त होते हैं और धीरे धीरे मुक्ति भी मिल सकती है (क्रममुक्ति)। पहली विद्याका विषय परब्रह्म है, दूसरीका अपरब्रह्म।

श्रुतियोंके परिशीलनसे स्पष्ट ही जान पड़ता है कि ऋषियोंके मस्तिष्कमें ब्रह्मके दो स्वरूप थे: एक गुण, विशेषण, आकार और उपाधिसे परे,—निर्गुण, निर्विशेष, निराकार और निरुपाधि, और दूसरा इन सब बातोंसे युक्त अर्थात् सगुण सविशेष साकार और सोपाधि। पहला परब्रह्म है और दूसरा अपरब्रह्म। आपात दृष्टिसे ऐसा जान पड़ता है कि यह बात एकदम असंगत है कि एक ही वस्तु एक ही साथ सगुण भी हो और निर्गुण भी, साकार भी हो और निराकार भी, सविशेष भी हो और निर्विशेष भी, सोपाधि भी हो और निरुपाधि भी। इसके उत्तरमें वेदान्ती लोग कहते हैं कि ब्रह्म अपने आपमें तो निर्गुण, निराकार, निर्विशेष और निरुपाधि ही है परन्तु अविद्या या गलतफहमीके कारण, या उपासनाके लिये हम उसमें उपाधियों या सीमाओंका आरोप करते हैं। वस्तुतः सोपाधिक ब्रह्म भ्रम-मात्र है, ठीक उसी तरह तो नहीं जिस तरह सीपीको चाँदी समझना समझनेवालेका

भ्रम मात्र है, असलमे यह आर्यभ्रम है, फिर भी गलतीसे यदि कोई सीपीको चादी समझ ले तो भी सीपी सीपी ही रहेगी, चादी नही हो जायगी। इसी प्रकार निर्गुण और निरुपाधि ब्रह्मको जब हम गलतीसे सगुण और सोपाधि मान लेते हैं तब भी वस्तुत हमीं भ्रममे होते हैं, ब्रह्म तो निर्गुणका निर्गुण और निरुपाधिका निरुपाधि ही बना रहता है। इसीलिये जो 'पर निर्गुण' ब्रह्म है उसे श्रुतियो बार बार इस प्रकार प्रकट करती है, "वह मोटा भी नहीं, पतला भी नहीं, छोटा भी नही, बड़ा भी नहीं, लोहित भी नही, स्नेह भी नहीं, छायायुक्त भी नहीं, अन्धकार भी नही, वायु भी नहीं, आकाश भी नही," इत्यादि (बृहदारण्यक ३।८।८), या "यह भी नहीं, वह भी नहीं,—नेति नेति (वही २ ३ ६)," या "वह शब्द-रहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, व्ययरहित, रसरहित गन्धरहित है (कठ० ३ १५)" इत्यादि। किन्तु ये सभी बात अतद्व्यावृत्ति रूपसे कही गई है अर्थात इस प्रकारके कथनका अर्थ यह है कि 'परब्रह्म' समस्त ज्ञात वस्तुओ, गुणो और विशेषणोसे विलक्षण है। इसका अभावरूप अर्थ नही है। कबीरदासने इस शैलीका आश्रय करके भगवानके विषयमे अनेक पद गाये हैं[1]।

भावरूपसे कहनेके लिये वेदान्ती लोग दो-तीन शब्दोंका व्यवहार करते हैं। सर्वाधिक प्रचलित शब्द हैं सत और चित। इन दो शब्दोसे वेदान्ती बताना चाहते है कि 'ब्रह्म है' (सत) और वह 'चैतन्यस्वरूप' (चित्) है। जिस प्रकार नमकके ढेलेमें बाहरसे भीतरतक सर्वत्र नमकीनी ही नमकीनी है उसी प्रकार ब्रह्म भी शुरूसे आखिरतक केवल चैतन्य ही चैतन्य है। इन दो भाव-रूपोंके अतिरिक्त एक और भावरूप भी परवर्ती वेदान्त-ग्रन्थोंमें महत्त्वपूर्ण स्थान अधिकार कर सका है। वह है आनन्द। अर्थात् ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। किसी

१ तुल०—रामकै नाउ नीसान बाजा। ताका मरम न जानै कोई।
भूख त्रिषा गुण वाकै नाहीं। घट घट अन्तरि सोई॥
बेद विवर्जित भेद विवर्जित विवर्जित पाप रु पुन्य।
ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित विवर्जित अस्थूल सुन्य॥
भेष विवर्जित भीख विवर्जित विवर्जित डचंभक रूप।
कहै कबीर तिहु लोक विवर्जित ऐसा तत्त अनूप॥

—क० ग्र० पद, २१०

किसी पण्डितने कहा है कि शुरुके ग्रन्थोंमे इस बातको इतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया है। शायद इसलिये कि वह दुःखाभावका ही रूप है, क्योंकि श्रुतिमें ही कहा गया है कि व्यावहारिक रूपमें ब्रह्म भिन्न सब कुछ दुःखरूप है (बृह० ३, ४, २,), इसका मतलब यह हुआ कि जो कुछ हम देख रहे हैं, ब्रह्म उससे भिन्न है और जो कुछ हम देख रहे हैं वह दुःखरूप है इसलिये ब्रह्म दुःखाभावरूप है।

लेकिन श्रुतिमें ब्रह्मको और भी दो प्रकारसे कहा गया है : (१) "यह सब कुछ करनेवाला है, सब कामनाओंसे भरा पूरा है, सब रसोंका आश्रय है, सभी गन्धमय है" इत्यादि (छान्दोग्य ३–१४), फिर, अग्नि उसका सिर है, सूर्य चन्द्र आँखे हैं, दिशाएं कान हैं" (मुण्डक० २-१-४) इत्यादि। इन वाक्योंमें स्पष्ट ही ब्रह्ममें सीमाओंका और गुणोंका आरोप किया गया है। यह इसलिये कि यहाँ लक्ष्य ज्ञान नहीं, उपासना है। ब्रह्मका इस प्रकार सोपाधिक सविशेषक और सगुणरूप विचार करनेवालेका उद्देश्य ज्ञान नहीं होता, उपासना हुआ करती है। ऐसा करनेसे मोक्ष या निःश्रेयसकी सिद्धि नहीं होती, अभ्युदय या कल्याणकी प्राप्ति होती है। इससे स्वर्ग मिलता है अपवर्ग नहीं। परन्तु जो साधक उत्तम ज्ञानके अधिकारी नहीं हैं वे इस मार्गसे चलकर भी धीरे-धीरे मुक्ति पा लेते हैं। (२) कभी कभी ब्रह्मको श्रुतिमें 'छोटेसे छोटा,' 'अंगुष्ठ मात्र पुरुष,' 'हृदय-कमल-वासी' और 'वामन' आदि भी कहा गया है। ऐसे स्थलोंपर अभिप्राय जीवात्मासे होता है।

यह जो गुणमय अपरब्रह्म है उसीपरसे वेदान्त-शास्त्रका ईश्वरसम्बन्धी विचार विकसित हुआ है। इस गुणमय ईश्वरसे ही संसारका कारबार चलता है। यही जीवको उसके कर्मोंके शुभाशुभ फलका दाता है। मायावादी वेदान्ती कहते हैं कि मायोपाधिक चैतन्य ही परमेश्वर है। इसे और मायाको ठीक ठीक समझनेके लिये थोड़ा और भी अवान्तर प्रसंग उठाना पड़ेगा।

साधारणतः समस्त भारतीय मनीषियोंने इस गुणमय जगतपर विचार करके यह निष्कर्ष निकाला है कि इसमें दो अत्यन्त स्पष्ट तत्त्व हैं : एक शाश्वत है, दूसरा परिवर्तनशील, एक सदा एक-रस है, दूसरा नाशमान्, एक चेतन है, दूसरा जड़। मतभेद तब शुरू होता है जब उनके सम्बन्धोंपर विचार किया जाता है। एक तरहके पण्डित हैं जो इन दोनों तत्त्वोंको स्वतन्त्र मानते हैं,—इन दोनोंका

१ उपासक०, पृ० ४१७

संबंध केवल योग्यताका संबंध है, परन्तु दूसरे आचार्य हैं जो मानते हैं कि वस्तुतः इन दोनोंकी सत्ता नहीं है, दूसरा पहलेकी ही शक्ति है। पहलेको आत्मा कहते हैं, सांख्यवादी उसे 'पुरुष' कहते हैं और दूसरे तत्त्वको 'प्रकृति' या 'माया' कहते हैं। गीतामें भगवानने प्रकृतिको अपने ही अधीन बताया है और कहा है कि मेरे द्वारा नियोजित होकर ही प्रकृति इस सचराचर सृष्टिको प्रसव करती है (गीता—९, १०)। वेद-बाह्य बौद्धादि सम्प्रदायके लोग यह मानते हैं कि यह चेतन सत्ता साधनाके द्वारा जब प्रकृतिके बन्धनोंसे मुक्त होती है तो उसी प्रकार लुप्त हो जाती है जिस प्रकार दीपककी लौ, परंतु इस बातमें वे भी विश्वास करते हैं कि शरीर और इंद्रियादिकी अपेक्षा वह वस्तु अधिक स्थायी है। वह सैकड़ों जन्म ग्रहण करनेके बाद सैकड़ों शरीरों और इंद्रियोंसे युक्त हो लेनेके बाद 'निर्वाण' की अवस्थाको अर्थात् बुझ जानेकी अवस्थाको प्राप्त होती है।

सांख्यशास्त्रियोंके मतसे पुरुष अनेक हैं और प्रकृति उन्हें अपने मायाजालमें बाँधती है। पुरुष विशुद्ध चेतन स्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस स्वरूपका ज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक वह प्रकृतिके जालमें फँसा रहता है। यह दृश्यमान जगत वस्तुतः प्रकृतिका ही विकास है। प्रकृति सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम है। सारे दृश्यमान जगत्को सांख्यवादी प्रधानतः चार भागोंमें बाँटते हैं : (१) प्रकृति, (२) प्रकृति विकृति, (३) विकृति, (४) न-प्रकृति-न-विकृति। चौथा 'पुरुष' है जो न प्रकृति ही है और न उसका विकार ही (सांख्य-कारिका-३)। बाकी तीनमें 'प्रकृति' तो अनादि ही है। प्रकृतिसे 'महान्' या 'बुद्धि तत्त्व' उत्पन्न होता है, उससे 'अहंकार' और उससे पाँच 'तन्मात्र' (अर्थात् शब्द-तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप-तन्मात्र, रस-तन्मात्र, गंध-तन्मात्र) उत्पन्न हुए हैं। एक तरफ तो 'महान्' या बुद्धितत्त्व मूल प्रकृतिका विकार है और दूसरी तरफ अहंकारकी प्रकृति भी है। इसी प्रकार अहंकार और पंच तन्मात्र भी एक तरह तो क्रमशः 'महान्' और अहंकारके विकार हैं और दूसरी तरफ क्रमशः पंच-तन्मात्र और पंचमहाभूतादिकोंकी प्रकृति भी है। यही कारण है कि सांख्यशास्त्री इन्हें प्रकृति-विकृति कहते हैं। इस तरह महान्, अहंकार और पंचतन्मात्र ये सात तत्त्व प्रकृति-विकृति हुए। इनसे पाँच ज्ञानेंद्रिय (कान, त्वचा, आँख, रसना, नाक) और पाँच कर्मेंद्रियाँ (हाथ-पाँव, जीभ, पायु, उपस्थ) हैं। इन दस इंद्रियों, मन और पाँच महाभूतों

अर्थात पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) को विकृति कहते हैं। इन्हीं पच्चीस तत्त्वोंसे सारी सृष्टि बनी है। किंतु वेदांती लोग प्रकृति और उसके विकार स्वरूप २३ पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। उनका मत है कि वस्तुतः एक परब्रह्म ही वास्तविक सत्ता है। हम अज्ञानवश इन नाम-रूपात्मक जगतको वास्तविक समझने लगते हैं।

जो हो, इस विषयमें भारतीय दार्शनिकोंमें प्रायः कोई मतभेद नहीं कि आत्मा नामक एक स्थायी वस्तु है जो बाहरी दृश्यमान जगत्‌के विविध परिवर्तनोंके भीतरसे गुजरता हुआ सदा एक रस रहता है। ये सभी पंडित स्वीकार करते हैं कि जब तक ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक यह आत्मा जन्म-कर्मके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह है कि यदि यह पुरुष या आत्मा उदासीन है, या दुःख सुखसे परे है, और चित्स्वरूप है, तो जन्म और कर्मके बन्धनमें पड़ता कैसे है और मृत्युके बाद एक जन्मका कर्म-फल दूसरे जन्ममें ढोकर ले क्यों कर जाता है? जो निर्गुण है, उसे आधार बनाकर पाप और पुण्यके फल कैसे दूसरे जन्ममें पहुँच जाते हैं? क्योंकि यह तो सभी मानते हैं कि कर्म-फल जड़ हैं, अतः उनमें इच्छा नहीं होती, इसलिए यह तो साफ प्रकट है कि वे इच्छा-पूर्वक आत्माका पीछा नहीं कर सकते, फिर यह कैसे सम्भव है कि इस जन्मका कर्मफल दूसरे जन्ममें मिलता ही हो? सीधा जवाब यह है कि ईश्वर इस व्यवस्थाको इस ढंगसे चला रहा है, परंतु यह उत्तर युक्तिवादी दार्शनिकोंको पसन्द नहीं है। वे उसका और कोई कारण बताते हैं। देखा जाय, यह बात कैसे सम्भव होती है?

इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए शास्त्रकारोंने लिंग-शरीरकी बात बताई है। यह तो निश्चित है कि आत्मा एक शरीरसे दूसरेमें संक्रमित होता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रको छोड़कर नया धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीरको परित्याग कर नवीन शरीर धारण करता है (गीता २-२२)। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद्‌में बताया गया है कि जोंक जिस प्रकार एक तृणसे दूसरेपर जाते समय पहले अपने शरीरका अगला हिस्सा रखती है और फिर बाकी हिस्सेको खींच लेती है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीरको छोड़कर नये शरीरमें प्रवेश करता है (बृहदारण्यकोपनिषद् ४, ४३)। इससे केवल इतना ही जाना जा सकता है कि आत्मा स्वयं ही दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है, पर उदाहरणसे सिद्धान्त निकालना ठीक नहीं, क्यों कि उदाहरण

केवल क्रियाके एक अंशके लिए ही प्रयुक्त होता है। उपनिषदोंमें बार बार कहा गया है कि आत्माके साथ सूक्ष्म या लिंग शरीर भी जाता है। बृहदारण्यकमें बताया गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, प्राण, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, अतितेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सब कुछ लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, वैसा ही फल पाता है (बृहदारण्यक ४, ४, ५)। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्माके साथ ही साथ समस्त धर्माधर्म तथा तन्मात्रगण बँधे होते हैं। सांख्यकारिकामें (सांख्य कारिका ४०) करीब करीब इन सभी बातोंको एक शब्दमें 'लिंग-शरीर' कहा गया है। बताया है कि प्रकृतिके विकारस्वरूप तेईस तत्त्वोंमें अंतिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं, बाकी अट्ठारहों तत्त्व मृत्युके समय पुरुषके साथ ही साथ निकल जाते हैं। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना मरता है, तब तक ये तत्त्व उसके साथ साथ लगे होते हैं। अब, यह तो स्पष्ट ही है कि इन अट्ठारह तत्त्वोंमेंसे प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन और दसों इन्द्रिय तो प्रकृतिके गुण-मात्र हैं, उनकी स्थितिके लिए किसी ठोस आधारकी जरूरत है। वे बिना आधार रह ही नहीं सकते। वस्तुतः पंचतन्मात्रोंको मृत्युके समय आत्माका अनुसरण करते जो बताया गया है, वह इसीलिए कि वे तन्मात्र उक्त तरह तत्त्वोंको वहन करनेका सामर्थ्य रखते हैं,—ये अपेक्षाकृत ठोस हैं। जब तक मनुष्य जीता होता है, तब तक तो उसका स्थूल शरीर इन गुणोंका आश्रय होता है, पर जब वह मर जाता है तब पंचतन्मात्र ही इन गुणोंके वाहक होते हैं (सांख्यकारिका ४१)। उपनिषदोंमें इसी बातको और ढंगसे कहा गया है। इनके अनुसार प्रकृति या माया कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, केवल ब्रह्म या आत्माका ही नामरूपात्मक स्वरूप है। बदलनेवाली वस्तु नाम और रूप है और स्थिर शाश्वत वस्तु आत्मा है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हार, अँगूठी, कंकण आदिमें बदलनेवाली वस्तु नाम और रूप है, पर स्थिर वस्तु सोना है। नाम-रूपका आवरण सर्वत्र एक-सा ही नहीं है। कहीं वह गाढा है, कहीं पतला। इसके भी नाना स्तर हैं। जड़ है, चेतन है, फिर चेतनकी भी लाखों योनियाँ हैं। इन सब योनियोंमें मनुष्य योनि श्रेष्ठ है। आत्माके दो आवरण हैं। पहला आवरण तो शुक्र-शोणित-निर्मित शरीर है। इसीको उपनिषदोंमें अन्नमय-कोष कहा गया है। दूसरा आवरण अधिक सूक्ष्म

है। उसमें क्रमशः प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं (तैत्तिरीय उपनिषद् २, १, ५, ३, २, ६)। इसका अर्थ यह है कि स्थूल शरीरकी अपेक्षा प्राण सूक्ष्म है, उनकी अपेक्षा मन, उनकी अपेक्षा बुद्धि और इन सबकी अपेक्षा सूक्ष्म आत्मा है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि इन्द्रियगण पर (सूक्ष्म) हैं, पर इनसे भी सूक्ष्म मन है और उससे भी सूक्ष्म बुद्धि है और इस बुद्धिसे भी सूक्ष्म जो कुछ है, वही वह (आत्मा) है (गीता ३, ४२)। स्थूल अन्नमय कोषको छोड़कर बाकी जो सब कोष हैं, उन्हें, इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्रोंको वेदान्ती लोग सूक्ष्म या लिंग-शरीर कहा करते हैं[1]। जब मृत्युके बाद स्थूल देहसे आत्माका विच्छेद हो जाता है, तब भी लिंग-शरीरसे उसका छुटकारा नहीं होता। गीतामें कहा गया है कि आत्मा उसी प्रकार प्रकृतिस्थ मन और पाँच ज्ञानेद्रियोंको खींचकर अपने साथ ले जाता है, जिस प्रकार वायु पुष्पादि आश्रयसे गन्धको (गीता १५, ७-८)। इस प्रकार शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है कि मृत्युके बाद आत्माके साथ ही साथ एक लिंग-शरीर जाता है, जो समस्त कर्मफलात्मक संस्कारोंको साथ ले जाता है। इस लिंग शरीरमें जिन अठ्ठारह तत्त्वोंका समावेश है, उनमें बुद्धि तत्त्व ही प्रधान है। वेदान्ती लोग जिसे 'कर्म' कहते हैं, उसीको सांख्यवादी बुद्धिका 'व्यापार', 'धर्म' या 'विकार' कहते हैं। इसीको सांख्यकारिकामें 'भाव' कहा गया है। जिस प्रकार फूलमें गंध और कपड़ेमें रंग लगा रहता है, उसी प्रकार यह 'भाव' लिंग-शरीरमें लगा रहता है (सांख्य कारिका ४०)।

यह कह सकना कठिन है कि यह जगत् कब उत्पन्न हुआ था अर्थात् इस

---

[1] वेदान्तमें कई प्रकारसे यह बात बताई गई है। कहीं इसके ये सत्रह अवयव बताए गये हैं पाँच ज्ञानेन्द्रिया, पाच कर्मेन्द्रियाँ, बुद्धि, मन और पाच प्राण (वेदान्त सार १३)। फिर आठ पुरियाका उल्लेख है। यह पुर्यष्टक ही लिंग शरीर बताया गया है। आठ पुरिया ये हैं १ पाँच ज्ञानेन्द्रिय, २ पाच कर्मेन्द्रिय, ३ मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, ४ पाँच प्राण, ५ पाँच भूत-सूक्ष्म या तन्मात्र, ६ अविद्या ७ काम, ८ कर्म (सुरेश्वराचार्यका पंचीकरण वार्तिक ३२-३७)। इसका और अन्य विधानोंका सामंजस्य रामतीर्थलिखित वेदान्तसार (१३) की विद्वन्मनोरंजनी टीकामें देखना चाहिए।

नाम-रूपात्मक जड़-जगत्की स्थिति करते है। यह अनादि है, इसलिए यह कर्म-प्रवाह भी अनादि है। बृहदारण्यक उपनिषद्में नाम और रूपके साथ कर्मकी भी गणना है (बृहदारण्यक १, ६-१)। वेदान्ती लोग यद्यपि इसे सांख्यवादियोंकी भांति स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानते, तथापि कर्म-प्रवाह तो अनादि मानते ही है। आत्माको जब अपनी और प्रकृति या मायाकी वास्तविक सत्ताका ज्ञान हो जाता है, तभी वह कर्म बन्धसे मुक्त हो जाता है। भगवान्ने गीतामें कहा है कि ज्ञानकी अग्नि समस्त कर्मोंको भस्मसात कर देती है और ज्ञानसे बढ़कर कोई वस्तु पवित्र नहीं है (गीता ४-३७-३८)। उपनिषदोंमें ब्रह्मको सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप और आनद स्वरूप कहा गया है (तैत्तिरीय २, १' बृहदारण्यक ३-९-२८) ऐसा माननेके कारण समूचा हिंदू-साहित्य ज्ञानको एक विशेष दृष्टिकोणसे देखता है। वह यह नहीं मानता कि ज्ञानकी प्राप्तिमें मनुष्य नित्य अग्रसर होता जा रहा है, उसकी दृष्टिमे चरम ज्ञान अपने आपमें ही है। यद्यपि ज्ञान अनत है, पर उसका अपना वास्तविक रूप भी वैसा ही है। इसलिए चरम और अनत ज्ञानको पाना असभव तो है ही नही, उसके साध्यके भीतर ही है। हिन्दू-साहित्यमे इसीलिए नित्य नवीन ज्ञानके अनुसधानके प्रति एक प्रकारकी उदासीनताका भाव है। वह उस विद्याको विद्या ही नहीं मानता जो मुक्तिका कारण न हो[1], जो मनुष्यको कर्म बन्धनसे छुटकारा न दिला दे। इस बातने भी सारे हिन्दू साहित्यको प्रभावित किया है।

शास्त्रकारोंने कर्मको समझनेके लिए कई प्रकारके भेद किए ह। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि कायिक, वाचिक और मानसिक ये तीन प्रकारके कर्म है और उनकी गति भी उत्तम, मध्यम और अधम भेदसे तीन प्रकारकी होती है। (मनु १२-३)। शातातपने सैकड़ों प्रकारके पापों, उनके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले रोगोंका उल्लेख किया है और उनके प्रायश्चित्तका भी विधान किया है। पुराणोंमें कर्मविपाकके विषयमें बहुत कुछ कहा गया है। गरुड़ पुराणमें विस्तृत रूपसे अनेक कर्म और तज्जन्य प्राप्य फलोंका उल्लेख है। शास्त्रोंमें साधारणत तीन प्रकारके कर्म बताए गए हैं: सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण। मनुष्यने जो कुछ कर्म किया है, उसे 'सञ्चित कर्म' कहते ह। जिस पुराने कर्मके फलको वह भोग रहा

१ सा विद्या या विमुक्तये।

है उसे 'प्रारब्ध कर्म' कहते है। जो कुछ वह नये सिरेसे करने जा रहा है, उसे 'क्रियमाण कर्म' कहते है। ज्ञान होनेपर संचित कर्म तो नष्ट हो जाते है, पर प्रारब्ध कर्मको भोगना ही पड़ता है। ज्ञानकी अग्निसे संचित कर्म जलकर दग्ध बीजकी तरह निष्फल हो जाते हैं और ज्ञानी प्रारब्ध कर्मोके संस्कारवश उसी प्रकार शरीर धारण किए रहता है, जैसे कुम्हारका चलाया हुआ चक्र दण्ड उठा लेनेपर भी वेगवश कुछ देर चलता रहता है (साख्य कारिका—६७)। इन बातोमें स्वर्ग और नरकके विचार भी सम्मिलित हैं। कर्मबन्धके दार्शनिक रूपके साथ स्वर्ग नरकके पौराणिक विचारोंका सामंजस्य भी किया गया है। साधारणतः पुण्य कर्मसे आत्माका कुछ दिनतक स्वर्गमें रहना और फिर पुण्य क्षीण होनेपर मर्त्य लोकमे आ जाना (गीता—९, २०-२१) और इसी तरह पाप भोगके लिए कुछ दिन नरकमें जाना और भोग लेनेके बाद फिर मर्त्यलोकमें आ जानेकी बात भी कही गई है। साख्यकारिकामे बताया गया है (सा० का०—४१) कि धर्म (पुण्य) के द्वारा ऊर्ध्वगमन, अधर्म (पाप) के द्वारा अधोगमन होता है। ज्ञानसे मोक्ष और अज्ञानसे बंधन होता है। महाभारतमें एक और विचित्र बात बताई गई है (स्वर्गारोहण पर्व—३,१४) कि जो आदमी अधिक पुण्यशाली होता है, वह पहले अपने स्वल्प पापोंको भोगनेके लिए नरकमें जाता है, और फिर स्वर्गमें और जो आदमी अधिक पापी होता है वह इसी प्रकार अपने स्वल्प पुण्योंको भोगनेके लिये पहले स्वर्गमें जाता है और फिर नरकमे। कुछ विद्वानोंका विचार है कि स्वर्ग-नरक विचार और मोक्ष-विचार ये दोनो दो जातिके भारतीय मनीषियोंकी चिन्ताके परिचायक हैं। पहले विचार वैदिक ऋषियोंके है और दूसरे वेद बाह्य आर्येतर मुनियोंके। उपनिषद्कालमें ये दोनों विचार मिलना शुरु हुए और काव्य-कालमे पूर्ण रूपसे मिलकर एक जटिल परलोक व्यवस्थामें परिणत हो गये।

यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही माया है। पर जो माया चैतन्यस्वरूप ब्रह्मको ईश्वर रूपमे प्रकट करती है वह सत्त्व-गुण प्रधान है अर्थात् उसमें रजोगुण और तमोगुणका प्रायः अभाव है। कुछ वेदान्ती आचार्य प्रकृतिको दो प्रकारकी मानते हैं विशुद्ध सत्त्वप्रधान और अविशुद्ध सत्त्वप्रधान। पहलीको 'माया' कहते है, दूसरीको 'अविद्या'। पहली ईश्वरकी उपाधि है दूसरी जीवकी (पचदशी १, १५-१६), इसीलिये कहा जा सकता है कि माया ही संसारको चला रही है, क्योंकि मायोपाधिक चैतन्य ही ईश्वर है। इसी भावको लक्ष्य करके कबीर-

दासने कहा था कि यह रघुनाथकी माया ही है जो शिकार खेलने निकली है और साम्प्रदायिक जालोंमें फँसाकर मुनि, पीर, जैन, जोगी, जगम, ब्राह्मण और सन्यासीको मार रही है[1]। स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि कबीरदासका यहाँ 'रघुनाथ' से तात्पर्य वेदान्तियोंके परब्रह्मसे है। परन्तु कबीरदासके पदोंसे जान पड़ता है कि उन्होंने 'माया' को 'अविद्या' से अलग करके नहीं देखा। वेदान्त-ग्रन्थोंमें माया और अविद्याकी एकात्मताके पोषक वाक्य बहुतसे मिल सकते हैं। सो, माया ही कबीरदासके मतसे जीवोंको भरमा रही है। वही उन्हें भी भुलवाने पहुँची थी। कबीरने होशियारीसे जवाब दिया था कि 'माया बहन, तू यहाँसे चली जा, कबीर फँसनेवाला जीव नहीं है। तुझे तो पाट-पटंबर चाहिये और बेचारा कबीर कमीनी जातिका जुलाहा है।' माया सहज ही छोड़नेकी नहीं। उसने जवाब दिया, 'भाई, मैं तो अपना काम करती ही जाऊँगी। अपने साहबको मुझे लेखा तो देना ही पड़ेगा।' कबीर बोले, 'माया रानी, पत्थर नहीं भींग सकता। कबीर नहीं डिगेगा। जिस मच्छकी तू मच्छी है वह मेरा रखवाला है। जरा भी तेरी ओर नजर डालूँ तो वह नाराज हो जाय। तू और जगह जाँ।'[2]

और भी आगे बढ़कर कबीरपंथमें एक और अध्याय जोड़ा गया था। निरंजन-विषयक विचार हम देख चुके हैं। माया इसी निरंजनकी शक्ति है। ब्रह्माण्डमें जो माया है, पिण्डमें वही कुण्डलिनी है। कुण्डलिनीका ही नाम माया

---

१ तू माया रघुनाथकी खेलण चली अहेडै।
चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे कोई न छोड्या नेडै।
मुनिवर पीर दिगम्बर मारे जतन करता जोगी।
जगल महिके जगम मारे तूं र फिरै बलवन्ती
वेद पढ़ंता ब्राह्मण मारा सेवा करता स्वामी।
अरथ करता मिसर पछाड्या तूं र फिरै मैमन्ती॥
साषितकै तूं हरता करता हरिभगतनकै चेरी॥
दास कबीर रामकै सरनै ज्यूं लागी त्यूं तोरी॥

— क० ग्र० पद १८०

२ क० ग्र० पद २७०

है, आद्याशक्ति है, नागिन है, ठगिनिया है और और भी कई नाम है। इसी नागिनका फुफकार प्रणव है। इसी तरह ब्रह्माण्डमे जो वस्तु निरजन है वही पिण्डमे मन है। इसीको 'नाग' कहते है। इसी 'नाग' और 'नागिन' ने मिलकर यह सारा प्रपञ्च खड़ा किया है। इसी नागिनकी जहरीली फुफ्कार जो प्रणव है उसकी उपासनामे दुनिया भटक रही है। इन्हे जो मार सकता है वही विजयी होता है (कबीर-मन्सूर पृ० ६२५)।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह कबीर पथका नया अध्याय है, क्योंकि, कबीरदासके पदोंमे ओकार या प्रणवकी महिमा खूब गाई गई है। ज्ञानचोंतीसाके आरम्भमे ही जो यह बताया गया[1] है कि ॐकारका जप तो सभी करते हैं पर उसका मर्म विरला ही कोई जानता है, उसका सीधा साधा अर्थ यही है कि लोग बिना समझे बूझे, ऊपरी मनसे या दिखावेके लिए इसका जाप करते हैं। पर इस पदके साम्प्रदायिक व्याख्याकार 'मर्म' शब्दका दूसरा ही अर्थ कर लेते है। 'मर्म' का वास्तविक अर्थ महिमा नही बल्कि वास्तविक 'जहरीलापन' है! टीकाकार क्या नहीं कर सकते?

कबीरदासने मायाके सबधमे जो कुछ कहा है वह वस्तुत वेदान्तद्वारा निर्धारित अर्थमे ही। खूब सभव है कि कबीरदासने भक्ति-सिद्धान्तके साथ ही मायासबधी उपदेश भी रामानदाचार्यसे ही पाया था, इसीलिये वे बराबर भक्तको माया-जालसे अतीत समझते हैं। यहाँ इतना और कह रखा जाय कि कबीरदासके 'निर्गुण ब्रह्म' मे 'गुण' का अर्थ सत्त्व रज आदि गुण हैं, इसलिये 'निर्गुण ब्रह्म' का अर्थ वे निराकार निस्सीम आदि समझते है, निर्विषय नही।

ऊपरकी चर्चापरसे यदि किसी नतीजे तक पहुँचा जा सकता है तो वह यही है कि (१) आचार्य रामानन्दने अपने शिष्योंको किसी वेदातिक वादका बधन नहीं लगाया था। वे स्वय यद्यपि विशिष्टाद्वैतवादी थे पर अद्वैतवादी भक्तिग्रन्थोको बडे सम्मानकी दृष्टिसे देखते थे। उनके लिये भक्ति ही बड़ी चीज थी, फिर चाहे वह निर्गुणकी हो या सगुणकी, द्वैत भावसे हो या अद्वैत-भावसे। (२) उनकी

१ वो ॐ कार आदि जो जाने। लिखिके मेटै ताहि सो माने ॥
वो ॐ कार कहै सब कोई। जिन्हि यह लखा सो बिरला होई ॥
—बीजक-ज्ञानचौंतीसा १

उपदिष्ट भक्ति भिन्न भिन्न रुचि, विद्या और संस्कारवाले शिष्योंमें नाना रूपमें प्रकट हुई और (३) कबीरदासके पदोंसे, जैसा कि हम आगे देखेंगे, एकेश्वरवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद, द्वैताद्वैतविलक्षणवाद आदि कई परस्परविरोधी मतोंके समर्थन हो सकते हैं, पर इस विरोधका कारण कबीरदासके विचारोंकी अस्थिरता नहीं है बल्कि यह है कि वे भगवान्‌को अनुभवैकगम्य और निखिलातीत तथा समस्त ऐश्वर्यों और विभूतियोंका आधार समझते थे। इसीलिये लौकिक दृष्टिसे जो बातें परस्पर विरोधी दीखती हैं अलौकिक भगवत्स्वरूपमें वे सब घट जाती हैं। यह बात भक्तिकी दुनियामें नई नहीं है। भक्त लोग एक ही साथ भगवान्‌के लिये कई परस्पर विरोधी विशेषणोंका व्यवहार करते हैं। लघुभागवतामृत (पृ० ३१७) में बताया गया है कि प्राकृत विशेषणोंसे भगवान्‌के अचिन्त्य रूपका बोध दुष्कर है। यही कारण है कि उनमें ऐसे अनेक विशेषणोंका प्रयोग किया जाता है जो लौकिक दृष्टिसे परस्परविरोधी जान पड़ते हैं। इस अन्तिम बातकी विवेचना करनेका अवसर हम आगेके अध्यायमें भी पायेंगे।

९—निर्गुण राम

कई बार कबीरदासके अलोचकोंने आश्चर्य प्रकट किया है कि उन्होंने निर्गुण रामकी उपासना कैसे बताई। वेदान्त-ग्रन्थोंमें ब्रह्मज्ञानके कई प्रकारके अधिकारी बताये गये हैं। उत्तम अधिकारी ब्रह्मके चैतन्यमय स्वरूपकी उपलब्धि करके जीते ही जीते मुक्त हो जा जाता है, अर्थात् ज्ञान प्राप्त होनेके बाद यद्यपि उसका शरीर कुछ दिनों तक आहार, निद्रा-आदि विकारोंका वशवर्ती रहता है पर वस्तुतः उसका आत्मा छुटकारा पा गया होता है। जिस प्रकार कुम्हारका चक्का डडके घूर्णण वेगके हटा लेनेपर भी पुराने वेगके कारण कुछ और देर तक घूमता है उसी प्रकार जीवन्मुक्तका शरीर कुछ और काल तक चलता रहता है, पर असलमें उसका आत्मा मुक्त हो गया होता है। "जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्था-रूप जो माया है वही त्रैलोक्यका कारण है। जो कुछ दिख रहा है वह सभी इस मायाके कारण। किन्तु, परब्रह्मके दर्शनके बाद मायाकी मरीचिका जाती रहती है और जगत् असत्य भासने लगता है। सकल वस्तु स्वरूप वह परब्रह्म नाम रूप और क्रियासे रहित है। किन्तु जो इस जगत्की मायाके बलसे सृष्टि करता है वह ईश्वर है। यही ईश्वर सब कुछमें प्रविष्ट हो रहा है।" (आत्मज्ञान ४-५) उत्तम अधिकारी इस तत्त्वको शम-दम-नियम सयमादिके अभ्यासके द्वारा आयत्त कर लेता है (पंच० ९-२०) परन्तु बुद्धिकी अत्यन्त मन्दताके कारण या साधनोंके अभाववश जो व्यक्ति उत्तम अधिकारी नही हो सकता वह क्या करे? क्या वह सगुणकी ही उपासना करे और 'पर निर्गुण ब्रह्म' की आशा छोड़ दे? पंचदशीमें विद्यारण्यस्वामीने उत्तरमें कहा है कि नही, वह निर्गुण तत्त्वकी उपासना करे। यदि कहो कि जो वाणी और मनके गोचर है ही नही उसकी उपासना कैसे हो सकती है, तो उल्टे तुम्हींसे प्रश्न किया जा सकता है कि जो वस्तु वाणी और मनके परे है, अर्थात् जिस तक न तो वाणी पहुँच पाती है और न मन, उसका अनुभव भी तो सभव नहीं है, उसका जान लेना भी तो संभव नही दिखता। फिर यदि यह सभव है तो उपासना क्यों

सम्भव नहीं है ? ? विद्यारण्यस्वामीके कथनमें ही कबीरके आलोचकोंका उत्तर पाया जा सकता है, क्योंकि उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट भाषामें कहा है कि निर्गुण ब्रह्मतत्त्वकी उपासना असम्भव नहीं है (९, ५५)।

कुछ साम्प्रदायिक पण्डितोंकी ओरसे इस प्रकारके 'रहस्योद्घाटन' का दावा किया गया है कि सन्त मतके प्रवर्तक आदि गुरु कबीरसाहबके विचार हैं कि जो *मन्दाधिकारी सत्त्वशुद्धिके अभावसे आत्म-विचार नहीं कर सकता वह निर्गुण* ब्रह्मोपासना भी नहीं कर सकता, क्योंकि महावाक्यजन्य परोक्ष ज्ञानसे होनेवाली ब्रह्मोपासना मनकी कल्पना है। इस कारण उससे हृदयके विकार अहंकारादिककी निवृत्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत महा अहंकारकी उत्पत्ति होती है जो कि वासना-वाले मन्दाधिकारियोंको हानि पहुँचा सकती है। जो हृदय वासना पंकिल है उसमें ब्रह्मदेवकी प्रतिष्ठा किस प्रकार हो सकती है ? अतः विकारोंको दूर करनेके लिये भी विषयानित्यता और परिणाम-विरसता (अर्थात् विषय अनित्य है और परिणाममें विरस हैं) इत्यादिक विचार ही उपयुक्त हैं। कामनादिक विकार-वाले पुरुष पूर्वोक्त विचारके बिना ब्रह्मोपासनासे आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकते अतः विकार निवृत्तिके लिये विचार करनेकी अनुमति सद्गुरुने इस प्रकार दी है—

करु विचार जिहि सब दुख जाई। परिहरि झूठाकेर सगाई ॥

और

भव अति गरुआ दुख करि भारी। करु जिय जतन जो देखु बिचारी ॥

तथा

खरा-खोट जिन्ह नहि परखाया। चहत लाभ तिन्ह मूल गँवाया ॥
इत्यादि।

अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसम्भवात् ।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥
निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसम्भवः ।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसम्भवात् ॥
अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा ।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च सम्भवेत् ॥
वागाद्यगोचराकारमित्येव यदि वेत्त्यसौ ।
वागाद्यगोचराकारमित्युपासीत नो कुतः ॥—पं०९, ५४-५७

वस्तुत. यम-नियमादि अनुष्ठानपूर्वक किये जानेवाले संसारानित्यादि विचारसे सत्त्व शुद्धि हो जानेपर ब्रह्मोपासनाकी आवश्यकता नही रहती[१]।

इस प्रसगमें विद्यारण्य स्वामीके इस मतपर शका प्रकट की गई है कि—

यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमान स्वस्य जायते।
तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत्। पच० ९-७८

इस देशमे विद्यारण्य स्वामीके भक्तों और समर्थकोंकी कमी नही है। वे विद्वान् और समर्थ भी हैं। निश्चय ही वे इस शकाका जवाब दे लेंगे। हम यहाँ उस उलझनमे पडनेकी कोई जरूरत नही है। पर कबीरदासके नामपर प्रचलित पदों और साखियोंका सीधासाधा अर्थ करनेपर हम इस नतीजेपर पहुँचते हैं कि निस्सदेह कबीरदासने आत्म-विचारको बहुमान दिया है पर जो लोग उसके अधिकारी नही है उनके लिए 'निर्गुण राम' के जपनेका उपदेश भी दिया है। निर्गुण रामके जपका अर्थ वही है जो महावाक्योके चिन्तनका अर्थ है। नाम-जपका महावाक्य-चिन्तनसे इतना अन्तर जरूर है कि नाम-जप करनेवाला जहाँ विचारसे बिल्कुल शून्य रह सकता है वहाँ महावाक्योंका मनन करनेवाला किसी न किसी कोटिके विचारमें लगा ही रहेगा। महावाक्योंके स्मरणसे अपनेमे ब्रह्मत्वाभिमान होनेका मतलब ही यह है कि अपनेको ब्रह्म समझते रहनेका अभ्यास करना। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि कबीरदास 'भाई' सबोधनके द्वारा साधारण संसारिक जीवोंको सबोधन करते हैं और उसे अपना व्यक्तिगत उपदेश देते हैं—हे भाई, निर्गुण रामका जप करो। अविगतिकी गति लखना सहज नहीं है (तुलनीय०—अवाङ्मानसगम्यस्य वेदनं न च सभवेत्—पच०

१ विचार० पृ० २१—२३

२ उपनिषदोंमें 'मैं ही ब्रह्म हूँ' (बृह० ४१०), 'वह तू ही है' (छान्दोग्य ६ ७ ८) आदि महावाक्योंसे ब्रह्मके साथ जीवकी अभिन्नता बताई गई। यह अभिन्नता जाननेकी चीज है। ज्ञानसे ही वह प्राप्त होती है। पर जो व्यक्ति इस ज्ञानको प्राप्त नही कर सका है उसके लिये यह विधान किया गया है कि वह तबतक इन महावाक्योंका मनन करता हुआ अपनेको ब्रह्मसे अभिन्न समझनेका प्रयत्न करता रहे जब तक कि उसे अपनेमें ब्रह्मत्वका अभिमान (=मानना) न हो जाय। उक्त उद्धरणमें इसी विचारका विरोध किया गया है।

९-५६) वेद और पुराण, स्मृति और व्याकरण, शेष, गरुड़ और कमला भी जिसे नहीं जान सके (उसे जाननेकी चेष्टा करना साहसका कार्य है) सो, कबीरदासकी सलाह है कि हरिकी छाया पकड़ो—उन्हींकी शरणमें जाओ[1]। अरे ओ पगले, भूला भूला क्यों फिर रहा है ? कामनाओंका त्याग कर, हरिका नाम जप, वही अभय पदका दाता है,—कबीरा कोरीकी यह बात गाँठ बाँध ले[2]। इस रामके साथ विषयोंका कुछ अग्नि-तृणका-सा संबंध है। यह कहना कि पहले वासनायें हट जायें तभी राम आयेंगे, नहीं तो 'वासना-पंकिल हृदयमें ब्रह्मदेवकी प्रतिष्ठा' संभव नहीं है, विषयोंको रामसे जबर्दस्त समझनेके समान है। कमसे कम कबीरदास वासनाको रामकी अपेक्षा जबर्दस्त माननेको तैयार नहीं थे। एक बार उनके राम,—उनके निर्गुण ब्रह्म जिसके हृदयमें आ जाते हैं वह अनायास ही मति बुद्धि पा जाता है। लालच और विषयरसमें आपादमस्तक डूबे हुए व्यक्तियोंसे वे ललकारते हुए कहते हैं कि भाई, तरे वही जिन्होंने राम-रसका आस्वादन किया। बकवादी तो डूब मरे क्योंकि उन्होंने रामको कभी याद ही नहीं किया[3]। ए मेरे मन, तू अविनाशी हरिका भजन कर। उन्हें छोड़कर और कहीं न जा। अगर तू विषयरूप दीपके पास फिर रहा है तो निश्चय मान कि तू पतिंगा होकर जल जायगा। जिस प्रकार भ्रमरीके ध्यानमें मगन कीट खुद भी

---

१ निर्गुण राम जपहु रे भाइ, अविगतिकी गति लखी न जाई।
चारि वेद जाके सुमृत पुरानां। नौ व्याकरना मरम न जानां।
सेस-नाग जाके गरुड़ समाना। चरन कंवल कंवला नहिं जाना॥
कहै कबीर जाके भेदै नाहीं। निज जन बैठे हरिकी छाहीं॥
क० ग्र० पद ४९

२ परिहरि काम रांम कहि बौरे सुनि सिख बन्धू मोरी।
हरिकौ नाव अभैपददाता कहै कबीरा कोरी॥
क० ग्र० पद ३४६

३ रसना राम गुन रमि रस पीजै। गुन अतीत निरमोलिक लीजै॥
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाइ। जा सुमिरत सुधि बुधि मति पाई॥
विष तजि राम न जपसि अभागे। का बूडे लालचके लागे॥
ते सब तिरे रामरसस्वादी। कहै कबीर बूडे बकवादी॥
—क० ग्र० पद ३७५

भ्रमरी बन जाता है उसी प्रकार तू राम नाममें ऐसी लौ लगा कि स्वयं राम-मय हो जा (तुल०–पंचदशी ९।७८)। देख भाई, यह संसार बड़ा गुरु गंभीर है, इस संसार सागरमें चारों ओर विकारकी लहरें तरंगायित हो रही हैं, तुझे आर-पार कुछ भी नहीं सूझता। अरे ओ मेरे मनसाराम, इच्छाके इस अपार भवसागरके लिये एकमात्र नैया राम है। बाबा, उसीकी शरण जा, फिर देख यह महान् संसार-समुद्र बछड़ेके खुरके समान छोटा हो जाता है कि नहीं।[1]

रामके इस परम प्रसाद और अनुग्रहकी याद दिलानेवाले पदमें क्या यही कहा गया है कि वासना पंकिल हृदयवाला मंदाधिकारी,—जिसे विशाल भवसमुद्रमें आरपार कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा, जो चारों ओर तरंगायित विषय-वीचिको देखकर हतबुद्धि हो रहा है, निर्गुण उपासनाका पात्र नहीं है? बल्कि उल्टे इस पदमें क्या यह नहीं बताया गया कि अज्ञानपूर्वक ध्यान करनेमे भी आदमी परम पद पा लेता है? आखिर कीट-भ्रमरीका प्रसिद्ध उदाहरण इसी बातको बतानेके लिये ही तो प्रयुक्त होता है। फिर यह क्या आश्चर्यका विषय नहीं है कि इस पदको उपासनाके प्रत्याख्यानमें प्रमाणस्वरूप पेश किया गया है? कबीरदासने राम नामकी अपरपार महिमा वर्णनके प्रसंगमें द्विधारहित भाषामें कहा है कि गणिका और अजामिल जैसे अज्ञानी पापी भी पार हो गये।[2]

परन्तु यह राम या हरि कौन है? पर ब्रह्म, अपर ब्रह्म, ईश्वर या और कुछ?

---

१ अब कहु राम नाम अविनासी। हरि तजि जियरा कतहु न जासी॥
उहा जाहु तहा होहु पतंगा। अब जनि जरहु समुझि विष संगा॥
राम नाम लौ लाय सुलीन्हा। भ्रिंगी कीट समुझि मन दीन्हा॥
भव अति गरुआ दुख कहि भारी। करि जिय जतन जु देखु विचारी।
मनकी बात है लहरि बिकारा। तुहि नहिं सूझै वार न पारा॥
साखी—इच्छाके भव-सागरै, बोहित राम अधार।
कहै कबीर हरि सरन गहु, गोबछ खुर बिस्तार॥
बीजक, रमैनी २०

२ अजामेल गज-गनिका पतित करम कीन्हा।
तेऊ उतरि पार गये राम नाम लीन्हा॥
—क० ग्र० पद ३२०

इसमे तो कोई सन्देह नही कि हरि, गोविद, राम, केशव, माधव आदि पौराणिक नामोंको कबीरदास क्वचित् कदाचित् ही सगुण अवतारके अर्थमे व्यवहार करते हैं। एकदम नहीं करते, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर जब वे अपने परम उपास्यको इन नामोंसे पुकारते हैं तो सगुण अवतारोंसे उनका मतलब नहीं होता। उनका 'अलाह' अलख निरंजन देव है जो सेवासे परे है, उनका 'विष्णु' वह है जो ससाररूपमें विस्तृत है, उनका 'कृष्ण' वह है जिसने ससारका निर्माण किया है, उनका 'गोविद' वह है जिसने ब्रह्माण्डको धारण किया है, उनका 'राम' वह है जो सनातन तत्त्व है, उनका 'खुदा' वह है जो दस दरवाजोंको खोल देता है, 'रब' वह है जो चौरासी लाख योनियोंका परवरदिगार है, 'करीम' वह है जो इतना सब कर रहा है, 'गोरख' वह है जो ज्ञानसे गम्य है, 'महादेव' वह है जो मनकी जानता है, 'सिद्ध' वह है जो इस चराचर दृश्यमान जगत्का साधक है, 'नाथ' वह है जो त्रिभुवनका एकमात्र यति या योगी है—जगत्के जितने साधक हैं, सिद्ध हैं, पैगवर है, वे इस एककी ही पूजा करते हैं। अनन्त हैं इसके नाम, अपरंपार उसका स्वरूप। वही कबीरदासका भगवान् है (क० ग्र० पद ३२७)। वह राम निरंजन है, उसका रूप नहीं, रेखा नहीं, वह समुद्र भी नहीं, पर्वत भी नही, धरती भी नही, आकाश भी नही, सूर्य भी नहीं, चन्द्र भी नहीं, पानी भी नहीं, पवन भी नहीं, समस्त दृश्यमान पदार्थोंसे विलक्षण सबसे न्यारा (क० ग्रं० पद २१९) वह समस्त वेदोसे अतीत, भेदोंसे अतीत, पाप और पुण्यसे परे, ज्ञान और ध्यानका अविषय, स्थूल और सूक्ष्मसे विवर्जित, भेख और भीखके अगम्य, डिभ और रूपसे अतीत—अनुपम त्रैलोक्यविलक्षण परम तत्त्व है (क० ग्र० पद २२०)।

जैसा कि शुरूमें ही कहा गया है, कबीरदास उत्तम अधिकारीके लिए इस 'अवाङ्-मानस-गोचर' परब्रह्मकी उपासनाको बहुत महत्त्व नहीं देते। परन्तु वे इस बातमे खूब सावधान हैं। वे बार बार याद दिला देते हैं कि यह जो उपासना बताई जा रही है वह सगुण अवतारकी नहीं है वरन् 'निर्गुण राम' की है। इस प्रसगमें कुछ वृद्ध पडितोंके विचारोंकी जानकारी आवश्यक है। उनके विचारोंका साराश यह है कि "निर्गुण और सगुणके विषयमें जो विचारपरम्परा पुराणवादियों और वेदान्तवादियोंकी देखी जाती है पद पदपर वे (कबीरदास) उसीका अनुसरण करते दृष्टिगत होते हैं। कोई पुराण ऐसा नहीं है जिसमें

परमात्माका वर्णन इसी रूपमें न किया गया हो। पुराणोंका सगुणवाद जैसा प्रबल है वैसा ही निर्गुणवाद भी। वे भी वेदान्तके भावोंसे प्रभावित हैं और नाना पुराणोंमें उनका बड़ा ही हृदयग्राही विवेचन है। परन्तु, वे जानते हैं कि निर्गुणवादके तत्त्वोंको समझाना कतिपय तत्त्वज्ञोंका ही काम है, इसलिये, उनमें सगुणवादका ही विस्तार है, क्योंकि वह बोध-सुलभ है। बिना उपासना किये उपासक सिद्धि नहीं पाता। उपासना सोपानपर चढ़कर ही साधक उस प्रभुके सामीप्य लाभका अधिकारी बनता है जो ज्ञान गिरा-गोतीत है। उपासनाके लिये उपास्यकी प्रयोजनीयता अविदित नहीं। यदि उपास्य अचिन्तनीय अव्यक्त है अथवा ज्ञानका विषय नहीं तो उसमें भावोंका आरोप नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थामें भक्ति किसकी होगी? प्रेम किससे किया जायगा? और किनके गुणोंका मनन-चिन्तन करके मनुष्य अपनी आत्माको उन्नत बना सकेगा? इन्हीं बातोंपर दृष्टि रखकर परमात्माके सगुण रूपकी कल्पना है। जो यह समझता है कि बिना सगुणोपासना किये हम परमात्माके निर्गुण-स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर लेंगे वह उसी जिज्ञासुके समान है जो विश्व-नियन्ताका तो परिचय प्राप्त करना चाहता है, किन्तु, यही नहीं जानता कि विश्व क्या है। पुराण सगुण-पथका पथिक बनाकर निर्गुणकी प्राप्ति कराते हैं किन्तु बड़ी बुद्धिमत्ता और विवेकके साथ। यही कारण है कि मुखसे निर्गुणवादका गीत गानेवाले भी अन्तमें पुराण शैलीकी परिधिके अन्तर्गत हो जाते हैं। चाहे कबीर साहब हों अथवा पन्द्रहवीं सदीके दूसरे निर्गुणवादी, उन सबके मार्गदर्शक गुप्त रूपसे पुराण ही हैं।[1]"

विचारणीय यह है: कबीरदासके उन पदोंका जिनमें उन्होंने बारबार "दशरथसुत तिहुँ लोक बखाना। राम नामकर मरम है आना।"—जैसी बातें कहकर पुराणप्रतिपादित सगुण ब्रह्मका प्रत्याख्यान करना चाहा है। क्या ऐसा अर्थ भी लगाया जा सकता है कि मुँहसे विरोध करते रहनेपर भी कबीरदास असलमें पुराण-विरोधी नहीं थे? तुलसीदासजीने ऐसा नहीं समझा था। रामचरित् मानसमें '*दशरथ-सुत*' वाली उक्ति उद्धृत करके ही उन्होंने उसका सीधी भाषामें प्रत्याख्यान किया है। उनके मतसे इस प्रकार कथन करनेवाले वेद और पुराण प्रतिपादित सद्धर्मके जाननेवाले नहीं थे। बालकाण्डमें पार्वतीने शिवसे पूछा—

1 हि० भा० सा० नि० पृ० १९९—२००

राम सो **अवध नृपति सुत** सोई। की अज अगुण अलख गति कोई ॥

जो **नृप तनय** तो ब्रह्म किमि, नारिविरह मति भोरि।

देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि ॥ १०८ ॥

इसके उत्तरमें गोस्वामी तुलसीदासजीने शिवजीके मुखसे जो उत्तर दिलवाया है वह ध्यानसे सुनने लायक है

एक बात नहि मोहि सुहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी ॥

तुम्ह जो कहा **राम कोउ आना**। जेहि श्रुति गाव धरहि मुनि ध्याना ॥

कहहि-सुनहि अस अधम नर, ग्रसे जे मोह-पिसाच।

पाषंडी हरिपद-बिमुख, जानहि झूठ न साँच ॥ ११४ ॥

अग्य अकोबिद अंध अभागी। काई-विषय मुकुर-मन लागी ॥

लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहु संत-सभा नहिं देखी ॥

कहहि ते वेद-असम्मत बानी। जिन्हके सूझ लाभु नहि हानी ॥

मुकुर मलिन अरु नयनबिहीना। रामरूप देखहि किमि दीना ॥

जिन्हके अगुन न सगुन-बिबेका। जल्पहि कल्पित बचन अनेका ॥

हरिमाया बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहि कहत कछु अघटित नाहीं ॥

बातुल भूत-बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहि बचन बिचारे।

जिन्ह कृत महामोह-मद पाना। तिन्ह कर कहा करिअ नहि काना ॥

अस निज हृदय बिचारि, तजि संसय भजु रामपद।

सुनु गिरिराजकुमारि, भ्रमतम-रबिकर बचन मम ॥ ११५ ॥

* * *

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहि तह मोहनिसा लवलेसा।

सहज प्रकास रूप भगवाना। नहि तहं पुनि बिग्यान बिहाना ॥

हरख-बिषाद ग्यान-अग्याना। जीव-धर्म अहमिति-अभिमाना ॥

राम ब्रह्म-व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना।

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास-निधि, प्रगट परावरनाथ।

* * *

रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ ॥

एहि बिधि जग हरि-आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥

जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई ॥

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ॥
आदि-अन्त कोउ जासु न पावा । मति-अनुमानि निगम अस गावा ॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥
आननरहित सकल-रस-भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा ॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहि बरनी ॥
जेहि इमि गावहि बेद बुध, जाहि धरहि मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथ-सुत भगतहित, कोसलपति भगवान ॥ ११८ ॥

इस उद्धरणके मोटे टाइपके शब्दोपर ध्यान देकर देखा जाय तो कोई सन्देह नहीं रह जाता कि तुलसीदासके मनमे 'दशरथसुत तिहुँ लोक-बखाना, राम-नाम कर मरम है आना' वाली कबीर-पथियोंकी उक्ति ही थी । बार बार 'दशरथ-सुत 'नृपसुत' 'नृप तनय', 'कोउ आना', आदि पद अचानक नहीं आ गये हैं, जान बूझकर और सोच समझकर ले आये गये हैं । इससे यह तो निश्चित है कि तुलसी-दासजी इस मतको श्रुतिसम्मत या पुराणमार्गी नहीं मानते थे । इतना ही नही वे इसे अज्ञानजन्य पाखण्ड ही समझते रहे । यह दूसरी बात है कि उनका समझना ठीक था या नहीं, प्रकृत प्रसग यह है कि गोस्वामीजीने द्विधाहीन और सकोचहीन भाषामें इस प्रकारके विचारको वेद-पुराण-बाह्य माना है ।

इस प्रकार कबीरदासके मतको वेद-पुराण-सम्मत न तो गोस्वामीजी जैसे विरोधियोने माना है और न उनके पक्के अनुयायी शिष्योंने । एकके मतसे यह प्रबल पाखण्ड था और दूसरेके मतसे स्वय वेद पुराण ही पाखण्ड थे । इन उभय कोटियोंमें और चाहे जो भी असमानता हो, इस बातमें कोई सन्देह नही कि दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि वेद पुराणमें वही नहीं है जो कबीरदासने कहा है । फिर जो लोग कबीरदासको एकदम उपनिषद्का सोलह आना अनुयायी समझते हैं और घोषणा करते हैं कि "यद्यपि कबीरदासने मुक्तिका साक्षात् साधन निर्विशेष आत्म-तत्त्वज्ञानको ही माना है तथापि परम्परा-मुक्तिके साधन सात्त्विक पूजा तथा अवतारोपासना, योग-जप-तप-सयम तीर्थ व्रतदानादिकोंकी व्यर्थता उन्होंने कहीं नहीं लिखी, किन्तु धर्मध्वजी पाखंडियोंके द्वारा की हुई उनकी दुरुपयोगिताका ही खण्डन किया है," वे लोग क्या कहना चाहते हैं, वे ही जानें।

कबीरदासने तो जोरदार भाषामें और साफ साफ आचार-मात्रका प्रत्याख्यान किया है, फिर चाहे वह परम्परासमर्थित हो या व्यक्ति विशेषके उर्वर मस्तिष्कसे उद्भावित।

कबीरदासके राम पुराण प्रतिपादित अवतार नहीं थे, यह निश्चित है। वे न तो दशरथके घर उतरे थे और न लंकाके राजाके नाश करनेवाले हुए, न तो देवकीकी कोखसे पैदा हुए थे और न यशोदाने उन्हें गोद खेलाया था न तो वे ग्वालोंके संग घूमा करते थे और न उन्होंने गोवर्धन पर्वतको धारण ही किया था, न तो उन्होंने वामन होकर बलिको छला था और न वेदोद्धारके लिये वराहरूप धारण करके धरतीको अपने दाँतोंपर उठाया ही था, न वे गण्डकके शालिग्राम हैं, न वराह, मत्स्य, कच्छप आदि वेषधारी विष्णुके अवतार, न तो वे नरनारायणके रूपमें बदरिकाश्रममें ध्यान लगाने बैठे थे और न परशुराम होकर क्षत्रियोंका वध करने गये थे, और न तो उन्होंने द्वारिकामें शरीर छोड़ा था और न वे जगन्नाथ-धाममें बुद्धरूपमें ही अवतरित हुए। कबीरदासने बहुत विचार करके कहा है कि ये सब ऊपरी व्यवहार हैं। जो संसारमें व्याप्त हो रहा है वह राम इनकी अपेक्षा कहीं अधिक अगम अपार है[1]। उसको दूर खोजनेकी जरूरत नहीं, वह सारे शरीरमें भरपूर हो रहा है, लोहू झूठ है, चाम झूठ है, सत्य है वह राम जो इस

---

१ ता साहिबके लागौं साथा। दुइ दुख मेटि जो रह्यो अनाथा।
नां दशरथघरि औतरि आवा। ना लंकाका राव सतावा।
देवै कूख न औतरि आवा। ना जसवै ले गोद खेलावा।
ना वो ग्वालनके सग फिरिया। गोवरधन ले ना कर धरिया।
बावन होय नहीं बलि छलिया। धरनी वेद लैन ऊधरिया।
गंडक सालिगराम न कोला। मच्छ कच्छ ह्वै जलहि न डोला।
बद्री बैठा ध्यान नहि लावा। परसराम ह्वै खत्री न सतावा।
द्वारमती सरीर ना छाडा। जगन्नाथ ले प्यंड न गाडा।
कहै कबीर विचार करि, ये ऊले व्यवहार।
याहीथें जे अगम है, सो वरति रह्या ससार।

—क० ग्र० पृ० २४०-३

सारे शरीरमें रम रहा है [1]।

यह कहना कि "कबीरदास कभी तो अद्वैतवादकी ओर झुकते दिखाई देते है और कभी एकेश्वरवादकी ओर, कभी वे पौराणिक सगुण भावसे भगवान्‌को पुकारते हैं और कभी निर्गुण भावसे, असलमें उनका कोई स्थिर तात्त्विक सिद्धान्त नही था," केवल अश्रद्धाप्रसूत है। ऐसी बाते वही लोग कहते हैं जो शुरूमें ही मान बैठते हैं कि कबीरदास एक अशिक्षित जुलाहे थे और उलटी-सीधी अटपटी बानियोंसे साधारण जनतापर 'प्रभाव जमाना चाहते थे!' ऐसे कथनोंका उत्तर देना बेकार है। बिना श्रद्धा-भक्ति लिये जिस किसी भक्तके कथनोंको क्यों न पढा जाय इस प्रकारके निष्कर्ष निकाल लिये जा सकते हैं। वस्तुत कबीरदासका एकेश्वरवाद उस प्रकारका था ही नहीं जैसा मुसलमानी धर्ममें स्वीकृत बताया जाता है। इस मतके अनुसार ईश्वर समस्त जगत् और जीवोंसे भिन्न और परम समर्थ है। कबीरदासने स्पष्ट शब्दोंमें लोगोंको सावधान किया है कि वह ब्रह्म व्यापक है, सबमें एकभावसे व्याप्त है, पडित हो या योगी, राजा हो या प्रजा, वैद्य हो या रोगी, वह सबमें आप रम रहा है और उसमें सब रम रहे हैं। यह जो नाना भातिका प्रपच दिखाई दे रहा है, अनेक घट और अनेक भाण्ड दिख रहे हैं, सब कुछ उसीका रूप है [2]। सारा खलक ही खालिक है और खालिक ही खलक है [3]।

---

[1] कहै कबीर विचारि करि, जिनि कोई खोज दूरि।
ध्यान धरा मन सुद्ध करि, राम रह्या भरपूरि॥
कहै कबीर विचार करि, झूठा लोही चाम।
जो या देही रहित है, सो है रमिता राम॥—क ग्र पृष्ठ २४३

[2] जबथै आतम तत्त विचारा।
तब निरबैर भया सबहिन थै काम क्रोध गहि डारा।
व्यापक ब्रह्म सबनिमै एकै, को पडित को जोगी।
राणा राव कवनसू कहिये कवन बैद को रोगी।
इनमै आप आप सबहिनमै आप आपसू खेलै।
नाना भाति घडे सब भॉडे रूप धरे धरि मेलै।
सोचि बिचारि सब जग देख्या, निरगुण कोइ न बतावै।
कहै कबीर गुणी अरु पडित मिलि लीला जस गावै।—क ग्र पद, १८६

[3] लोका जानि न भूलो भाई।
खालिक खलक खलकमे खालिक, सब घट रह्यौ समाई॥—वही पद, ५

मैं और तू, तू और मैं, सब कुछ वे ही है। वह आप ही आप सब घटोंमे रम रहा है (पद २०३)।

(वस्तुत जब कबीरदास निर्गुण भगवान्‌का स्मरण करते हैं तो उनका उद्देश्य यह होता है कि भगवानके गुणमय शरीरकी जो कल्पना की गई है वह रूप उन्हें मान्य नहीं है। परन्तु 'निर्गुण'से वे केवल एक निषेधात्मक भाव ग्रहण करते हों सो बात भी नहीं है। वस्तुत वे भगवान्‌को सत्त्व, रज और तमोगुणोंसे अतीत मानते हैं और इसी गुणातीत रूपको निर्गुण शब्दसे प्रकट करते हैं।)" हे सन्तो, मैं धोखेकी बात किससे कहूं। गुणहीमें निर्गुण है और निर्गुणमें गुण: इस सीधे रास्तेको छोड़कर कहां बहता फिरा जाय? लोग उसे अजर कहते हैं, अमर कहते हैं पर असल बात कोई कहता ही नही। वस्तुतः वह अलख है, अगम्य है। निषेधात्मक विशेषण केवल धोखे हैं। यह तो ठीक है कि उसका कोई स्वरूप नहीं है, कोई वर्ण नहीं है पर यह और भी अधिक ठीक है कि वह सब घटमे समाया हुआ है (और इसीलिये सभी रूप उसके रूप हैं और सभी वर्ण उसके वर्ण हैं, फिर उसे अरूप या अवर्ण कैसे कहें?) पिण्ड और ब्रह्माण्डकी बातें कही जाती हैं पर चाहे पिण्ड हो और चाहे ब्रह्माण्ड, सभी देश और कालमें सीमित हैं पर उसका न तो आदि है और न अन्त। फिर उसे पिण्ड और ब्रह्माण्डमे व्याप्त कह ही दिया गया तो क्या उसका ठीक ठीक परिचय मिल गया? सही बात यह है कि वह पिण्डसे भी परे है, ब्रह्माण्डसे भी परे है। कबीरदास कहते हैं कि उनका हरि इन सबसे परे है। वह अगुण और सगुण दोनोंके ऊपर है, अजर और अमर दोनोंसे अतीत है, अरूप और अवर्ण दोनोंके परे है, पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनोंके अगम्य है। यही कबीरदासका निर्गुण राम है[1]।"

इतना ही नहीं वह भाव और अभाव दोनोंसे परे है अर्थात् न तो यही कहा

---

१ संतो, धोखा कासूं कहिये।
गुनमैं निरगुन, निरगुनमैं गुन, बाट छाडि क्यूं बहिये।
अजरा अमर कथै सब कोई अलख न कथणा जाई।
नाति स्वरूप वरण नहिं जाके घटि घटि रह्यौ समाई।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई वाके आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाडि जे कहिये कहै कबीर हरि सोई॥—क ग्र पद, १८०

जा सकता है कि वह भाव-रूप है और न यही कहा जा सकता है कि वह अभाव-रूप है, 'भावाभावविनिर्मुक्त' है।[1] फिर उसे किसी पक्ष-विशेषके द्वारा भी नहीं समझाया जा सकता। न तो वह द्वैत पक्षका विषय है, न अद्वैत पक्षका प्रतिपाद्य। असलमें सयाना साधु वही है जो निष्पाप भावसे उसको भजता है। जैसे तिनकेसे तिनका बँधा होता है वैसे ही लोग एक दूसरेसे बँधे हुए हैं। जिसे आत्म-दृष्टि प्राप्त है वही ठीक ठीक देख पाता है। वह जानना एकमेक होकर जानना है, एकमेक अर्थात प्रेम प्रीतिसे भरे मनको परम प्रीतिके एकमात्र आश्रय भगवान्में लीन कर देना। इसे ठीक ठीक कह कर नहीं समझाया जा सकता। यह पूर्णकी पूर्ण दृष्टिसे पूर्णको ही देखना है। वह अद्वैतवादीकी भाँति चिदात्मक ब्रह्म सत्तामें चैतन्यका विलय नहीं है बल्कि जैसा कि स्वयं कबीरने ही कहा है सहज भावसे एकमेक होकर रामसे मिल रहना है। सहज भी ऐसा 'सहज' नहीं,—परम प्रेमाश्रय भगवान्से सहज ही मिल रहना सहज है।

१ ऋह्या न उपने उपजा नाहि जाणै भाव अभाव बिहूना।
उद अस्त जहा मति बुधि नाहा सहजि राम ल्यौ लीना॥

—क ग्र पद, १७०

२ पपा पषीके पेषणै सब जगत भुलाना।
निरपप होइ हरि भजै सो साध सयाना।
ज्यू परसूं पर बाधिया यू बधे सब लोई।
जाक आतम द्रिष्टि है साचा जन है सोई।
एक एक जिनि जाणिया तिनही सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौ लीन मनतै बहुरि न आया।
पूरकी पूरी द्रिष्टि पूरा करि देखै।
कहै कबीर कछु समुझि न परई, या कछु बात अलेखै।—वही, पद १८७

३ सहज सहजै सब गये सुत वित कामिणि काम।
एकमेक है मिलि रह्या दासि कबीरा राम॥
सहज सहज सब कोई कहै सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजै हरिजी मिलै, सहज कहीजे सोइ।

—वही पृष्ठ ४३ साषी ४०८

फिर उसे न तो भीतर कहा जा सकता है न बाहर। बाहर कहो तो सद्गुरु लज्जित होंगे क्योंकि सद्गुरुरूपमें वह भीतर ही बैठा है और समस्त जगतको जो हम देख रहे हैं और पहचान रहे हैं वह इसीलिये कि वह भीतर बैठा हुआ दिखा रहा है और पहचनवा रहा है, सद्गुरुको हम बाहर कैसे कहें? फिर अगर भीतर कहें तो सारा संसार,—समूची बाह्य रूपमें दृश्यमान सृष्टि झूठी हो जाती है। असलमें वह बाहरसे भीतर तक ऐसा व्याप्त हो रहा है कि कहकर समझाया नहीं जा सकता। न तो वह दृष्टिका विषय है (बाह्य) और न मुष्टिका (आन्तर)। वह अलख है, अगम है, अगोचर है। उसे पुस्तकमें लिखकर प्रकट नहीं किया जा सकता। उसे वही भली भाँति जानते हैं जो पहचानते हैं। जो नहीं जानते वे कहनेपर विश्वास ही नहीं करेंगे।[1]

कुछ लोग उपासना तक तो मान लेते हैं पर प्रार्थनाकी बात उनकी समझमें नहीं आती। स्व० कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने इस प्रसंगमें जो कुछ लिखा है वह विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। यह कहना ही बेकार है कि वे ब्रह्मको निराकार और गुणातीत मानते थे। परन्तु किसी किसी वेदान्तिक आचार्यकी भाँति उसे निष्क्रिय नहीं मानते थे। अपने एक प्रवचनके सिलसिलेमें उन्होंने कहा था (जिसका प्रामाणिक विवरण बादमें 'शान्तिनिकेतन' नामक प्रबन्ध-संग्रहमें छपा था) कि "कुछ लोग कहते हैं कि उपासनामें प्रार्थनाका कोई स्थान नहीं है,—उपासना केवल मात्र ध्यान है,—ईश्वरके स्वरूपको मन ही मन उपलब्ध करना है। यह बात मैं स्वीकार कर लेता यदि जगतमें अपनी इच्छाका कोई प्रकाश न देख पाता। हम लोहेसे प्रार्थना नहीं करते, पत्थरसे प्रार्थना नहीं करते,—उसीके निकट अपनी प्रार्थना प्रकट करते हैं जिसमें इच्छा-वृत्ति हो। ईश्वर यदि केवल सत्य-स्वरूप होते, केवल अव्यर्थ नियमोंके रूपमें ही उनका प्रकाश होता तो उनके

१ ऐसा लो तत ऐसा लो, मैं केहि बिधि कथौं गंभीरा लो।
बाहर कहा तो सतगुरु लाजे भीतर कहा तो झूठा लो॥
बाहर भीतर सकल निरंतर गुरुपरतापे दीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि न अगम अगोचर पुस्तक लिखा न जाई लो।
जिन पहिचाना तिन भल जाना कहे न को पतियाई लो॥ इत्यादि
पदा० शब्द २८

यह पद हणवंत नामक नाथ सिद्धके नामपर भी मिलता है।

निकट प्रार्थना करनेकी बात हमारे मनमें स्वप्नमें भी नहीं आती। परन्तु कहा गया है वे 'आनन्दरूपम् अमृतम्' हैं, कहा गया है वे इच्छामय, प्रेममय, आनन्दमय हैं, इसीलिये सिर्फ 'विज्ञान'के द्वारा हम उन्हें नहीं जानते, इच्छाके द्वारा ही इच्छा-स्वरूप और आनद-स्वरूपको जानना पड़ता है...

"हमारे भीतर इस इच्छाका निकेतन हृदय है। हमारा वह इच्छामय हृदय क्या शून्यमें प्रतिष्ठित है? उसकी पुष्टि मिथ्यासे होती है? उसका गम्य स्थान क्या व्यर्थताके बीचमें है? फिर भला यह विचित्र उपसर्ग (इच्छा-हृदय) कहाँसे आया? किस उपायसे वह मुहूर्त-भरके लिये यहाँ टिका हुआ है? जगतमें क्या सिर्फ एक ही धोखा है, और वह धोखा हमारा हृदय है? कभी नहीं। हमारा यह इच्छारसमय हृदय जगद्व्यापी इच्छा रसकी नाडीके साथ बँधा हुआ है। वहींसे वह आनद-रस पाकर जी रहा है, न पानेसे उसका प्राण निकल जाता है—वह अन्न वस्त्र नहीं चाहता, विद्या-शक्ति नहीं चाहता, चाहता है अमृत, चाहता है प्रेम। जो कुछ चाहता है उसे इसीलिये चाहता है कि वह वस्तु क्षुद्र-रूपसे ससारमें और चरम रूपसे उन (भगवान्) मे वर्तमान है,—नहीं तो किसी रुद्ध द्वारपर सिर पटककर मरनेके लिये उसका जन्म नहीं हुआ है। हृदय अपनेको जानता है इसीलिये यह भी निश्चय रूपसे जानता है कि उसकी एक परिपूर्ण कृतार्थता अन्तरमें वर्तमान है। इच्छा केवल उसीकी ओर है, यह बात नहीं है, दूसरी ओर भी है–० दूसरी ओर भी इच्छा न होती तो वह निमेष भरके लिये भी इधर नही रह सकती थी,—एक कण-भर भी इधर ऐसी बची न रहती जिससे निश्वास-प्रश्वासरूप प्राण-क्रिया भी चल सकती। इसीलिये उपनिषदोंने इतना जोर देकर कहा है कि—कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनदो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयति।"—कौन शरीरकी चेष्टा करता और कौन जी सकता था, यदि आकाशमें वह आनद न होता,—वे ही आनन्दके दाता हैं।

"दो इच्छाओंके बीच दूतीका कार्य करती है प्रार्थना। यह प्रार्थना-दूती दो इच्छाओंके मध्यवर्ती विच्छेदके ऊपर व्याकुल वेशमें खड़ी है। इसीलिये असाधारण साहसके साथ वैष्णव भक्तने कहा है कि जगत्के विचित्र सौन्दर्यके भीतर भगवान्की बशी जो नाना सुरोंमें बज रही है वह सिर्फ हमारे लिये उनकी प्रार्थना है,—हमारे हृदयको वे इसी अनिर्वचनीय सगीतके द्वारा पुकार रहे हे '

इसीलिये तो यह सौन्दर्य सगीत हमारे हृदयकी विरह-वेदनाको जगा देता है।[1] उनकी ऐसी पुकार पर भी क्या हमारे मनकी प्रार्थना नहीं जागेगी ? वह क्या उनके विरहकी धूलि-आसनपर लोट कर रो नही उठेगी ? असत्य अधकार और मृत्युके निरानंद निर्वासनसे अभिसारकी यात्राके समय यह प्रार्थना दूती ही क्या अपनी कम्पित दीप शिखाको लेकर हमारा रास्ता दिखाती हुई आगे आगे नही चलेगी ? जितने दिन तक हमारे पास हृदय है, जितने दिनतक प्रेमस्वरूप भगवान् अपने नाना सौन्दर्योंद्वारा इस जगत्को आनन्द निकेतनके रूपमें सजा रहे हं, तबतक उनसे मिलन हुए विना मनुष्यकी वेदना कैसे दूर होगी ? तबतक ऐसा कौन सन्देह-कठोर ज्ञानाभिमान है जो मनुष्यकी प्रार्थनाको अपमानित करके लौटा दे सके[2] ? ”

इसी त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैतविलक्षण, भावाभावविनिर्मुक्त, अलख, अगोचर अगम्य, प्रेमपारावार भगवान्को कबीरदासने ‘ निर्गुण राम ’ कहकर सबोधन किया है। वह समस्त ज्ञात तत्त्वोंसे भिन्न है फिर भी सर्वमय है। वह अनुभवैक-गम्य है,—केवल अनुभवसे ही जाना जा सकता है । इसी भावको[3]

१ इस भावके साथ कबीरदासके निम्नलिखित पदकी तुलना की जा सकती है—

सतिगुरु हो महाराज मोपै साईं रग डारा ।
शब्दकी चोट लगी मेरे मनमें बेध गया तन सारा ॥
औषध मूल कछु नहि लागे क्या करै वैद बिचारा ।
सुरनर मुनिजन पीर औलिया कोइ न पावे पारा ।
साहेब कबीर सर्व रग रगिया सबसे रग न्यारा ॥

शब्दा०, ०

२ शान्तिनिकेतन, विश्वभारती सस्करण, १३४१ बगाब्द, प्रथम खण्ड, पृ १०५ ८

३ बाबा अगम अगोचर, कैसा, ताते कहि समुझावों ऐसा ।
जो दीसै सो तो है वो नाहीं, है सो कहा न जाई ॥
सेना बैना कहि समुझाओं गूंगेका गुड भाई ।
दृष्टि न दीसे मुष्टि न आवै बिनसे नाहि नियारा ॥
ऐसा ग्यान कथा गुरु मेरे पडित करो बिचारा ॥

—पद्मा० शब्द २९

बतानेके लिये कबीरदासने बार बार 'गूँगेका गुड़'[1] कह कर उसे याद किया।

वह किसी भी दार्शनिक वादके मानदण्डसे परे है, तार्किक बहसके ऊपर है, पुस्तकी विद्यासे अगम्य है, पर प्रेमसे प्राप्य है, अनुभूतिका विषय है, सहज भावसे भावित है, यही कबीरदासका निर्गुण राम है। भक्त लोग इस रामको जानते हैं और राम भी भक्तोंको पहचानते हैं। नैनकी व्यथा बैन जानती है, बैनकी वेदना श्रवण। पिंडका दुःख प्राण जानता है, प्राणका दुःख मरण। आसका दुःख प्यासको मालूम है, प्यासका दुःख पानीको। कबीरदासका निश्चित विश्वास है कि इसी प्रकार राम भक्तके दुःखको जानते हैं[2]।

---

१ अविगत अकल-अनूपम देख्या कहता कह्या न जाइ।
सैन करै मन ही मन रहसै गूगै जानि मिठाई॥

—क० ग्र० पद, ६

अकथ कहाणी प्रेमकी कछु कही न जाई।
गूगेकेरी सरकरा बैठे मुसुकाई॥

—क० ग्र० पद, १५६

सैना बैना कहि समुझाओं गूगेका गुड भाई।

—पदा० शब्द २९, इत्यादि।

२ जनकी पीर हो राजा राम जाने कहूँ काहि को मानै।
नैनका दुख बैन जानै बैनका दुख श्रवना॥
प्यंडका दुख प्रान जानै प्रानका दुख मरना।
आसका दुख प्यास जानै प्यासका दुख नीर॥
भगतिका दुख राम जानै कहै दास कबीर॥

—क० ग्र० पद, २८६

१०—बाह्याचार

जिन दिनों कबीरदासका आविर्भाव हुआ था उन दिनों हिंदुओंमें पौराणिक मत ही प्रबल था। परन्तु यह साधारण गृहस्थोंका धर्म था। देशमें और भी नाना भाँतिकी साधनायें प्रचलित थीं। कोई वेदपाठी था, तो कोई उदासी, कोई ऐसा था जो दीन बना फिर रहा था, तो कोई दान-पुण्यमें ही व्यस्त था, कोई मदिराके सेवनको ही चरम साधना मानता था, तो कोई तन्त्र-मन्त्र-औषधादिकी करामातसे ही सिद्ध बना फिरता था, कोई सिद्ध था, कोई तीर्थव्रती था और कोई धूमपानसे शरीरको काला बना रहा था। सब थे पर कोई राम-नाममें लीन नहीं था। सद्गुरु (=रामानन्द?) की कृपासे कबीरदासको यह महामन्त्र मिल गया था[1]। उस समय मुनि थे, पीर थे, दिगंबर थे, योगी थे, जंगम थे, ब्राह्मण थे, संन्यासी थे, पर सभी मायाके चक्करमें पड़े हुए थे[2]। किसी किसी सम्प्रदायमें तोप बंदूकें तक चला करती थीं। कबीरदास हैरान होकर लोगोंसे कहा करते थे कि भई, यह भी अजब योग है कि महादेवके नामपर पंथ चलाया जाता है। लोग बड़े

---

१ गगा देखि चरित मन मोह्यो मोर,
ताथैं निस बासुरि गुन रमौं तोर।
इक पढ़हिं पाठ, इक भ्रमैं उदास, इक नगन निरंतर, रहैं निवास॥
इक जोग जुगुति तन हूहिं खीन, ऐसे राम नाम संगि रहैं न लीन।
इक हूहिं दीन एक देहीं दान, इक करै कलापी सुरापान॥
इक तंत मंत ओषध (ध) बान, इक सकल सिद्ध राखै अपांन।
इक तीरथ ब्रत करि काय जीति, ऐसे राम नामसूं करै न प्रीति।
इक धोम घूटि तन हौंहि स्याम, यूं मुकुति नहीं बिन रामनाम।
सतगुरु तत्त कह्यो बिचार, मूल गह्यौ अनभै बिस्तार॥
जुरा मरणथैं भये धीर, राम कृपा भइ कहि कबीर॥

—क० ग्र० पद, ३८६

२ क० ग्र० पद १८७

बड़े महन्त बनते हैं, हाट-बाजारमें समाधि लगाते हैं और मौका पाते ही तोप-बन्दूक लेकर पिल पड़ते हैं। भला दत्तात्रेयने भी कभी मवासियों द्वारा शत्रुओंपर चढाई की थी, शुकदेवने भी कभी तोप संग्रह किये थे, नारदने भी कभी बन्दूक दागी थी? अजीब हैं ये विरक्त जिनकी सोनेकी गद्दियाँ जगमगा रही हैं, हाथी-घोड़ोंके ठाठ लगे हैं, करोड़-पतियोंकी-सी शान है[1]!! रंग ढंगसे मालूम होता है कि यह नागा लोगोंकी कुम्भकी चढाई जैसी कोई घटना रही होगी। इस प्रकार बहुधा-विचित्र बाह्याडम्बर-मूलक साधनाओंके बीच कबीरदासने अपनी प्रेम भक्तिकी साधना शुरू की थी।

जनतामें सर्वाधिक प्रभाव हिन्दू मत या पौराणिक धर्मका था। इसके बाद ही योगियोंकी प्रबलता थी। ब्राह्मणोंके विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता हीं नहीं क्योंकि जिन लोगोंके हाथमें इस पुस्तकके पहुँचनेकी आशा है वे सभी लोग इस मतको भली भाँति जानते हैं। योगियोंकी साधनाका उल्लेख पहले ही हो चुका है। यहाँ संक्षेपमें उन मोटी बातोंकी चर्चा कर लेना आवश्यक समझा गया है जिन्हें कबीरदास पौराणिक ब्राह्मणधर्मकी विशेषता मानते थे और बारम्बार प्रत्याख्यानयोग्य समझते थे।

सबसे मुख्य बात यह है कि कबीरदासने पौराणिक हिन्दूधर्मके आचार-बाहुल्यको ही अधिक लक्ष्य किया था। कोई पूजा या उत्सव उनकी दृष्टिमें ज्यादा खटकता था पर उस पूजा या उत्सवके पीछे छिपा हुआ तत्त्ववाद प्रायः ही उनकी दृष्टिमें

---

१ ऐसा जोग न देखा भाई। भूला फिरै लिये गफिलाई॥
महादेवको पंथ चलावै। ऐसो बडो महंत कहावै।
हाट बजारे लावै तारी। कच्चे सिद्धन माया प्यारी॥
कब दत्ते मावासी तोरी। कब सुखदेव तोपची जोरी।
नारद कब बंदूक चलाया। व्यासदेव कब बंब बनाया।
करहि लराई मतिकै मन्दा। ई अतीतकी तरकस बन्दा।
भये विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावैं बाना।
घोरा घोरी कीन्ह बटोरा। गाँव पाय जस चलै करोरा।
साखी—(तिय) सुन्दरि ना सोहई, सनकादिकके साथ।
कबहुँक दाग लगावई, कारी हाँडी हाथ॥

—बीजक, ६९ वीं रमैनी

उपस्थित नहीं होता था। मूर्तिकी उपासना उनको बुरी लगती थी पर ऐसा जान पड़ता है कि मूर्तिवाला तत्त्ववाद उन्हें मालूम ही न था। शायद ही किसी दार्शनिक तत्त्ववाद या पौराणिक रहस्य-व्याख्याका उल्लेख उनके ग्रन्थमें पाया जाय।

वेदपाठ, तीर्थस्नान, व्रतोद्यापन, छुआछूत, अवतारोपासना, कर्मकाण्ड इत्यादि सबके विरुद्ध कबीरदासने लिखा है पर कहीं भी उनकी गूढ़ व्याख्याओंको या इनकी पृष्ठभूमिके तत्त्ववादको उल्लेखयोग्य नहीं समझा। वस्तुतः सारा हिन्दू धर्म उनकी दृष्टिमें एक बाह्याचारबहुल ढकोसला-मात्र था। उन्होंने योगमार्गको भी ढकोसला ही समझा था पर हमने पिछले अध्यायोंमें देखा है कि इस मार्गका वर्णन वे रस लेकर करते हैं और उसकी छोटी छोटी विशेषताओंकी भी जानकारी रखते हैं। परन्तु हिन्दू-मत या तत्त्ववादकी ओर न तो उनकी वैसी जिज्ञासा ही है और न निष्ठा ही। बीजकमें करीब एक दर्जन पद सीधे 'पण्डित' या 'पाण्डे'को सम्बोधन करके कहे गये हैं। इनमेंसे कई पद बहुत मामूली परिवर्तनके साथ 'कबीर-ग्रन्थावली'में भी आये हैं। इन पदोंमें वे पण्डितसे तरह-तरहके प्रश्न पूछते हैं। कहते हैं, छूत कहाँसे आ गई? पवन, वीर्य और रजके सम्बन्धसे गर्भाशयमें गर्भ रहता है, फिर वह अष्टदलकमलके नीचेसे उतरकर पृथ्वीपर आता है, ऐसी हालतमें यह छूत कैसे आ गई? यही तो धरती है जिसमें चौरासी लाख योनिके प्राणियोंका शरीर सड़कर मिट्टी हो गया, इस एक ही पाटपर परमपिताने सबको बिठाया है तो फिर छूत कहाँ रही? इत्यादि[1]। यह तर्क निश्चय ही युक्तिसंगत है पर जिस 'पण्डित'से यह प्रश्न पूछा जाता है वह इसका बहुत सीधा जवाब

---

[1] पंडित, देखहु मन महँ जानी।
कहु धौं छूति कहाँ ते उपजी तबहि छूति तुम मानी।
नादे बिंदे रुधिरके संगे घटहीमहँ घट सपचै।
अष्ट कवल होय पुहुमी आया छूति कहाते उपजै।
लख चौरासी नाना बासन सो सभ सरि भौ माटी।
एकै पाट सकल बैठाये छूति लेत धौं काकी।
छूतिहि जेवन छूतिहि अचवन छूतिहि जगत उपाया।
कहहि कबीर ते छूति बिबरजित जाके संग न माया।

—बीजक, शब्द ४१

जानता है। उस सीधे जवाबको प्रश्नकर्ताने एकदम भुला दिया है। गलत हो या सही 'पंडित' यह विश्वास करता है कि दुःख उसकी सृष्टि नहीं है बल्कि एक अनादि कर्मप्रवाहका फल है। वह विश्वास करता है कि प्राणिमात्र जन्म-कर्मके एक दुर्वार प्रवाहमें बहे जा रहे हैं। अगर उसे सचमुच निरुत्तर करना है तो या तो उसे उस अनादि कर्मप्रवाहकी युक्तिके भीतरसे समझाना चाहिये या फिर जन्म-कर्म-प्रवाहके इस विश्वासको ही निर्मूल सिद्ध कर देना चाहिये। यह अत्यन्त मोटी-सी बात है। पर कबीरदासके निकट 'पंडित' या 'पाँडे' इतना अदना सा और उपेक्षणीय जीव था कि उन्होंने कभी इस रहस्यको समझनेकी कोशिश नहीं की।

इसी प्रकार वे पूछते हैं "पंडित, सोच कर बताओ तो सही, किस प्रकार आवागमन छूट सकता है और धर्म अर्थ-काम-मोक्ष ये सब फल किस दिशामें बसते हैं? अगर गोपालके बिना संसारका कोई स्थान ही नहीं है तो भला लोग नरक कैसे जाते हैं? देखो भाई, जो नहीं जानता उसके लिये नरक है, स्वर्ग है, परन्तु जो हरिको जानता है उसके लिए कुछ भी नहीं है[1]!" कहना बेकार है कि इस तत्त्वसे पंडित अपरिचित नहीं है। वह भी जानता है कि यह स्वर्ग और नरककी कल्पना अविद्याकी उपज है पर वह कितने ही प्रकारके अधिकारियोंके अस्तित्वमें विश्वास करता है। उसे निरुत्तर करनेके लिये इस अधिकारी भेदके सिद्धान्तोंकी ही जड़ खोदनी चाहिये थी। इस प्रकार कबीरदासका 'पंडित' यह पत्राधारी अधकचरा ब्राह्मण है जो ब्राह्मण-मतके अत्यन्त निचले स्तरका नेता है।

---

१ पंडित, सोधि कहहु समुझाई। जाते आवागवन नसाई।
अरथ धरम अरु काम मोच्छ फल, कवन दिसा बस भाई॥
उतर कि दच्छिन पुरुब कि पच्छिम सरग पताल कि माँहीं।
बिनु गोपाल ठवर नहि कबहू नरक जात धौं काही॥
अनजानेको सरग नरक है हरिजानेको नाही।
जेहि डरते सब लोग डरतु है सो डर हमरे नाही॥
पाप पुन्नकी सका नाही सरग नरक नहि जाही।
कहहि कबीर सुनहु हो सन्तो, जहँ पद तहाँ समाही॥

—बीजक, शब्द ८२

जहा जहाँ भी कबीरदासने पंडितके बाह्याचारका खण्डन किया है वहां उसे नितान्त अदना आदमी समझके किया है। वे यह जानते ही नहीं कि पंडितके पास भी तत्त्वज्ञान है, मोक्ष और अपवर्गकी व्याख्या है, व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्तापर बहस है, स्थूल और सूक्ष्मकी मर्यादा है, कर्म और बंधकी धारणा है। यह वे कल्पना भी नहीं करते कि पंडित ऐसे प्रश्नोंपर अपने शास्त्रोंमें विचार भी किया करता है।

यहां उस कथनका यह तात्पर्य नहीं है कि कबीरदासने बाह्याचारोंकी व्यर्थता समझनेमें गलती की है। यहां इसी बातका उल्लेख किया जा रहा है कि कबीरदासने 'पंडित' या 'पांडे' को कैसा समझा था या उसे कैसा देखा था। शास्त्रीय आतंक जालको छिन्न करके और लोकाचारके जंजालको ढाहकर वे सहज ही सहज सत्य तक पहुँच सके थे, इसमें कोई संदेह नहीं। यहाँ केवल इतना ही प्रकृत है कि कबीरदासका 'पंडित' बहुत अदना आदमी है, स्वर्ग और नरकके सिवा और कुछ जानता ही नहीं, जात-पात और छुआछूतका अंध उपासक है, तीर्थ-स्नान और व्रत-उपासका ठेठ समर्थक है,—तत्त्वज्ञानहीन, आत्म विचार-विवर्जित विवेकबुद्धिहीन, अटल गँवार।

अब एक बार योगमार्गके सूक्ष्म ज्ञानके साथ ब्राह्मण मतके इस अल्पज्ञानकी कल्पना की जाय तो उस 'सत्संग सिद्धान्त' का महल बालूकी भीतपर खड़ा दिखाई देगा जिसे इतना प्रचारित किया गया है। कहा गया है कि कबीरदास मुसलमान वंशमें पैदा होकर भी 'सत्संग'के बलपर हिन्दू शास्त्रीय मतोंको इतना जान सके थे। यह सिद्धान्त वस्तुतः किसी दृढ प्रमाणपर आधारित नहीं है। यह कहना तो अनुचित है कि कबीरदास सत्संगी नहीं थे,—जरूर ही रहे होंगे पर हिन्दूधर्मसम्बन्धी उनका ज्ञान सत्संग करके बटोरा हुआ नहीं था। वस्तुत योगमत, द्वैताद्वैत विलक्षण-परमात्म-विश्वास, निर्गुण निराकारकी भावना, समाधि सहजावस्था, सहज-स्वभाव आदिका संपूर्ण ज्ञान उन्हें अपनी कुल-परम्परा और कुल गुरु-परम्परासे प्राप्त हुआ था। पौराणिक हिन्दूमतको दूरपर खड़े हुए दर्शककी भाँति ही उन्होंने देखा था। इस बातकी उन्होंने कोई परवा ही नहीं की कि उसके भीतर भी कोई आध्यात्मिक तत्त्व है या नहीं।

हमने ऊपर लक्ष्य किया है कि बाह्याचारमूलक जिन धार्मिक कृत्योंका खण्डन कबीरदासने किया है लगभग उन सभीका खण्डन उनके पूर्ववर्ती हठयोगियोंने

उसी प्रकारकी चकनाचूर करनेवाली भाषामें किया है। लेकिन यह परम्परा और भी पुरानी तथा और भी व्यापक है। योगियाक भी पूर्ववर्ती सहजयानी सिद्धोंने भिन्न भिन्न मतके बाह्याचारका वैसा ही जोरदार खण्डन किया है। सरोरुहपाद कहते हैं कि "ब्राह्मण ब्रह्माके मुखसे पैदा हुए थे, जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी वैसे ही पैदा होते हैं जैसे दूसरे लोग। तो फिर ब्राह्मणत्व कहाँ रहा? यदि कहो कि सस्कारसे ब्राह्मणत्व होता है तो चाण्डालको भी सस्कार दे कर क्यो नही ब्राह्मण हो जाने देते? अगर कहो कि ये लोग हाथमे कुश जल लेकर घर बैठे हवन करते है। यदि आगमें घी डाल देनेसे मुक्ति होती हो तो क्यो नही सबको डालने देते? होम करनेसे मुक्ति होती हो या नही, धुआँ लगनेसे आँखोको कष्ट जरूर होता है।"[1] इसी प्रकार नग्न साधुओंको लक्ष्य करके सरोरुहपाद कहते है कि 'ये लोग कपट माया फैलाकर लोगोको ठगा करते है। तत्त्व तो ये जानते ही नही। मलिन वेश धारण किये फिरते है और शरीरको व्यर्थ ही कष्ट देते हैं। नगे घूमते हैं और केश उखड़वा (लुचन) देते हैं। यदि नग्न दिगबरको मुक्ति मिलती हो तो स्यार कुत्तोंकी मुक्ति पहले होनी चाहिये। यदि नग्न दिगबरको मुक्ति होती हो तो ऐसे बहुतोंकी मुक्ति हो जानी चाहिये जिन्हें लोभ है ही नहीं। यदि पिच्छी ग्रहण करनेसे मुक्ति होती हो तो मयूर इसका प्रथम अधिकारी है। यदि उञ्छ भोजनसे मुक्ति होती हो तो हाथी-घोड़ोंको मुक्ति पहले होनी चाहिए[2]।'

---

१ ब्रह्मणेहि म जाणन्त हि भेऊ। एवइ पढिअउ ए च्चउ वेऊ॥ १॥
मट्टी पाणी कुस लइ पढ़न्त। घरहि बइसी अग्गि हुणन्त॥
कज्जे विरहइ हुअवह होमें। अक्खि डहाविअ कडुएँ धुम्मैं॥ २॥ ज० टि० ले० पृ० ९
इसीपर अद्वयवज्रकी टीका देखिये (वही पृ० ५८—५४)

२ दीह णक्ख जइ मलिणों वेसें। णग्गल होइ उपाडिअ केसें॥
खवणेहिं जाण बिडबिअ वेसें। अप्पण बाहिअ मोक्ख उवेसें॥ ६॥
जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।
लोमुप्पाडणे अत्थि सिद्धि ता जुअइ णिअम्बइ॥ ७॥
पिच्छी गहणे दिट्ठि मोक्ख ता मोरह चारह।
उञ्छे भोअणें होइ जाण ता करिह तुरगह॥ ८॥—वही० पृ० १०

और इसीपर अद्वयवज्रकी टीका पृ० ६१-२

जैन लोगोंमें भी इस प्रकारके बाह्याचारोंके खण्डनकी प्रवृत्ति मामूली नहीं थी। मुनि रामसिंहके पाहुड़ दोहोंमें बाह्याचारोंकी इसी प्रकारकी नजिगा उड़ाई गई है। बाह्याचार और भेषकी व्यर्थता दिखानेके लिए उन्होंने उसे सांपकी केचुलीकी उपमा दी है। जिस प्रकार ऊपर आवरणके बदलनेसे सर्पका जहर नहीं जाता रहता उसी प्रकार बाह्यवेषके परिवर्तनसे चित्त शुद्धि नहीं होती[1]। एक तीर्थसे दूसरे तीर्थ तक घूम आनेसे अधिकसे अधिक बाहरी शरीरकी धुलाई हो जाती है, भीतरी शुद्धि उससे कैसे हो सकती है[2]? मूर्ख लोग मनुष्यके बनाये देवालयोंको खोज खोज कर मरते हैं परन्तु हृदयके उस देवालयको नहीं देखते जहां सच्चमुचके शिव विराजित हैं[3]। ओ पंडित, पोथी पढ़ पढ़ कर तेरा तालू सूख गया, भला ऐसा भी एक अक्षर तो पढ़के देख जिससे शिवपुरीमें तुझे आसन मिल सके[4], झूठा है यह कलह, बेकार है यह टंटा, किससे छूत मानूँ और किसकी पूजा करूँ? जहाँ देखता हूँ वहाँ एक ही आत्मा है[5], इत्यादि। ऐसे भावोंके दर्जनों दोहे पाहुड़ दोहामें संग्रह

---

१ सप्पि मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ॥ १५॥

२ तित्थइं तित्थ भमंतयहं किण्णेहा फलु हूअ।
बाहिरु सुद्धउ पाणियहं अब्भितरु किम हूअ॥ १६२॥
तित्थइं तित्थ भमेहि वढ धोयउ चम्मु जलेण।
एहु मणु किम धोएसि तुहुं मइलउ पावमलेण॥ १६३॥

३ मूढा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं।
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइं॥ १८०॥

४ बहुयइं पढियइं मूढपर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खरु तं पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण॥ ९७॥

५ कासु समाहि करउ को अंचउ।
छोपु अछोपु भणिवि को वंचउ॥
हल सहि कलहु केण सम्माणउ।
जहिं जहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ॥ १३९॥

सभी दोहे 'पाहुड़ दोहा' (प्रो० हीरालाल जैन सम्पादित), कारंजा (बरार) १९४२, से लिये गये है।

किये जा सकते हैं। ये दोहे भी सन् ईसवीकी प्रथम सहस्राब्दीके अन्त्य भागके हैं। अर्थात् लगभग उसी समयके हैं जब कि सहजयानके बौद्ध गान और दोहे लिखे जा रहे थे।

इस प्रकार कबीरदासने बाह्याचारमूलक धर्मकी जो आलोचना की है उसकी एक सुदीर्घ परम्परा थी। इसी परम्परासे उन्होंने अपने विचार स्थिर किये थे। इनके समयमें एक और भी प्रधान धर्ममत भारतवर्षमें आ चुका था। उसमें भी बाह्याचारकी प्रबलता थी। कबीरदासने स्वयं इस धर्मद्वारा प्रभावित वंशमें जन्म ग्रहण किया था इसलिए उसकी आचार-बहुलतासे वे भी परिचित थे। परन्तु मुल्ला और काजीको भी वे 'पंडित'के समान ही अदना और हीनवीर्य समझते रहे। ऐसा नहीं जान पड़ता कि उन्होंने मुसलमान धर्मके बाह्याचारोंके सिवा उसके किसी अंगकी गहरी जानकारी प्राप्त करनेकी चेष्टा की हो। उन्होंने सुन्नत, बाँग और कुरबानी आदिकी खरी आलोचना की है। पर चाहे मुसलमानी धर्मके बाह्याचारका खण्डन हो या हिंदू मतके, उन्होंने अपने पूर्ववर्ती अक्खड़ योगियोंकी भाँति महज खण्डनके लिये खण्डन नहीं किया। उनका केंद्रीय विचार भक्ति था। वे भक्तिको प्रधान मानते थे। उसके रहनेपर बाह्याचारका होना न होना गौण बात है। ऐसा जरूर है कि वे भक्तिकी प्राप्तिके बाद बाह्याचारोंका स्वयं नष्ट हो जाना इसी बातपर विश्वास करते हैं। उनके मतसे भक्ति और बाह्याडम्बरका संबंध सूर्य और अन्धकारका-सा है। एक साथ दोनों नहीं रह सकते। काजी किताब पढ़ते पढ़ते मर गया पर तत्त्व नहीं समझ सका। कबीरदास कहते हैं कि यद्यपि उनका शरीर मुसल्मानी आचारसे संस्कृत बनाया जाकर मुसलमान बना लिया गया पर वस्तुतः यह संस्कार बाह्य और अधूरा है। उन्हें इस संस्कारद्वारा मार्जित होनेका अफसोस नहीं था। वे तो भक्तिकी टेक गहे हुए थे और काजी झख मारके भी उनको उस मार्गसे विचलित नहीं कर सकता। एक बार भक्तिकी टेक गह ली तो कोइ भी बाह्याचार रास्ता रोकके खड़ा नहीं हो सकता। पण्डितोंने कहा है

काजी कौन कतेब बखानै।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते गति एकै नहिं जाने।
सकतिसे नेह पकरि करि सुनति यह न बदूँ रे भाई।
जौर खुदाइ तुरक मोहिं करता तौ आपैं कटि किन जाई।

कि कबीरदासकी भक्तिमें सूफी साधनाका प्रभाव है। उनकी प्रेम और विरह-संबंधी उक्तियोंमें इस प्रभावका अस्तित्व दिखाया गया है। यह बात ठीक हो सकती है। यद्यपि कबीरदासके खुदके वचनोंके बलपर कहा जा सकता है कि प्रेमभक्तिका बीज उन्हें अन्यत्रसे मिला था पर सूफी साधकोंसे उनका प्रभावित होना असम्भव नहीं है। परन्तु, जो लोग उन्हें मुस्लिमप्रभावापन्न सुधारक मानते हैं वे बहुत ही उथले प्रमाणोंपर उड़ती उड़ती बातें करते हैं। कबीर-पंथियोंका और कोई दावा ठीक हो या नहीं उनका यह दावा सोलह आने संगत है कि कबीरदास मुसलमान नहीं थे, क्योंकि मुसलमानी वंशमें जन्म और लालन-पालन होना ही किसीको मुसलमान नहीं बना देता। जन्मसे वे मुसलमान रहे हों या नहीं, विश्वासमें वे एकदम मुसलमान नहीं थे। उनके ऊपर मुसलमानी संस्कृति और धर्म-विश्वासका कोई गहरा असर नहीं पड़ा था। और उन्होंने कहीं भी अपनेको मुसलमान नहीं कहा। मुस्लिम धर्म-साधनासे उनका संबंध नाममात्रको ही था। पर मुसलमान वंशमें प्रतिपालित होनेके कारण उनमें एक प्रकारका साहसिक भाव आ गया था और उस दार्शनिक तर्क-जालसे वे मुक्त थे जो उनके पूर्ववर्ती सिद्धों और योगियोंको अभिभूत किये हुए था। इसीलिये वे सहज बातको सहज ढंगसे—बिना अपर-पक्षकी कल्पना किये—कह सके थे। यह मुस्लिम परिवारमें पालित होनेका उत्तम फल था। नहीं तो जिन खण्डनात्मक विचारोंके लिये उन्हें मुस्लिमप्रभावापन्न सुधारक माना जाता है उनकी परम्परा बहुत पुरानी थी।

पण्डितोंने एकेश्वरवाद और अद्वैतवादकी बहस उठाकर यह साबित करनेकी कोशिश की है कि कबीरदासका अमुक विषयमें एकेश्वरवादी मत मुसलमानी भावका सूचक है। सही बात यह है कि जब कबीरदास राम और रहीमकी एकताकी बात करते हैं तो उनका मतलब भारतीय परम्पराके 'अद्वैत ब्रह्म'को सामी धर्मके 'पैगंबरी खुदा'के साथ घुला देना नहीं होता। वे अत्यन्त सीधी-सी बात अत्यन्त सीधे तौरपर कहते हैं कि सृष्टिके रचयिता भगवान्को

हौं तौ तुरक किया करि सुन्नति औरतिसौ का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटै आधा हिन्दू रहिये।
छाँड़ि कतेब राम कहि काजी खून करत हौ भारी।
पकरी टेक कबीर भगतिकी काजी रहे झख मारी॥

—क० ग्रं० पद ५९

यदि मानते हो तो दोकी कल्पना व्यर्थ है। एक ही परम तत्वको राम और रहीम कह देनेसे वह दो नहीं हो जायगा। माला और तसबीहपर जप करनेके कारण वह वस्तु भिन्न नहीं हो जायगी जो उपास्य है। इस कथनका यह तात्पर्य नहीं कि सृष्टिके रचयिताको उपादान कारण या निमित्त कारण जो भी कहो दोनो एक ही बात है, या जगत्को ब्रह्मका परिणाम कहो या विवर्त कहो दोनो एक ही बात है या खुदाको प्रकृतिका कारण मानो या प्रकृतिके साथ उसका अनिर्वचनीय संबंध मानो दोनोंमें कोई फर्क नहीं है। बिलकुल नहीं। इस कथनका तात्पर्य यह है कि साधारण जनता जो दार्शनिक विवादकी खबर कुछ भी नहीं रखती जिस सर्वसामर्थ्य-युक्त परमात्मामें विश्वास करती है वह एक ही है। उसके सृष्टिरचनाके प्रकारसे कोई बहस नहीं है, सृष्टि और प्रकृतिके साथ उसके संबंधको लेकर शास्त्रार्थ नहीं है, सही बात यह है कि नामके बदलनेसे वस्तु नहीं बदल जाती। एक समाजका 'भोंदू' मोटी तौरपर जिस परमात्माकी कल्पना करता है वह दूसरे समाजके 'भोंदू' की कल्पनासे भिन्न नहीं है। यही कारण है कि कबीरदासने उसी अंशपर जोर दिया है जो सर्वसाधारणकी समझके भीतर है—

हमरे राम रहीम करीमा,
केसो अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै,
और न दूजा कोई॥

यदि यह एकेश्वरवाद है तो अद्वैतवाद या विशिष्टाद्वैतवाद या कोई और वाद क्यों नहीं है? स्वयं कबीरदास अपनेको इन 'भोंदुओं' के लिए निर्दिष्ट पद्धतिसे ऊपर देखते थे। वे भगवानके सभी नामोंसे एक वस्तुका ध्वनित होना तो मानते थे पर शायद अच्छी तरह ही जानते थे कि इन नामोंसे अलग अलग

---

[1] अरे भाइ दोइ कहांसे मोहीं बतावौ।
बिचिही भरमका भेद लगावो।
जोनि उपाइ रची द्वै धरनी, दीन एक बीच भई करनी॥
राम रहीम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसबी लई॥
कहै कबीर चेत रे भौंदू, बोलनिहारा तुरक न हिन्दू॥
क० ग्रं० पद ५६

तरहके विचार उलझे हुए हैं। राम कहते ही 'दशरथ-सुत' का याद आ जाना सम्भव है और अल्लाहके साथ बाग देता हुआ मुल्ला प्रथित है, इसीलिये स्वयं वे उस परमात्माको नामातीत भी मानते थे। जिस प्रकार उसका कोई रूप नहीं है उसी प्रकार कोई नाम भी नहीं है, कबीरदासकी लौ इसी लिये उस परम तत्त्व पर लगी हुई थी जिसके यहाँ अल्लाह या राम किसीकी गम नहीं है,—जो भगवत्सम्बन्धी तमाम उत्कृष्ट कल्पनाओंकी पहुंचके बहुत ऊपर है—

अलह रामकी गम नहीं
तहाँ कबीर रहा ल्यौ लाय।

किन्तु प्रश्न है कि आखिर वह कौन-सी वस्तु है जिसने कबीरदासको इतना महिमाशाली बना दिया है? हमने अब तक देखा है कि उनके अधिकांश विचार एक पुरानी दीर्घ परम्पराकी देन हैं। यह नहीं कि कोई बात परम्परासे आनेके कारण ही हीन हो जाती है,—सत्य, दया धर्म, करुणा-भाव आदि बातें अनादि कालसे समादृत हैं फिर भी आजका सत्यवादी, दयावान और कारुणिक व्यक्ति इस परम्परा-विहित महत्त्वका अधिकारी होनेके कारण हीन या कम महत्व-पूर्ण नहीं होता। कबीरदासने अगर महान् आदर्श पुरानी परम्परासे लिया है तो इसीलिये कबीरका महत्त्व कम नहीं हो जाता। इस अध्ययनका उद्देश्य भी ऐसा कुछ दिखाना नहीं है पर कबीरदासका पाठक जानता है कि उनके पदोंमें उसे एक कोई असाधारण बात मिलती है जो सिद्धों और योगियोंकी अक्खड़ता भरी उक्तियोंमें नहीं है, जो वेदान्तियोंके तर्क-कर्कश ग्रन्थोंमें नहीं है, जो समाजसुधारकोंकी 'हाय हाय' में भी नहीं है।—कोई असाधारण बात। वह क्या है? फिर वह वस्तु भी क्या है जिसे रामानन्दसे पाकर कबीर जैसा मस्तमौला फक्कड़ हमेशाके लिये उनका कृतज्ञ हो गया? दोनोंका एक ही उत्तर है। वह बात भक्ति थी। वह योगियोंके पास नहीं थी, सहजयानी सिद्धोंके पास नहीं थी, कर्मकाण्डियोंके पास नहीं थी, 'पण्डितों' के पास नहीं थी, 'मुल्लाओं' के पास नहीं थी, 'काजियों' के पास नहीं थी। इसी परमाद्भुत रत्नको पाकर कबीर कृतकृत्य हो रहे। भक्ति भी किसकी? रामकी। रामनाम रामानंदका अद्वितीय दान था। उनके पहले उत्तराखण्डमें राम विष्णुके अवतार जरूर समझे जाते थे पर 'परात्पर परब्रह्म' नहीं माने जाते थे। इस त्रिगुणातीत मायाधीश परब्रह्म-स्वरूप रामकी भक्तिको रामानंद ही ले आये। राम और उनकी भक्ति ये ही रामानंदकी कबीरको देन

है। उन्ही दो वस्तुओंने कबीरको योगियोंसे अलग कर दिया, सिद्धोंसे अलग कर दिया, पण्डितोंसे अलग कर दिया, मुल्लाओंसे अलग कर दिया। इन्हींको पाकर कबीर 'बीर' हो गये,—सबसे अलग, सबसे ऊपर, सबसे विलक्षण, सबसे सरस, सबसे तेज!

ऊपर बताई हुई बाह्याचारबहुल शुष्क साधनाकी मरुभूमिमें कबीर खडे थे। वे सहज ही गल जानेवाले जीव नहीं थे। उनकी भेदक दृष्टिसे वेश और भूषाकी व्यर्थता छिप नहीं सकती थी, थोथा तर्क और कुटिल तत्त्वज्ञान उन्हें भरमा नहीं सकता था, कूट वचन और मधुर शब्दजाल उन्हें फँसा नहीं सकते थे। वे सर्वत्र एक विचित्र प्रकारका अभाव अनुभव कर रहे थे। सारा ससार अपनी अपनी आगमें जल रहा था। ऐसा कोई नहीं मिलता था जिससे लगकर वे रह सकें। कसाला यह था कि जिससे हृदयकी बात कहते वही डंक मार देता, निर्भय भावसे निःशंक होकर जिस आदमीसे दिलकी बात कही जा सके ऐसा कोई मिल नहीं रहा था[1]। वे व्याकुल भावसे कुछ खोज रहे थे पर पा नहीं रहे थे, सारा मन और प्राण संशयके विषसे जर्जर हो गये थे। हृदय बेचैन था, ऐसा प्रेमी मिल नहीं रहा था जिसके प्रेमपूर्ण संसर्गसे यह साराका सारा हलाहल अमृत हो जाता। ठीक ऐसे ही समयमें रामानदसे उनको भेट हुई। यह बहुत अच्छा हुआ जो गुरु मिल गये, नहीं तो बडी हानिकी संभावना थी। कौन जानता है, कबीर भी औरोंकी तरह माया-रूपी दीपकको अपना पूर्ण लक्ष्य समझ कर पतंगकी तरह न कूद पडते? सारी दुनिया तो ऐसी ही है। कौन है जो इस माया दीपकका पतंग नहीं बन गया? ऐसे बडभागी अंगुलियोंपर ही गिने जा सकते हैं जो गुरुकी

---

[1] ऐसा कोई ना मिले जासों रहिये लागि।
सब जग जलता देखिया अपनी अपनी आगि॥ ५॥
ऐसा कोई ना मिले जासा कहूं निसक।
जासो हिरदकी कहूं सो फिरि मारै डक॥ ६॥

—क० ग्र०, पृ० ६६

[2] प्रेमी ढूँढत म फिरौ प्रेमी मिल न कोइ।
प्रेमीकौं प्रेमी मिलै तब सब विष अम्रत होइ॥ १२॥

—वही पृ० ६७

कृपासे उबर जाते हैं। कबीरदासने सद्गुरुको पाकर अपनेको बड़भागी समझा, गुरुकी सफलता केवल गुरुके ही महत्त्वपर ही निर्भर नहीं होती। शिष्य भी ऐसा ही कृती चाहिये। कबीर ऐसे ही शिष्य थे[1]।

अनन्त थी इस सद्गुरुकी महिमा, अनन्त था उपकार। अनन्त दृष्टि उन्होंने खोल दी और अनन्तको दिखा दिया। क्या था यह अनन्त? राम-नाम। इस महामन्त्रकी पटतर देने लायक जगतमें कौन-सी चीज है? हाय, कबीरदासके पास ऐसा कौन-सा धन था जिसे देकर वे गुरुकी इस महादान-जन्य कृपापर अपनी कृतज्ञता प्रकट करते[2]। उन्हें सारा सूरा तो बहुत मिले थे जो अपनी बाण-विद्यासे दूसरोंको घायल कर दें पर ऐसा कोई नहीं मिला था जो राम चोट खाये हुए हो। और तब तक रामभक्तिके दृढ़ होनेकी आशा ही क्या थी जब तक किसी घायलसे मुलाकात न हो जाती[3]। इस बार उन्हें ऐसा घायल मिला। घायल जो रामके प्रेमका दीवाना था, जो स्वयं भगवद्‌-प्रेमकी चोट खा चुका था। उस प्रकारके कराल द्वन्द्वसे, संशय और दुविधासे छुड़ा सकनेवाले युगगुरु रामानंद ही थे। इस विषयमें उन लोगोंको भले ही संदेह हो जो कबीरदासके नामपर उलटा सीधा मत मतांतर चलाना चाहते हों, स्वयं कबीरदासको कोई संशय नहीं था—

१ भली भई जो गुर मिल्या नहिं तर होती हाणि।
दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड़ता पूरी जाणि॥ १९॥
माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पडन्त।
कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरन्त॥ २०॥
सतगुरु बपुरा क्या करै जो सिषही माहै चूक।
भावै त्यूं प्रमोधि लै, ज्यूं बंसि बजाई फूक॥ २१॥ क० ग्रं० पृ० ३

२ सतगुरुकी महिमा अनत, अनत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनत दिखावणहार॥ ३॥
रामनामकै पटतरै, देबेकौं कछु नाहिं।
क्या लै गुरु संतोषिए, हौस रही मनमाहिं॥ ४॥—वही, पृ० १

३ सारा सूरा बहु मिले, घाइल मिले न कोइ।
घाइल ही घाइल मिलै, तब राम भगति दिढ़ होइ॥—वही, पृ० ६७

सद्गुरुके परतापते मिटि गयौ सब दुख-दद।
कह कबीर दुबिधा मिटी, गुरु मिलिया रामानन्द॥
(स० क० सा० ११८)

क्या हुआ जो वे ब्राह्मण थे और कबीरदास जुलाहे, क्या हुआ जो वे काशीके आचार्य थे और कबीरदास कमीनी जातिके 'बन्दे'? प्रेम दूरी नही जानता, भेद नही जानता, जाति नही मानता, कुछ नहीं देखता। कुमुदिनी पानीमे रहती है चॉद आकाशमे, फिर भी जो जिसका मनभावन है वह सदा पासमें ही रहता है। अगर गुरु वाराणसीमे ही होते और कबीरदास कहीं समुद्रपार, तो भी उनका वत्सल स्नेह शिष्यके पास पहुँच कर ही रहता, कबीरदास तो बहुत नजदीक थे—

कमोदिनी जल हरि बसै, चन्दा बसै अकासि।
जो जाहीका भावता, सो ताहीके पास॥
कबीर गुरु बसै बनारसी, सिक्ख समन्दर पार।
बिसार्या नहि बीसरै, जे गुग होइ सरीर॥
(क० ग्र० पृ० ६७)

सो गुरुने इस रामनामके अलौकिक बीजको बो दिया। कबीरने इसके अकुरको प्रेमकी धारासे सींचा (क० ग्र० पद २१६)। धन्य है वह सुन्दरी जिसने वैष्णवपुत्र पैदा किया, जिसने रामनामका सुमिरन करके निर्भयता पा ली। सारी दुनिया भटकती ही रह गई[1]। इस प्रकार सारे ससारको ढूँढ-खोज कर कबीरने ठोक बजा कर देख लिया कि हरि बिना इस दुनियामे अपना कोई नही है[2]। इस रामनामकी महिमा अपरम्पार है। इस मन्त्रको पाते ही कबीरदास केवड़ेके फूल हो गये और भक्त लोग भौंरोंकी भॉति इस सौरभशालीके चारो ओर एकत्र हो गये। जहॉ जहॉ कबीरकी भक्ति गई वहॉ वहॉ रामका निवास हो गया—

---

१ कबीर धनि वे सुदरी जिन जाया वैस्नौ पूत।
राम सुमरि निरभै हुआ, सब जग गया अऊत॥
—क० ग्र० पृ० ५३

२ कबीर सब जग हडिया, मदिल कन्धि चढाइ।
हरि बिन अपना कोइ नहिं, देखे ठोकि बजाइ॥
—वही पृ० ६१

कबीर भया है केतकी, भँवर भये सब दास।
जहँ जहँ भगति कबीरकी, तहँ तहँ राम निवास॥

—क० ग्र० पृ० ५३

जन्म-जन्मान्तरसे नाना भवचक्रमें घूमते हुए कबीरदास थक गए थे, अकारण जीवनका व्यर्थ भार ढोते ढोते वे हैरान थे, दुःखके बोझने जब उन्हें लाचार बना दिया था, वे हारे हुए योधाकी भाँति संसारको सूना देख रहे थे, ठीक ऐसे ही समय गुरुका साक्षात्कार हुआ। प्रेमभक्तिके महारससे गुरुका भाण्डार परिपूर्ण था, उन्होंने बड़ी कृपा-पूर्वक वह महारस कबीरको दे दिया। इस प्रेम भक्तिके असाधारण रसको पीकर वे धन्य हो गए—

भ्रमत जोनि जनम भ्रमि थाके
अब दुख के हम हारयो रे।
कहि कबीर गुरु मिलत महारस
प्रेम-भगति निस्तारयो रे॥

(पृ० २९२)

कबीरदास मनुष्य थे, पर इस प्रेम रसके पानसे देवता हो गए। बलिहारी है उस महागुरुकी जिसने मनुष्यको देखते देखते देवता बना दिया!—

बलिहारी गुर आपणौं द्यौं हाड़ी के बार।
जिनि मानिष तें देवता, करत न लागी बार॥

(पृ० १७)

और इस प्रकार द्रविड़ देशमें उपजी हुई जिस भक्तिको रामानन्द उत्तर-खण्डमें ले आए थे उसे कबीरने सप्त द्वीप और नौ खण्डोंमें व्याप्त कर दिया—

भक्ती द्राविड़-ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीरने, सप्तद्वीप नवखण्ड।

(स० क० सा० १५।१)

११—'सन्तो, भक्ति रातो गुरु आनी'

कबीरदासने बार बार कहा है कि सद्गुरु भक्ति ले आए हैं[1]। यह भक्ति क्या है? कबीरदासकी इस भक्तिकी व्याख्या करनेका प्रयास बहुतोंने किया है। पर या तो उन्हें अपढ़ गँवार समझ कर इस प्रकार समाधान कर लिया गया है कि उन्हें निर्गुण सगुण और द्वैत-अद्वैत आदि किसी भी विषयका ठीक ठीक ज्ञान नहीं था या फिर उन्हें सर्वज्ञ सर्व नियन्ता समझ कर उनके नामपर विचित्र विचित्र बातोंका 'सागर' निर्माण किया गया है और मनमानी कथायें तैयार करके सम्प्रदायके लोगोंको भुलावा देनेका प्रयत्न किया गया है। दोनो ही रास्ते गलत हैं। प्रथम पक्ष तो यही नहीं समझ पाता कि निर्गुण अद्वैतके साथ भक्ति कैसे चल सकती है? पाठकोंने अब तक देख लिया होगा कि कबीर तात्त्विक दृष्टिसे अद्वैतवादी नहीं थे और उनके 'निर्गुण राम' में और वेदान्तियोंके पारिभाषिक 'निर्गुण ब्रह्म' मे मौलिक भेद है। फिर भी इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कबीरदास रामको रूप रेखा, आकार-प्रकार, द्वैत अद्वैत, भाव-अभावसे परे समझते थे (देखिये ऊपर पृ० १२२-१२७)। प्रश्न यह है कि क्या ऐसा रूपातीत भगवान भक्तिका विषय हो सकता है?

इस प्रश्नका उत्तर बहुत कठिन नहीं है। सर्ववादि-सम्मत मत यह है कि भक्ति भगवद्विषयक प्रेमको ही कहते हैं (नारद भक्तिसूत्र, १-२) भक्ति-रसामृत-सिंधुमें इसी बातको इस प्रकार कहा गया है कि अनुकूल भावसे भगवानके विषयमें अनुशीलन करना ही भक्ति है। यह अनुशीलन ज्ञान और कर्मसे ढँका हुआ नहीं होना चाहिए और न अनुशीलन करनेवालेके हृदयमें भगवान्की भक्तिके सिवा और कोई अभिलाषा होनी चाहिऐ। भगवद्विषयक यह जो अहैतुक या कारण-

---

१ बीजक० शब्द० १, क० वच० पृ० १२५ पद ६६

अन्याभिलषिता-शून्य ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

भ० र० सि० १।९

रहित प्रेम है वह न तो निरुपाधिक स्वरूपके लिये असंभव है और न अद्वैत भावनाके विरुद्ध। नारद पंचरात्रमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि भगवानके सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त स्वरूपको तत्पर होकर (अर्थात् अनन्य भावसे) समस्त इन्द्रियों और मनके द्वारा सेवन करना ही भक्ति है[1]। अद्वैत भावना भक्तिके मार्गमें बाधक नहीं है इसके प्रमाण है, तुलसीदास, शंकराचार्य और अन्यान्य बहुतेरे शैव और तान्त्रिक साधक। इस भावनाके अनुसार जीव वस्तुतः भगवानका ही रूप है जो भ्रमवश अपनेको पृथक् समझ रहा है। इस अंशकी अपने स्वाभाविक रूपमें फिर जानेकी जो चेष्टा है वह अभेदमूलक आकर्षण है। नदीके प्रवाहका प्रत्येक बिन्दु जो समुद्रकी महान सत्तामें विलीन होनेके लिये दौड़ लगा रहा है वह इसी अभेद-प्रतीति-जन्य प्रेमके कारण[2]। भक्तिके आचार्य मानते हैं कि भगवानका स्वरूप मानवीय चिन्तन शक्तिके वशका नहीं है। वह अचिन्त्य है। अनन्त है उसकी शक्ति और अगम्य है उसकी मूर्ति। कबीरदासने उसी बातको समझानेके लिये भगवान्को अविगत-अकल अनूपम कहा है (क० ग्र० पद ६), अचिन्त्य और अकथ बताया है (पद ३६), गूँगेका गुड़ (पद ६८) और शर्करा (पद १५६) कहा है।

भक्त लोग मानते हैं कि इस अनन्त अचिन्त्य भगवानको सच्चिदानंद कह कर

१ सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते॥

—ना० प० सि १। १२

२ तु०—दरियावकी लहर दरियाव है जी,
दरियाव औ लहर भिन्न कोयम।
उठे तो नीर है बैठता नीर है,
कहो किस तरह दूसरा होयम।
उसीके नामको फेरके लहर धरा
लहरके कहे क्या नीर खोयम।
जक्त ही फेर सब जक्त है ब्रह्ममें
ग्यान करि देख कब्बीर गोयम।

—क० वच० पृ० १३१—४ पद ८०

यद्यपि विधिरूपसे कथंचित् समझाया जा सकता है (क्योंकि श्रुतियोंमे नेति नेति कह कहकर उसे निषेध रूपमें ही समझाया गया है, केवल ' सत्-चित्-आनन्द ' कहकर ही उसके विधि-रूपकी ओर इशारा किया गया है) फिर भी हम नहीं जानते कि सत्ता (सत्), चैतन्य (चित्) और आनन्दके अतिरिक्त उसम और क्या है। कितने ही भक्त होते हैं जो उसके अंश-विशेषके साथ ही अपनी अभिन्नता अनुभव करके आत्माराम हो रहते हैं। वे भगवान्के केवल चैतन्य-अंशके साथ अपने चित्स्वरूपको अभिन्न समझ लेते हैं। ऐसे ही भक्त अद्वैत-वेदान्ती हैं। यद्यपि वे अपनेको ज्ञानमार्गी कहते हैं तथापि वे भी वस्तुत भगवान्के परम प्रेमके ही साधक हैं। एक और प्रकारके साधक हैं जो माया और परम पुरुषको अलग अलग कर शक्ति और शक्तिमानके भेदको कभी भूलते ही नहीं। ये ऐश्वर्यरूपके उपासक भी वस्तुत: भगवान्के परम प्रेमके ही उपासक हैं। भगवान्का प्रेम एक और अखण्ड है। उसके अंश-विशेषके प्रति आसक्ति प्रकट करने मात्रसे उसकी अखंडता खण्डित नहीं होती। भक्तिके साथ इन साधना-मार्गोंका कोई विरोध तो क्या होगा, वे सभी वस्तुत: भक्तिके ही प्रकार हैं। यही दिखानेके लिए श्रीमद् जीवगोस्वामिपादने भागवत्-सन्दर्भमें पहले ही भगवान्के इस अखण्ड-प्रेम परिपूर्ण रूपकी वन्दना इस प्रकार की है—

यस्य ब्रह्मेति संज्ञां क्वचिदपि निगमे याति चिन्मात्र-सत्ता-
प्यंशो यस्यांशकैः स्वैर्विदधति वशयन्नेव मायां पुमांश्च।
एकं यस्यैव रूपं विलसति परमव्योम्नि नारायणाख्यं
स श्रीकृष्णो विधत्तां स्वयमिह भगवान् प्रीतिं तत्पादभाजाम्॥

(भागवत-सन्दर्भ १।८)

जो लोग भक्तिमूलक वाणियोंको ऊपर ऊपरसे ही खुरचकर रस निकाल लेना चाहते हैं उन्हें उस रसका साक्षात्कार नहीं हो सकता। भक्ति भाग्यकी चीज है, प्रेम-प्रीतिका विषय है, वह उसे नहीं पा सकता—

भाग बिना नहिं पाइये, प्रेम प्रीतिकी भक्त।
बिना प्रेम नहिं भक्ति कछु, भक्ति परयो सब जक्त॥

(स० क० सा० १५।११)

भक्तिका साहित्य भी प्रेमकी अपेक्षा रखता है।

भक्तोंका यह भी दावा है कि वेदान्तमें जिसे 'ब्रह्म-जिज्ञासा' या ब्रह्मकी जानकारीकी इच्छा कहा गया है वह वस्तुतः भक्ति ही है, क्योंकि, कठोपनिषदमें (२।२२) साफ साफ कहा गया है कि 'परमात्मामें जिसकी भक्ति-श्रद्धा है उसीसे परमात्मा प्रसन्न होते हैं' और वे जिससे प्रसन्न होते हैं वही जिज्ञासा आदिके द्वारा उन्हें प्राप्त करता है। और फिर यह अत्यन्त मोटी-सी बात है कि जब तक श्रद्धा और प्रेम अधिक नहीं हो जाते तब तक जाननेकी इच्छा (जिज्ञासा) भी नहीं जागती। इसीलिए नाना वेदान्त-दर्शनके प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' की कमीको पूरा करनेके लिए ही भक्ति-सूत्रकारने कहा, '*अथातो ब्रह्म जिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे* (*अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा और कुछ नहीं ईश्वरविषयक परम अनुरक्ति ही है*)। 'बोधसार' में आचार्य नरहरिपादने भी कहा है कि जिसे वेदान्तमें अपरोक्षानुभूति कहते हैं वह वस्तुतः प्रेम-लक्षणा भक्तिका ही परिणाम है[२]। और भागवतमें अहैतुक निष्काम भक्तिका फल वैराग्य और ज्ञान ही बताया गया है[३] जो वेदान्तका भी लक्ष्य है।

अब यह मानी हुई बात है कि प्रेम आश्रय-भेदसे भिन्न हो जाता है। रूप-गोस्वामिपादने कहा भी है कि स्वभाव, संस्कार और रुचिवश भक्त लाखों तरहके हो सकते हैं। इसीलिए भक्तिके अंग और भेद भी अनन्त प्रकारके कल्पना किए जा सकते हैं या फिर एक ही भेद माना जा सकता है। वह इस प्रकार कि भक्ति एक ही है, केवल आश्रय-भेदसे अनेक प्रकारकी दीखती है (भ० र० १।४२-३)। भक्ति-शास्त्रीय-ग्रन्थोंमें जो अंग और भेद गिनाए गए हैं वे उपलक्षण-मात्र हैं। वस्तुतः जैसा कि गोस्वामि तुलसीदासजीने कहा है,

---

१ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥—कठो० पृ० ६

२ अपरोक्षानुभूतिर्या वेदान्तेषु निरूपिता।
प्रेमलक्षणभक्तेः स परिणाम स एव हि॥

३ वासुदेवे भगवति भक्तियोग प्रयोजित।
जनयत्याशु वैराग्य ज्ञान च यदहेतुकम्।

—भागवत० १-२ १

हरि भी अनन्त हैं, उनकी कथा भी अनन्त है और श्रुति तथा सन्त उसका अनन्त भाँतिसे भजन भी करते हैं—

हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।
बहु प्रकार गावहिं श्रुति सन्ता॥

सो गुरुपदाश्रय प्रभृति जो भेद भक्ति शास्त्रोंमें बताये गए हैं वे अन्तिम और पूर्ण नहीं हैं। श्रवण कीर्तन आदि प्रकार भी उपलक्षण भर ही हैं। भक्तिके लिए केवल एक ही बात आवश्यक है,—अनन्यभावसे भगवान्की शरणागति, अहैतुक प्रेम, बिलाशर्त आत्मसमर्पण। कबीरदासमें इन बातोंकी चरम परिणति हुई है। वे गोविन्दको बार बार पुकार कर कहते हैं[1], 'हे गोविन्द, मैं तुम्हारी शरण आया हूँ, क्यों नहीं मुझे उबार देते? वृक्षके नीचे आदमी छायाके लिए जाता है, अगर उस वृक्षसे ही ज्वाला निकलने लगे तो उपाय ही क्या रह जायगा? आदमी पानी पीकर शीतल होनेके लिए जलाशयमें जाता है पर अगर वहाँसे आगकी लपटें निकलने लगें तो क्या किया जा सकता है? हे नाथ, कबीर केवल तुम्हींको जानता है, वह तुम्हारे ही शरण आया है। पर कैसे आश्चर्यकी बात है कि तुम्ही उसे जला रहे हो। हे गोविन्द, सचमुच ही तुम डरनेकी चीज बन गये हो। कहाँ तो तुम्हें अपने प्रेम पीयूषसे शरणागतकी रक्षा करनी थी, सो तो तुमने की नहीं उल्टे वियोगकी वह्निमें झुलसाने लगे। (पद-११२) "अजी हो गुसाईं, मैं गुलाम हूँ, मुझे बच दो। यह सारा तन-मन-धन तेरा है और तेरे ही लिये है। राम ही गाहक है, राम ही सौदागर। कबीरने तो तन

---

१ गोव्यंदे तुम्हथै डरपा भारी।
सरणाई आयौ क्यू गहिये, यह कौन बात तुम्हारी।
धूप दाझतें छाह तकाई, मति तरवर सचपाऊं।
तरवरमाहैं ज्वाला निकसै, तौ क्या लेइ बुझाऊं।
बजे बन जलै त जलकू धावै, मति जल सीतल होई।
जलही माँहि अगिनि जे निकसै, और न दूजा कोई।
तारण तिरण तिरण तू तारण, और न दूजा जानों।
कहै कबीर सरनाई आयौ, आन देव नहिं मानों॥

—क० ग्र० पद ११२

और मन निछावर करके अपने आपको रामपर कुर्बान कर दिया है[1] ।" (पद ११३) "बालमके बिना कबीरदासकी आत्मा तड़प रही है । दिनको चैन नहीं, रातको नींद नहीं । सेज सूनी है, शरीर चर्खा बन गया है । आँखें थक गई हैं, राह दिखती नहीं । हाय रे बेदरदी पिया, तूने सुध भी नहीं ली ।"[2] "हाय, वह विरहकी मारी वियोगिनी पिऊ पिऊ करके जान दे रही है । किन्तु निर्गुण है वह पीव, —निर्मोही है वह भगवान् ! शून्य-सनेही राम ही उसके एकमात्र आराध्य हैं और कौन है जो उस पतिप्राणका दर्शनीय बन सके[3] ?" "हाय कबीरदासके वे दिन कब आवेंगे जब उनका जीवन सफल होगा, देह धरनेका फल प्राप्त होगा, जब पियाके साथ अगमें अग मिलाकर रभस आलिंगनका मौका मिलेगा, जब वे प्रियके साथ हिल-मिल कर खेलेंगे, जब उनके शरीर और इन्द्रिय, मन और प्राण प्रियतममें एकरूप हो जायेंगे । न जाने रामराजा वह

१ मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं ।
तन मन धन मेरा रामजीके ताईं ।
आनि कबीरा हाटि उतारा,
सोइ गाहक सोइ बेचनिहारा ।
बेचे राम तो राखै कौन,
राखै राम तो बेचै कौन ।
कहै कबीर मैं तन मन जारया ।
साहिब अपना छिन न विसारया ।

२ तलफै बिन बालम मोर जिया ।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ तलफके भोर किया ।
तन मन मोर रहट अस डोले, सून सेजपर जनम छिया ।
नैन थकित भये पथ न सूझै, साँई बेदरदी सुध न लिया ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दुख जोर किया ।

—क० वच० पृ० १४१

३ मैं अबला पिउ पिउ करूँ, निर्गुन मेरा पीव ।
शून्य सनेही राम बिन, देखूं और न जीव ॥

—स० क० सा० २७ २४

कामना कब पूरी करेंगे[1]। हाय, विरहकी मारी कबीरदासकी आत्मा पिया-मिलनकी आशा लेकर कब तक खड़ी रहे? पियाका निवास ऊँचेपर है। वहाँ जानेमें कितनी झिझक है, कितनी लज्जा! पैर उठते ही नहीं, उठते हैं तो तलमला जाते हैं। सात्त्विक भावके कम्प और रोमांचसे सारा अंग शिथिल हो जाता है, पैर आगे पड़ते ही नहीं, प्रीति-आशंकासे हृदय अस्थिर हो उठता है। हाय, इसने कभी भी तो उस मधुर मिलनका अनुभव नहीं किया,—निपट बारी, निपट अनाड़ी है यह। सँकरा मार्ग है, अटपटी चाल है, मिलन हो तो कैसे हो? सद्‌गुरुके उपदेश ही इस विपत्तिकालमें सहारा हैं[2]।" "अरे ओ परदेशी, पियाको

---

[1] वै दिन कब आवैंगे माइ।

जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंग लगाइ॥
हौं जानूं जे हिलिमिलि खेलूं, तन मन प्रान समाइ॥
या कामना करौ परिपूरन, समरथ हो राम राइ।
माहिं उदासी माधव चाहै, चितवत रैनि बिहाइ।
सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊं तब खाइ॥
यहु अरदास दासकी सुनिये, तनकी तपति बुझाइ।
कहै कबीर मिलै जे साईं मिलि करि मंगल गाइ। —क० ग्र० पद ३०६

[2] पिया मिलनकी आस, रहौं कबलौं खरी।
ऊंचे नहिं चढ़ि जाय, मनै लज्जा भरी॥
पांव नहीं ठहराय, चढ़ूं गिर गिर परूं॥
फिरि फिरि चढ़उँ सम्हारि, चरन आगे धरूं॥
अंग अंग थहराइ, तो बहुबिधि डरि रहूं।
करम कपट मग घेरि, तो भ्रममें परि रहूं।
नारी निपट अनारि, ये तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार, मिलन कस होइ है॥
छोरो कुमति विकार, सुमति गहि लीजिये।
सतगुरु शब्द सम्हारि, चरन चित दीजिये॥
अन्तरपट दे खोल, शब्द उर लावरी।
दिलबिच दास कबीर, मिलैं तोहिकों बावरी॥—क० वच० पृ० १४१-२

पहचान ले। कुछ समझमें नहीं आता कि तुझे हो क्या गया है, कौन-सी बुरी आदत तूने सीख ली है ? सारी दुनियाका चक्कर मारकर तूने क्या कर लिया, अरे ओ भलेमानस, लाभकी आशामें मूल ही न गवा दे। झूठे प्रपञ्च-जालमें भूले हुए भोले, क्यों दूसरोंके हाथ बिका हुआ है ? जल्दी अपने असली प्रियतमको पहचान ले। आज-कल करके समय नष्ट न कर।" "क्यों सोचता है कि उस अविनाशी पियाकी सेज कैसी होगी ? वह अनुमानके परे है। उसकी शोभा कह कर समझानेकी नहीं है, वह देखते ही बनती है। अरे ओ विरहिणी, चल उस अविनाशी प्रियतमकी शय्यापर केलि करनेके लिये। कबीर साक्षी है कि वहाँ परमानन्द विलास करता है[२]।" "हाय, ऐसा कोई परोपकारी क्या नहीं है जो उस प्रियतमसे कह सके कि कबीर तेरे विरहमें झुलस रहा है ? जब तक उस प्रियके साथ एकमेक हो कर मिला नहीं जाता तब तक तनकी तपन कहाँ बुझती है[३]।"

१ अरे परदेसी पीव पिछानि।

कहा भयो तोकौं, समझि न परई, लागी कैसी बानि॥
भोमि बिडाणीमैं कहा रातौ, कहा कियौ कहि मोहि॥
लाहै कारनि मूल गमावै समझावत हूँ तोहि।
निस दिन तोहि क्यों नींद परत है, चितवत नाहीं ताहि।
जम से बैरी सिरपर ठाढ़े, पर हाथि कहा बिकाइ॥
झूठे परपंच कहा लागौ ऊठै नाहीं चालि।
कहै कबीर कछु बिलम न कीजै कौन देखी काल्हि॥—क० ग्रं० पद ३१

२ अविनासीकी सेजका, कैसा है उनमान।
कहिबेकी सोभा नहीं, देखे ही परमान॥
अविनासीकी सेजपर, केलि करै आनन्द।
कहै कबीर वा सेजपर, बिलसत परमानन्द॥
स० क० सा० १८, ७४ ७५

३ है कोइ ऐसा पर-उपगारी
हरिसूं कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं,
बिनु देखे जिय जाइ रे॥—क० ग्रं० पद ३०७

यही है वह अपूर्व तन्मयता, अहैतुक प्रेम, अनन्य-परायण विश्वास और एकान्त निष्ठा जो भक्तिकी एकमात्र शर्त है। कबीर निस्सन्देह ऐसे भगवान्को मानते थे जो द्वन्द्वातीत है, पक्षातीत है, द्वैताद्वैत विलक्षण है, त्रिगुण-रहित है, 'अपरम्पार पारपुरुसोतिम' है, अकथ है, अकल है, अतीत है, परन्तु कौन भक्त भगवान्को ऐसा नहीं मानता? जो लोग शास्त्रज्ञानका दावा करते हैं और फिर भी कबीरकी भक्ति और अद्वैत भावना और निर्गुण-प्रेमको परस्पर विरोधी समझते हैं उनका उद्देश्य क्या है, यह वही जानें। हम तो दृढताके साथ कहनेका साहस करते हैं कि कबीरकी भक्ति और भगवद्भावनामें न तो युक्तिसे विरोध है और न शास्त्रसे। कहीं जो विरोध दीखता है तो उसका ऐतिहासिक कारण है। उसका समाधान कर लेना कठिन नहीं है। कबीरदास योग मार्गकी ओर झुके हुए थे। उनके कुलमें और कुल गुरु परम्परामें वह मार्ग प्रतिष्ठित था। बादमें उनका समागम रामानन्दसे हुआ। यह बात कुछ असम्भव नहीं कि रामानन्दके प्रभावमें आनेके पूर्व उन्होंने ऐसे बहुत-से पद लिखे हों जिनमें योग-सम्प्रदायकी परम्परा-प्राप्त अक्खड़ता ही परिलक्षित होती हो और भक्ति-रसका लेश भी न हो। कबीर जैसा फक्कड़ जिस चीजको गलत समझेगा उससे इसीलिए अनन्त काल तक चिपका नहीं रहेगा कि वह कुल-परम्परासे आई है—

तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।

सो जिस दिनसे महागुरु रामानन्दने कबीरको भक्ति-रूपी रसायन दी उस दिनसे उन्होंने सहज-समाधिकी दीक्षा ली, आँख मूँदने और कान रूँधनेके टंटेको नमस्कार कर लिया, मुद्रा और आसनकी गुलामीको सलामी दे दी। उनका चलना ही परिक्रमा हो गया, काम-काज ही सेवा हो गये, सोना ही प्रणाम बन गया, बोलना ही नाम-जप हो गया और खाने-पीनेने ही पूजाका स्थान ले लिया। हठयोगके टंटे दूर हो गये, खुली आँखोंसे ही उन्होंने भगवान्के मधुर मादक रूपको देखा, खुले कानोंसे ही अनहद नाद सुना, उठते-बैठते सब समय समाधिका आनन्द पाया और अत्यन्त उल्लासके आवेगमें उन्होंने घोषित किया—

साधो, सहज समाधि भली।
गुरु-प्रताप जा दिनसे उपजी, दिन दिन अधिक चली॥

जहँ तहँ डोलो सोई परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा ।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत, पूजों और न देवा ।
कहौं सो नाम सुना सो सुमिरन, खाव-पियों सो पूजा ।
गिरह उजाड़ एक सम लेखा, भाव न राखों दूजा ॥
आँख न मूँदों कान न रूंधों, तनिक कष्ट नहिं धारो ।
खुले नैन पहिचानो हँसि हँसि, सुंदर रूप निहारो ।
सबद-निरन्तरसे मन लागा, मलिन वासना त्यागी ।
ऊठत-बैठत कबहु न छूटै, ऐसी तारी लागी ॥
कह कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट करि गाई ।
दुख-सुखसे कोइ परे परमपद, तेहि पद रहा समाई ॥

—शब्दा० शब्द २०

धन्य हैं वे गुरु, वे सचमुच उस भ्रमरीके समान हैं जो निरन्तर ध्यानका अभ्यास कराकर कीटको भी भ्रमरी (तितली) बना देती है । कीड़ा भ्रमरी हो गया, नई पाँखें फूट आईं, नया रंग छा गया, नई शक्ति स्फुरित हुई । उन्होंने जाति नहीं देखी, कुल नहीं विचारा । अपने आपमें मिला लिया । नालेका पानी गंगामें जाकर गंगा ही जाता है, कबीर गुरुमें मिलकर तद्रूप हो गये । धन्य हो गुरो, तुमने चञ्चल मनको पंगु बना दिया, तत्त्वमें तत्त्वातीतको दिखा दिया, बन्धनसे निर्बन्ध किया, अगम्य तक गति कर दी । केवल एक ही प्रेमका प्रसंग तुमने सिखाया पर कैसा अचरज है कि इस प्रेम मेघकी वर्षासे यह सारा शरीर भींग गया ! रससिक्त आत्मामें भक्तिका अंकुर लहलहा उठा—

कबीर बादल प्रेमका, हम परि बरष्या आइ ।
अंतरि भीगी आत्मा, हरी भई बनराइ ॥
पूरेसूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि ।
निर्मल कीन्ही आतमा, तायै सदा हजूरि ॥

—क० ग्र० पृ० ४

१२—व्यक्तित्व-विश्लेषण

कबीरदासकी वाणी वह लता है जो योगके क्षेत्रमें भक्तिका बीज पड़नेसे अङ्कुरित हुई थी। उन दिनों उत्तरके हठयोगियों और दक्षिणके भक्तोंमें मौलिक अन्तर था। एक टूट जाता था पर झुकता न था, दूसरा झुक जाता था पर टूटता न था। एकके लिए समाजकी ऊँच-नीच-भावना मजाक और आक्रमणका विषय थी, दूसरेके लिए मर्यादा और स्फूर्तिका। और फिर भी विरोधाभास यह कि एक जहाँ सामाजिक विषमताओंको अन्याय समझकर भी व्यक्तिको सबके ऊपर रखता था वहाँ दूसरा सामाजिक उच्चताका अधिकारी होकर भी अपनेको 'तृणादपि सुनीचेन' (तृणसे भी गया गुजरा) समझता था। योगी डटकर जाति-भेदपर आघात करता था, बाह्याचार और तन्मूलक श्रेष्ठताको फटकार बताता था, पर भीतर और बाहर योग-मार्गका प्रत्येक अनुयायी अपनेको समाजके अन्य निकृष्ट जीवोंसे श्रेष्ठ समझता था, दूसरोंकी बहिर्मुखी वृत्तिपर तरस खाता था, नाना प्रकारकी पेचीदी बातोंमें उसका मजाक बनाता था और आशा करता था कि लोग उसके अचरज-करिश्मे देखकर दाँतों तले उँगली दबा लें। भक्त जाति भेद, वर्णाश्रम व्यवस्था और उच्च-नीच मर्यादाको शिरसा स्वीकार कर लेता था, अपनेको भवसागरमें भटकता हुआ गुमराह प्राणी मानता था, अपनी पुरानी पाप-भावनाके लिये बार बार पश्चात्ताप करता था और आशा करता था कि सर्वान्तर्यामी भगवान् उसके हार्दिक अनुतापको जरूर सुन लेंगे और भव-बन्धनसे उसे मुक्त कर देंगे। एकको अपने ज्ञानका गर्व था, दूसरेको अपने अज्ञानका भरोसा, एकके लिये पिण्ड ही ब्रह्माण्ड था और दूसरेके लिये समस्त ब्रह्माण्ड भी पिंड, एकका भरोसा अपनेपर था दूसरेका रामपर, एक प्रेमको दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञानको कठोर, एक योगी था दूसरा भक्त।

साधारण जनतामें इन दोनोंसे दो प्रकारकी प्रतिक्रिया हुई। एकने श्रद्धालु गृहस्थके चित्तमें शङ्काका भाव पैदा कर दिया। वह सोचने लगा कि माया विकराल है, इससे छुटकारा पाना कठिन है, सिद्धिका मार्ग विघ्न सङ्कुल है। योग-क्रिया-हीन व्यक्तिकी न जाने कौन-सी दुर्गति होगी, चौरासी लाख योनियोंमें न जाने वह कब तक भटकता फिरेगा। भवजाल विकट है, मायाचक्र अनन्त है,

साधन-मार्ग दुरधिगम्य है, विघ्नोंकी वाहिनी रास्ता रोके खड़ी है और गृहस्थ लाचार है। दूसरे (भक्त) ने उसे लापरवाह बना दिया। गलतीसे भी एक बार हरिनाम निकलने ले लिया उसे कुछ और करनेकी जरूरत नहीं, विष्णुका तिलक एक बार अगर सिरपर चढ़ गया तो वैकुण्ठका दरवाजा खुला है, तुलसीकी माला यदि किसी प्रकार मिल गई तो गोलोकमें स्थान निश्चित है। कलियुग सब युगोंसे अच्छा है क्योंकि इसमें मानस-पापका कुछ फल नहीं होता किन्तु मानस पुण्यका पूरा फल मिलता है। रामका नाम रामसे भी बड़ा है, भयकी कोई जरूरत नहीं। योगने गृहस्थको जरूरतसे ज्यादा संशयालु बना दिया था, भक्तिने पूरा आशा-वादी। एकने मुक्तिको महँगा सौदा बना दिया दूसरेने बहुत सस्ता। योगमें गलदश्रु भावुकताको कोई स्थान नहीं। जो भक्ति पद पदपर भक्तको कम्प, आवेग, जड़ता और रोमोद्गमकी अवस्थामें ले आ देती है वह इस क्षेत्रमें अपरिचित थी। और यदि सचमुच ही भाग और विभाग कल्पित हैं, कल्प-विकल्प बेकार हैं, संसार मृगमरीचिका है, परमतत्त्व विभाग और अविभागसे परे है, सूक्ष्म और स्थूलके अतीत है, —यदि वह एक-रस है, सम-रस है तो फिर रोनेसे होता क्या है? अखण्ड चैतन्यस्वरूप अमायिक परमपुरुषके सामने यह विलाप क्यों? उस गुणहीन, विकारहीन, दया-माया-हीनकी पूजा क्या और स्तुति क्या[1]। निर्ममता और अमायिकता योगकी पहली शर्त है। इसीलिए वह अपने अनु-यायीको अक्खड़ बना देता है। कबीरदासने यह अक्खड़ता योगियोंसे विरासतमें पाई थी। संसारमें भटकते हुए जीवोंको देखकर करुणाके अश्रुसे वे कातर नहीं हो जाते थे बल्कि और भी कठोर होकर उसे फटकार बताते थे। वे प्रह्लादकी

---

[1] अविवेक विवेक विबोध इति, अविकल्प विकल्प विबोध इति।
यदि चैकनिरन्तरबोध इति, किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥
बहुधा श्रुतय प्रवदन्ति यतो, वियदादिरिदं मृगतोयसमम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वसमं किमु रोदिषि मानससत्यसमम्॥
सविभक्ति विभक्तिविहीनपरम, ननु कार्य विकार्य विहीन परम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं यजनं च कथं स्तवनं च कथम्॥

—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहमें अवधूत
गीताके वचन, पृ० ३५

भाँति सर्व जगत्के पापको अपने ऊपर ले लेनेकी वाञ्छासे ही विचलित नहीं हो पड़ते थे बल्कि और भी कठोर और भी शुष्क होकर सुरत और निरतका उपदेश देते थे। संसारमें भरमनेवालोंपर दया कैसी, मुक्तिके मार्गमें अग्रसर होनेवालोंको आराम कहाँ, करमकी रेखपर मेख न मार सका तो सन्त कैसा—

ज्ञानका गेंद कर सुर्तका डंड कर
खेल चौगान-मैदानमाँहीं।
जगतका भरमना छोड़ दे बालके
आय जा भेष भगवन्त पाहीं॥
भेष-भगवतकी शेष महिमा करे
शेषके सीरपर चरन डारे।
कामदल जीतिके कँवल-दल सोधिके
ब्रह्मको बेधिके क्रोध मारे॥
पदम-आसन करे पौन परिचै करै
गगनके महलपर मदन जारै।
कहत कब्बीर कोई सन्त-जन जौहरी
करमकी रेखपर मेख मारै॥

शब्दा० पृ० ५०

परन्तु अक्खड़ता कबीरदासका सर्वप्रधान गुण नहीं है। जब वे अवधू या योगीको सम्बोधन करते हैं तभी उनकी अक्खड़ता पूरे चढ़ावपर होती है। वे योगके निकट रूपकोंका अवतरण करते हैं, गगन और पवनकी पहेली बुझाते रहते हैं, सुन्न और सहजका रहस्य पूछते रहते हैं, द्वैत और अद्वैतके तत्त्वकी चर्चा करते रहते हैं और अवधूके अज्ञानपर कुटिल हँसी-सी हँसा करते हैं—

अवधू, अच्छरहूँसों न्यारा।
जो तुम पवना गगन चढाओ करो गुफामें वासा।
गगना-पवना दोनों बिनसे, कहँ गया जोग तुम्हारा॥
गगना-मद्धे जोती झलके, पानी-मद्धे तारा।
घटिगे नीर बिनसिगे तारा, निकरि गयौ केहि द्वारा॥
मेरुदंडपर डारि दुलैची, जोगी तारी लाया।
सोइ सुमेरपर खाक उड़ानी, कच्चा योग कमाया।

इँगला बिनसै, पिंगला बिनसै, बिनसै सुषमनि नाड़ी ।
जब उनमनिकी तारी टूटै, तब कहँ रही तुम्हारी ॥
अद्वैत-बिराग कठिन है भाई, अटके मुनिवर-जोगी ।
अच्छर लौकी गम्म बतावै, सो है मुक्ति बिरोगी ॥
कह अरु अकह दुहूते न्यारा, सत्त-असतके पारा ।
कहै कबीर ताहि लखा जोगी, उतरि जाय भव-पारा ॥

इसी भाषाको योगी समझते थे । ठीक भी है, यदि समाधि-मात्रगम्य निर्ममकी भजन-पूजा विहित नहीं है तो योगीसे भी तो उलटके उसी शुष्कता और उसी निर्ममताके साथ पूछा जा सकता है कि बाबा, उन्मनि तक तो ठीक है, वहा तुमने माना कि अक्षर-पुरुषका साक्षात्कार कर लिया परन्तु फिर ? जब समाधि भंग हुई,—जब उनमनिकी तारी टूटी, तब ? तब तो फिर उसी भवजलमें फिर लौट आये । अब तुम्हारी क्या गति होगी ? सो, कबीरदास अवधूतसे बात करते समय पूरी अक्खड़तासे काम लेते हैं और अपने व्यक्तित्वको बहुत ऊँचे उठाकर बोलते हैं, क्योंकि वे अवधूतके इस मनोभावको पहचानते हैं । एक बार अगर उसे अपने व्यक्तित्वको ऊपर उठा ले जानेकी छूट दे दी गई तो फिर उससे पार पाना कठिन है । विरोधीके ही अस्त्रसे विरोधीको घायल करनेकी कलामें कबीरदास उस्ताद हैं । गगन और पवनके बलपर आतंक जमानेवालेसे यह छोटा-सा प्रश्न कितना सहज और फिर भी कितना तिलमिला देनेवाला है : गगना पवना दोनों बिनसै कहँ गया जोग तुम्हारा ?

यह उनकी अनधिकार चर्चा नहीं थी । वे समाधिगम्य परमपुरुषका साक्षात्कार कर चुके थे, पवनको उलटकर सहस्रार चक्रमें ले जा चुके थे, वहाँके गगनका अनन्य साधारण गर्जन सुन चुके थे, अवशेष अमृत-वर्षी पावसका अनुभव कर चुके थे, उस महान् पदको देख आए थे जहाँ कोई विरला ही जा सकता है, जहाँ वेद और कतेबकी गम नहीं है, जहाँकी गगन गुफामें किसी गैबकी चाँदनी छिटकी हुई है, जहाँ उदय और अस्तका नाम भी नहीं है, जहाँ दिन और रातकी पहुँच नहीं है,—जो प्रेमके प्रकाशका समुद्र है, जो सदानन्दका विशाल निर्झर है, जो भ्रम और भ्रान्तिसे परे है, जो एक-रस है, ब्रह्मकी छौलमें (आनन्दमें) वे निश्चितरूपसे झूल चुके थे—

करत कल्लोल दरियावके बीचमें,
  ब्रह्मकी छौलमें हंस झूलै।
अर्ध औ' ऊर्ध्वकी पेंग बाढी तहाँ,
  पलट मन पवनको कँवल फूलै॥
गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै,
  होत झनकार नित बजत तूरा।
बेद कत्तेबकी गम्म नाही तहाँ,
  कहै कब्बीर कोई रमै सूरा॥
गगनकी गुफा तहँ गैबका चाँदना,
  उदय और अस्तका नाम नाही।
दिवस औ रैन तहँ नेक नहि पाइये,
  प्रेम-परकामके सिन्धु माहीं॥
सदा आनन्द दुख-दद ब्यापै नहीं,
  पूरनानन्द भरपूर देखा।
भर्म और भ्रान्ति तहँ नेक आवे नहीं,
  कहैं कब्बीर रस एक पेखा॥

—शब्दा० पृ० १०४

परन्तु वे स्वभावसे फक्कड़ थे। अच्छा हो या बुरा, खरा हो या खोटा, जिससे एक बार चिपट गये उससे जिन्दगीभर चिपटे रहो, यह सिद्धान्त उन्हें मान्य नाही था। वे सत्यके जिज्ञासु थे और कोई मोह-ममता उन्हें अपने मार्गसे विचलित नहीं कर सकती थी। वे अपना घर जलाकर हाथमें मुराड़ा लेकर निकल पड़े थे और उसीको साथी बनानेको तैयार थे जो उनके हाथों अपना भी घर जलवा सके—

हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ।
अब घर जारौं तासुका, जो चलै हमारे साथ॥

—स० क० सा० ५।८

वे सिरसे पैर तक मस्त-मौला थे। मस्त,—जो पुराने कृत्योंका हिसाब नहीं रखता, वर्तमान कर्मोको सर्वस्व नहीं समझता और भविष्यमें सब कुछ झाड़फटकार निकल जाता है। जो दुनियादार किये करायेका लेखा-जोखा दुरुस्त रखता है वह

मस्त नहीं हो सकता। जो अतीतका चिट्ठा खोले रहता है वह भविष्यका क्रान्त दर्शी नहीं बन सकता। जो इश्कका मतवाला है वह दुनियाके माप जोखसे अपनी सफलताका हिसाब नहीं करता। कबीर जसे फक्कड़को दुनियाकी होशियारीसे क्या वास्ता? वे प्रेमके मतवाले थे मगर अपनेको उन दीवानोंमें नहीं गिनते थे जो माशूकके लिये सरपर कफन बाँधे फिरते हैं, जो बेकरारीकी तड़पनमें इश्कका चरम फल पानेका भान करते हैं, क्योंकि बेकरारी उस वियोगमें होती है जिसमें प्रिय दूर हो,—उसे पाना कठिन हो। पर जहाँ प्यारेसे एक क्षणके लिए भी बिछोह नहीं, वहाँ तड़पन कैसी? जो गगरा भरी है उसमें छलकन कहाँ? जहाँ द्वैत-भावना ही मिट गई हो उस अजब मस्तीमें बेचैनी कहाँ?—

हमन है इश्क मस्ताना, हमनको होशियारी क्या।
रहें आजाद या जगसे, हमन दुनियासे यारी क्या।
जो बिछुड़े है पियारेसे, भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हममें, हमनको इन्तजारी क्या।
खलक सब नाम अपनेको, बहुत कर सिर पटकता है।
हमन गुरुनाम साँचा है, हमन दुनियासे यारी क्या।
न पल बिछुड़े पिया हमसे, न हम बिछुड़ें पियारेसे।
उन्हींसे नेह लागी है, हमनको बेकरारी क्या।
कबीरा इश्कका माता, दुईको दूर कर दिलसे।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या॥

शब्दा० पृ० १६–१७

इसीलिए ये फक्कड़राम किसीके धोखेमें आनेवाले न थे। दिल जम गया तो ठीक है और न जमा तो राम राम करके आगे चल दिये। योग-प्रक्रियाको उन्होंने डटके अनुभव किया, पर जँची नहीं। उन नकटोंके समान चुप्पी साधना उन्हें मालूम न था जिन्होंने इस आशापर नाक कटा ली थी कि इस बाधाके दूर होते ही स्वर्ग दिखाई देने लगता है। उन्हें यह परवा न थी कि लोग उनकी असफलतापर क्या क्या टिप्पणी करेंगे। उन्होंने बिना लाग-लपेटके, बिना झिझक और सकोचके ऐलान किया—

आसमानका आसरा छोड़ प्यारे,
उलटि देख घट अपना जी।

तुम आपमें आप तहकीक करो,
तुम छोडो मनकी कल्पना जी।
क० ग्र० पृ० १३३, प० ८७

आसमान अर्थात् गगन-चक्रकी परम ज्योति। जो वस्तु केवल शारीरिक व्यायाम और मानसिक शम-दमादिका साध्य है वह चरम सत्य नहीं हो सकती। योगी लोग एक प्रकारकी जड़-समाधिकी बात स्वीकार करते हैं जिसमें योगी लक्ष्य-भ्रष्ट होकर जड़ शरीर-विकारको सिद्धि समझने लगता है। परम पुरुष योगका परम प्रतिपाद्य है, आत्मा-गम्य है, वह ऑख कानका विषय नहीं है। केवल शारीरिक और मानसिक कवायदसे दीखनेवाली ज्योति जड़ चित्तकी कल्पना मात्र है। वह भी बाह्य है। कबीरने कहा, और आगे चलो। केवल क्रिया बाह्य है, ज्ञान चाहिए। बिना ज्ञानके योग व्यर्थ है। केवल पिण्डमें,—तत्रापि गगन गुफामें या शून्यचक्रमें यदि घटघटवासी मिलता है तो वही सिलसिला ही गलत हो गया है। अगर कहते हो कि वह केवल भीतर ही है तो बाहरका यह सारा विश्वब्रह्माण्ड मारे लज्जाके पानी पानी हो जाता है। क्या गगन-गुफाके बाहर सब कुछ भगवानके बाहर है, क्या उसके कणकणमें प्रभु व्याप्त नहीं है, क्या वह व्यर्थ ही जगतमे पडा हुआ है? पर अगर इसीकी ओर ताकें, यही मान लें कि बाहरकी सारी दुनियामें ही वह परम पुरुष रम रहा है और भीतर उससे शून्य है तो यह बात झूठ है। कबीरदासने कितनी ही बार 'कमल-कुआमें ब्रह्मरस' का पान किया था, गगनसे झरते हुए अमृत-रसका आस्वादन किया था। यह झूठ है कि वह परम-पुरुष भीतर नहीं है। जो कहता है कि वह भीतर ही है बाहर नही, वह सारे बाह्य जगतको व्यर्थ ही लज्जित करता है और जो कहता है कि वह भीतर है ही नहीं, वह झूठा है। कबीरदास हैरान हैं कि क्या कहकर इस अकथ कथाको कहें—

ऐसा लो, नहि तैसा लो।
मैं केहि बिधि कथौं, गंभीरा लो।
भीतर कहूँ, तो जगमय लाजै
बाहर कहूँ, तो झूठा लो।
बाहर-भीतर, सकल निरन्तर
गुरु-परतापैं दीठा लो।

कबीरकी यह घर फूँक मस्ती, फक्कड़ाना लापरवाही और निर्मम अक्खड़ता उनके अखण्ड आत्मविश्वासका परिणाम थी। उन्होंने कभी अपने ज्ञानको, अपने गुरुको और अपनी साधनाको सन्देहकी नजरोंसे नहीं देखा। अपने प्रति उनका विश्वास कहीं भी डिगा नहीं। कभी गलती महसूस हुई तो उन्होंने एक क्षणके लिए भी नहीं सोचा कि इस गलतीके कारण वे स्वयं हो सकते हैं, उनके मतसे गलती बराबर प्रक्रियामें होती थी, मार्गमें होती थी, साधनमें होती थी। शायद उनके नामपर चलनेवाले हजारों भजनोंमेंसे एक भी हमारे इस कथनके प्रतिवादमें नहीं उद्धृत किया जा सकता। उनकी अखण्ड आत्म-निष्ठामें एक क्षणके लिए भी दुर्बलता नहीं दिखाई दी। वे वीर साधक थे, और वीरता अखण्ड आत्मविश्वासको आश्रय करके ही पनपती है। कबीरके लिए साधना एक विकट संग्रामस्थली थी जहाँ कोई विरला शूर ही टिक सकता था। जिसे अपने सिरको उतारकर देनेकी कला नहीं आती वह इस मार्गका राही नहीं बन सकता—

पकरि समसेर मैदानमें पैसिये,
देह परजंत कर जुद्ध भाई।
काट सिर बैरियाँ दाब जहँका तहाँ,
आय दरबारमें सीस नाई।
करत मतवाल जहाँ संत-जन सूरमा,
घुरत निस्सान तहँ गगन घाई॥
कहै कब्बीर अब नामसों सुरखरू,
मौज दरबारकी भक्ति पाई॥

शब्दा० पृ० १०६

कबीर जिस साईंकी साधना करते थे वह मुफ्तकी बातोंसे नहीं मिलता था। उस रामसे सिर देकर ही सौदा किया जा सकता था—

साँई सेंत न पाइये, बातों मिलै न कोय।
कबीर सौदा रामसों, सिर बिन कदै न होय॥

स० क० सा० ८५ ४६

रामानन्दकी प्रेय-भक्तिका यह एक अभूतपूर्व परिणाम हुआ। भक्तिके अश्रु, स्वेद, कम्प आदि महाभाव हवा हो गये। भगवान्का प्रेम बड़ी चीज है, पर उस बड़ी चीजको पानेकी साधना भी बड़ी होनी चाहिये। प्रेमका यह व्यापार कुछ

खालाका घर नहीं है कि बात बातपर मचल गये और फरमाइश पूरी हुई। यहाँ तो वही प्रवेश पानेका हकदार है जो पहले सिर उतारकर धरतीपर रख दे—

कबीर यहु घर प्रेमका, खालाका घर नाहिं।
सीस उतारे हाथि करि, सो पैसे घरमाहि॥
कबीर निज घर प्रेमका, मारग अगम-अगाध।
सीस उतारि पगतलि धर, तब निकटि प्रेमका स्वाद॥

—क० ग्र० पृ० ६९

यह प्रेम किसी खेतमे नहीं उपजता, किसी हाटमे नहीं बिकता, फिर भी जो कोई भी इसे चाहेगा, पा लेगा। वह राजा हो या प्रजा, उसे सिर्फ एक शर्त माननी होगी, वह है शर्त सिर उतारकर धरतीपर रख ले। जिसमें साहस नहीं, जिसमें इस अखण्ड प्रेमके ऊपर विश्वास नहीं, उस कायरकी यहा दाल नहीं गलगी। हरिके मिल जानेपर साहस दिखानेकी बात करना बेकार है, पहले हिम्मत करो, भगवान् आगे आकर मिलेंगे। उथली भावुकता, हिस्टीरिक प्रेमोन्माद और बातूनी इश्क यहाँ बेकार है,—अपने अधिगम्यपर अखण्ड विश्वास ही इस प्रेमकी कुजी है,—विश्वास, जिसमें सकोच नहीं, द्विधा नहीं, बाधा नहीं।

प्रेम न खेतों नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ॥
सूरे सीस उतारिया, छाडी तनकी आस।
आगेथे हरि मुलकिया, आवत देख्या दास॥
भगति दुहेली रामकी, नहि कायरका काम।
सीस उतार हाथि करि, सो लेसी हरि नाम॥

—क० ग्र० पृ० ७०

कबीरदास भक्त और पतिव्रताको एक कोटिमें रखते थे। दोनोंका धर्म कठोर है, दोनोंकी वृत्ति कोमल है, दोनोंके सामने प्रलोभनका दुस्तर जजाल है, दोनों ही काचन-पद्मधर्मी हैं,—बाहरसे मृदु, भीतरसे कठोर, बाहरसे कोमल, भीतरसे परुष, सबकी सेवामें व्यस्त, पर एककी आराधिका पतिव्रता ही भक्तके साथ तुलनीय हो सकती है। सतीकी सिदूर-रेखाके बदले काजल नहीं दिया जा सकता और कबीरके नैनोंमे भी राम रम गया है, दूसरा नहीं रम सकता—

कबीर रेख सिंदूरकी, काजल दिया न जाइ ।
नैनु रमइया रमि रहा, दूजा कहाँ समाइ ।

भक्तकी यह प्रार्थना केवल सतीको ही शोभा सकती है—

नैना अंतर आव तू, ज्यौंही नैन झँपेऊँ ।
नाँ हौं देखौं औरकूँ, ना तुझ देखन देऊँ ॥
मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझको सौंपतां, क्या लागै है मेरा ॥

कबीरदासमें यह जो अपने प्रति और अपने प्रियके प्रति एक अखण्ड अविचलित विश्वास था उसीने उनकी कवितामें असाधारण शक्ति भर दी है। उनके भाव सीधे हृदयसे निकलते हैं और श्रोतापर सीधे चोट करते हैं। जो लोग इस रहस्यको नहीं जानते वह व्यर्थ ही पाण्डित्य-प्रदर्शनसे पाठकोंका समय नष्ट करते हैं। प्रेम-भक्तिका यह पौधा भावुकताकी आँचसे न तो झुलसता ही है और न तर्कके तुषारपातसे मुरझाता है। वह हृदयके पातालभेदी अन्तस्तलसे अपना रस सञ्चय करता है। न आँधी उसे उखाड़ सकती है और न पानी उसे ढाह सकता है। इस प्रेममें मादकता नहीं है पर मस्ती है, कर्कशता नहीं है पर कठोरता है। असंयम नहीं है पर मौज है, उच्छृंखलता नहीं है पर स्वाधीनता है, अन्धानुकरण नहीं है पर विश्वास है, उजड्डता नहीं है पर अक्खड़ता है,—इसकी प्रचण्डता सरलताका परिणाम है, उग्रता विश्वासका फल है, तीव्रता आत्मानुभूतिका विवर्त है। यह प्रेम वज्रसे भी कठोर है, कुसुमसे भी कोमल। इसमें हार भी जीत है, जीत भी जीत है।

हारौं तो हरि मान है, जो जीतूँ तो दाव ।
पारब्रह्मसो खेलता, जो सिर जाय तो जाय ॥

—स० क० सा० ८५-९०

इस सरलता और विश्वासके कारण ही जहाँ वे एक स्थानपर भगवानके निकट अतिशय विनीत और हतदर्प दीखते हैं वहाँ दूसरे स्थानपर चुनौती देते हुए भी दिख जाते हैं। पर कहीं भी उन्होंने शिकायत नहीं की, मचलनेका अभिनय नहीं किया, उपालम्भोंकी झड़ी नहीं लगाई,—महान्की महत् मर्यादाको उन्होंने कभी अपनी ससीमतासे गंदला नहीं किया। साँईके प्रति उनकी भक्ति अडिग है। वे रामके कुत्तेके रूपमें अपना परिचय देते नहीं लजाते। कबीर

रामका कुत्ता है, नाम उसका मुतिया है। रामने ही इस मुतियाके गलेमें एक रस्सी बाँध दी है। सो वह जिधर खींचता है, मुतिया भी उधर ही जाता है। जब वह तो तो करके पुकारता है तो मुतिया भी उसके पास चला जाता है और जब दुर दुर करता है तो बेचारे मुतियाको भागनेके सिवा और चारा ही क्या है? कबीरदास कहते हैं कि भगवान् जैसे रखें वैसे ही रहना श्रेयस्कर है, वह जो दे दे वही खा लेना कर्तव्य है। निरीह सारल्यका यह चरम दृष्टान्त है—

कबीर कूता रामका, मुतिया मेरा नाउँ।
गलै रामकी जेवडी, जित खचै तित जाउँ॥
तो तो करै तो बाहुडा, दुरि दुरि करै तो जाउँ।
ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहौं, जो देवै सो खाउँ॥

—क० ग्र० पृ० २०

आत्मसमर्पणकी यह हद है। इतनेपर भी मनको प्रतीति नहीं होती कि यह प्रेम-रस पर्याप्त है। क्या जाने उस प्रियतमको कौनसा ढग पसन्द हो, कौन सी वेशभूषा रुचिकर हो। हाय, उस अजब मस्तानेसे प्रियका समागम कैसा होता होगा!—

मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तनमे ढग।
क्या जाणौं उस पीव सूँ, कैसी रहसी रंग।

—क० ग्र० पृ० २०

इस उक्तिको अपने प्रति अविश्वास समझना गलती होगी। इसमे केवल प्रेमातिशय्य और औत्सुक्य प्रकट हुआ है। भक्तको अपने ऊपर पूर्ण विश्वास है पर प्रियकी उच्चता और महिमाके प्रति उसका विश्वास और भी अधिक है। अविचल प्रेमी ही यह सोचता है कि उसका प्रेमी कहीं अतृप्त न लौट जाय। अपनी अपूर्णता इस उत्सुकता और आशकाका कारण होती है, अपने प्रति अवज्ञा नहीं।

पता नहीं कि कबीरदासने 'मुतिया' नाम क्यों पसन्द किया। क्या अनुमान किया जाय कि उनका बचपनका नाम मुतिया था? असम्भव नहीं। पर मुतिया नाम है बड़ा जानदार। इस नाममें ही कुत्तेकी सारी निरीहता मानों दुम हिलाती हुई सामने खड़ी हो जाती है। कभी कभी आश्चर्य हो जाता है कि क्या यह वही आदमी है जो बीसियों बार गगनगुफाका चक्कर लगा लेनेके बाद उधरके कोने

कोनेसे ऐसा परिचित हो गया कि बड़ेसे बड़े अवधूतको ललकार सकता है, जो शास्त्र और परम्पराके जटिल जालमें घुसकर इस सफाईके साथ उसकी ग्रंथियाँ शिथिल कर देता है कि जाल फैलानेवाला ही आश्चर्य-भरी मुद्रासे देखता रह जाता है, जो क्षण भरके लिये भी अपने ज्ञानको नहीं भूलना चाहता और जिसकी उक्तियाँ प्रतिपक्षके ऊपर सीधा आघात करती है। परन्तु इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। सरल आदमी ही प्रचण्ड होता है, विश्वासपरायण मनुष्य ही निरीह होता है, निष्ठावान् ही विनीत होता है।

कबीर जब 'पंडित' या 'शेख' पर आक्रमण करनेको उद्यत होते है तो उतने सावधान नहीं होते जितने अवधूत या योगीपर आक्रमण करते समय दिखते है। कारण यह है कि 'पंडित' और शेख' के ज्ञान-भाण्डारको उन्होंने उतनी सूक्ष्मताके साथ नहीं देखा जितनी बारीकीसे अवधूतकी साधना देखी है। इसीलिए यह आक्रमण उतना उग्र भी नहीं होता। वह पण्डित और शेखको इस प्रकार पुकारते हैं गोया वे नितान्त नगण्य जीव हो,—केवल बाह्याचारोंके गट्ठर, केवल कुसंस्कारोंके पुंज। साधारण हिन्दू गृहस्थपर आक्रमण करते समय वे लापरवाह होते है और इसीलिए लापरवाही-भरी एक हँसी उनके अधरोंपर मानों खेलती रहती है। मानों वे इन अदने आदमियोको इस योग्य भी नहीं समझ रहे हों जिनपर आक्रमण किया जा सके। परन्तु इस लापरवाहीके कारण ही इन आक्रमणोंमे एक सहज महज भाव और एक जीवन्त काव्य मूर्तिमान् हो उठा है। यही लापरवाही कबीरके व्यंग्योंकी जान है। सच पूछा जाय तो आजतक हिन्दीमें ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य-लेखक पैदा ही नहीं हुआ। उनकी साफ चोट करनेवाली भाषा, बिना कहे भी सब कुछ कह देनेवाली शैली और अत्यन्त सादी किन्तु अत्यन्त तेज प्रकाशन-भंगी अनन्य-साधारण है। हमने देखा है कि बाह्याचारपर आक्रमण करनेवाले सन्तों और योगियोंकी कमी नहीं है, पर इस कदर सहज और सरस ढंगसे चकनाचूर करनेवाली भाषा कबीरके पहले बहुत कम दिखाई दी है। व्यंग्य वह है, जहाँ कहनेवाला अधरोष्ठोंमे हँस रहा हो और सुननेवाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहनेवालेको जवाब देना अपनेको और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीरदास ऐसे ही व्यंग्यकर्ता थे—

ना जाने तेरा साहब कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहिरा है?

चिउँटीके पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है।
पंडित होयके आसन मारै, लम्बी माला जपता है॥
अन्तर तेरे कपट-कतरनी, सो भी साहब लखता है।
ऊँचा-नीचा महल बनाया, गहरी नेंव जमाता है॥
चलनेका मनसूबा नाहीं, रहनेको मन करता है।
कौड़ी कौडी माया जोडी, गाड़ि जमींमें धरता है॥
जेहि लहना है सो लै जइ है, पापी बहि बहि मरता है।
सतवन्तीको गजी मिलै नहि, वेश्या पहिरै खासा है॥
जेहि घर साधु भीख न पावे, भड़ुआ खात बतासा है॥
हीरा पाय परख नहिं जाने, कौड़ी परखन करता है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसेको तैसा है॥

—कबीर बच० पृ० १५४

यह भाषा झकझोर देनेवाली है,—जितनी ही सादी उतनी ही तेज। पढ़ते समय साफ मालूम होता है कि कहनेवाला अपनी ओरसे एकदम निश्चिन्त है। अगर वह अपनी ओरसे इतना निश्चिन्त न होता तो इस तरहका करारा व्यंग नहीं कर सकता।

कबीरके पूर्ववर्ती सिद्ध और योगी लोगोंकी आक्रमणात्मक उक्तियोंमें एक प्रकारकी हीन भावनाकी ग्रंथि या इनफीरियारिटी कम्प्लेक्स पाया जाता है। वे मानों लोमड़ीके खट्टे अंगूरोंकी प्रतिध्वनि हैं, मानों चिलम न पा सकनेवालोंके आक्रोश हैं। उनमें तर्क है पर लापरवाही नहीं है, आक्रोश है पर मस्ती नहीं है, तीव्रता है पर मृदुता नहीं। कबीरदासके आक्रमणोंमें भी एक रस है, एक जीवन है, क्योंकि, वे आक्रान्तके वैभवसे परिचित नहीं थे और अपनेको समस्त आक्रमण-योग्य दुर्गुणोंसे मुक्त समझते थे। इस तरह जहाँ उन्हें लापरवाहीका कवच मिला था वहाँ अखण्ड आत्म-विश्वासका कृपाण भी।

कबीर उस समाजमें पालित हुए थे जो न तो हिन्दुओंद्वारा समादृत था न मुसलमानोंद्वारा पूर्ण रूपसे स्वीकृत। वह कुलपरम्परासे ज्ञानार्जनके अयोग्य समझा जाता था। बाहरके प्रलोभनसे हो या भीतरके आघातसे, वह मुसलमानी राजत्वकालमें मुसलमान धर्म ग्रहण करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सका था पर न तो राजधर्मके ग्रहण कर लेनेके कारण उसमें राजकीय गरिमाका सचार ही हुआ

था और न प्राचीन हीनतासे उद्धार ही। नाम मात्रकी मुसलमान इस जुलाहा जातिके रक्तमें प्राचीन योगमार्गीय विश्वास पूरी मात्रामें वर्तमान था पर शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करनेका दरवाजा उसके लिए रुद्ध हो गया था। ये गरीबीमें जनमते थे, गरीबीमें ही पलते थे और उसीमें ही मर जाया करते थे। ऐसे कुलमें पैदा हुए व्यक्तिके लिये कल्पित ऊँच-नीच भावना और जाति व्यवस्थाका फौलादी ढाँचा तर्क और बहसकी वस्तु नहीं होती, जीवन मरणका प्रश्न होता हैं। कबीरदास इसी समाजके रत्न थे। वे सामाजिक विषमताओंको बौद्धिक तर्क-विलासकी वस्तु न समझते रहे हों, तो यह आश्चर्यकी बात नहीं है। सौभाग्यवश उन्हें व सब युक्तियाँ नहीं मालूम थीं जो इस स्पष्ट ही अनुचित समाज-व्यवस्थाको उचित साबित कर सकती हे। वे उन शास्त्रीय विचारोंसे सर्वथा मुक्त थे जो सामाजिक जीवनको स्थितिशील (स्टेटिक) देखनेमें ही समाजका कल्याण समझते हैं। और भी उनमें आत्म-विश्वास परिपूर्ण मात्रामें था। यह जो बाह्याचारोंकी जारन्त प्रतिक्रिया, शास्त्रीय विचारकी अनभिज्ञताके कारण निर्भीक आक्रमणकारिता और अपनी निर्दोषिताका परिपूर्ण भरोसा है उसने उनके आत्मविश्वासको भी आक्रामक (एग्रेसिव्ह) बना दिया था और उनकी लापरवाहीको भी रक्षणात्मक (डिफेन्सिव्ह) बना दिया था। इसीलिए वे सीधी बातको भी ललकारनेकी भाषामें ही बोलते थे। सारी परिस्थितिका विश्लेषण न कर सकनेवाले पंडित इसे अटपटी वाणी समझकर सन्तोष कर लेते हैं या फिर घमण्ड और दम्भ समझकर कुछ आश्वस्तसे हो लेते हैं।

जो लोग पौराणिक कथाओंको जानते हैं उन्हे मालूम है कि करीब करीब सभी देवताओं और ऋषि मुनियोंके नाम ऐसी कहानियाँ मिलती हैं जिनसे उनके चरित्रकी विशुद्धतामे सन्देह होता है। पर जो लोग पुराणोंके तत्त्ववादके जानकार हैं वे उनमे भी भगवल्लीलाका आभास पाते हैं और उन्हे न तो उक्त कथाओंमे अविश्वास होता है और न उन मुनियो या देवताओंके चरित्रके विषयमे सन्देह। कबीरदास पौराणिक कथाओंके थोड़े-बहुत जानकार थे पर तत्त्ववादके कायल न थे, शायद जानते भी नहीं थे। इसीलिये उन्होंने कथापर विश्वास करके मुनियो और देवताओंके चरित्रको उसी रूपमें स्वीकार किया जिस रूपमें लिखा गया है। अपने ऊपर उनका विश्वास प्रबल था और पौराणिक कथाओंने सुर-नर-मुनिके चरित्रोंपर सन्देह करनेका अवसर दिया। इसीलिये अत्यन्त सीधी और सहज बात

कहते समय भी उनके आत्मविश्वासका आक्रामक रूप प्रकट हो ही गया—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहेक ताना काहेके भरनी, कौन तारसे बीनी चदरिया।
इगला-पिंगला ताना भरनी, सुखमन तारसे बीनी चदरिया॥
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त्व गुन तीनी चदरिया।
साईंको सियत मास दस लागै, ठोक ठोकके बीनी चदरिया॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़िन, ओढ़िके मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतनसे ओढ़िन, ज्योंके त्यों धर दीनी चदरिया॥

—शब्दा० पृ० ७८

इसमें दम्भका लेश भी नहीं है, घमण्डका स्पर्श भी नहीं है। है केवल अपने अखण्ड विश्वास और पौराणिक कथानकोंकी सरलतापूर्ण स्वीकृति। सचमुच ही तो इस पंच तत्त्व और तीन गुणकी शरीर-चादर सभी मुनियों और देवताओंने ओढ़के मैली कर दी है। पुराण तो ऐसा ही बताते हैं और यह भी सच है कि कबीरदासने उस चादरको मैली नहीं होने दी। कबीरकी अन्तरात्मा इस महा-सत्यका अविसंवादी साक्षी है। फिर इसमें दम्भ या घमण्ड कहाँ है? पर जो कोई इसे पढ़ेगा वह इस आत्म-विश्वासके आक्रमणकारी पहलूको लक्ष्य किए बिना नहीं रहेगा। सारी बात कुछ इस लहजेमें कही गई है कि वह आक्रमणमूलक हो गई है। 'सुर-नर-मुनि'को उँगली दिखाकर कहना और उनकी तुलनामें अपने आपको बढ़ा देना और फिर उनसे बड़ा बताना निश्चय ही एक ऐसा तीव्र कटाक्ष है जो लक्ष्यभूत श्रोताको चिढ़ाए बिना नहीं रह सकता। पर लक्ष्य करने योग्य है कहनेवालेकी लापरवाही। वह इतनी बड़ी चिढ़ा देनेवाली बात कह गया है लेकिन कटुताके साथ नहीं, और प्रत्याक्रमणकी चिन्ताके साथ तो बिल्कुल नहीं।

ऐसे थे कबीर। सिरसे पैर तक मस्त मौला, स्वभावसे फक्कड़, आदतसे अक्खड़, भक्तके सामने निरीह, भेषधारीके आगे प्रचण्ड, दिलके साफ, दिमागके दुरुस्त, भीतरसे कोमल, बाहरसे कठोर, जन्मसे अस्पृश्य, कर्मसे वन्दनीय। वे जो कुछ कहते थे अनुभवके आधारपर कहते थे इसीलिए उनकी उक्तियाँ बेधनेवाली और व्यंग चोट करनेवाले होते थे। उनके पूर्ववर्ती बाह्याचार-विरोधियोंने स्वयं अपने लिये बाह्याचारका आडम्बर बना रखा था, इसलिये उनमें वह मस्ती-भरी लापरवाही नहीं थी जो कबीरको इतना आकर्षक बनाये हुए है। फिर उनके पूर्ववर्ती सहजयानी बौद्ध, और योगी लोग जितनी भी पोथीकी निन्दा

क्यों न करें, पोथी उनकी पढ़ी होती थी और भीतर ही भीतर वे पोथीकी महिमासे अभिभूत होते थे। कबीरके समान निर्भीक आत्म-विश्वासके साथ वे कभी नहीं कह सके कि—

मेरा तेरा मनुआ कैसे इक होइ रे !
मैं कहता हौं आँखिन देखी
तू कहता कागदकी लेखी,
मैं कहता सुरझावनहारी
तू राख्यो अरुझाइ रे !

अखंड आत्म-विश्वास और अहैतुक भक्तिके बिना इतनी सफाईसे कोई नहीं कह सकता कि तू राख्यो अरुझाइ रे ! सहज बातको सहज ही न कह व्यर्थ तर्क-फेनिल बना देना ही क्या अधिकांश 'कागदकी लेखी' का कार्य नहीं है ? कबीरके बहुत दिन बाद एक दूसरे भक्तने कहा था—शुरूसे ही कुछ लोग नाना प्रकारके पारिभाषिक शब्दोंमें सोचनेका अभ्यास कर लेते हैं। इनमें जो जितना ही अधिक कल्पना-प्रवीण होता है वह उतना ही बड़ा पंडित माना जाता है, पर सही बात यह होती है कि इस कौशलसे वे भगवान्‌से क्रमशः दूर ही होते जाते हैं और अपनी कल्पनाओंको ही ये तर्क-निष्ठ लोग 'शास्त्र' नाम देते हैं।—

अभ्यासाय उपाधिजात्यनुमितिव्याप्त्यादिशब्दावले—
र्जन्मारभ्य सुदूरदूरभगवद्वार्त्ताप्रसंगा अमी।
ये यत्राधिककल्पनाकुशलिनस्ते तत्र विद्वत्तमा
स्वीयं कल्पनमेव शास्त्रमिति य जानन्त्यहो तार्किकाः !
—कविकर्णपूर, चैतन्य-चन्द्रोदय (द्वितीय अंक)

और और भी बहुत दिन बाद एक और कविने अचरजभरी मुद्रामें व्यर्थके तर्कजालको देखकर हैरान होकर कहा है, उनकी बातें मुझे चक्करमें डाल देती हैं लेकिन तुम्हारी बात मेरी समझमें आ जाती है। तुम्हारा आकाश है और तुम्हारी ही हवा है, यह तो बहुत सीधी सी बात है।—

ओदेर कथाय धाँदा लागे
तोमार कथा आमि बुझि।
तोमार आकाश तोमार बातास,
एइ त सबइ सोजासुजि ॥—(रवीन्द्रनाथ)

कबीर 'ज्ञानके हाथी' पर चढे थे पर 'सहजका दुलीचा' डाले बिना नहा, भक्तिके मन्दिरमे प्रविष्ट हुए थे पर 'खालाका घर' समझकर नहीं, बाह्याचारका खण्डन किया था पर निरुद्देश्य आक्रमणकी मशासे नहीं, भगद्विरहकी आँचमें तपे थे पर आँखोंमे ओस भर कर नहीं,—रामको आग्रहपूर्वक पुकारा था पर बालकोचित मचलनके साथ नहीं—सर्वत्र उन्होने एक समता (बेलैंस) रखी थी। केवल कुछ थोडेसे विषयोंमें वे समता खो गये थे। अकारण सामाजिक उच्च नीच मर्यादाके समर्थकोंको वे कभी क्षमा नही कर सके, भगवान्‌के नामपर पाखण्ड रखनेवालोंको उन्होंने कभी छूट नहीं दी, दूसरोंको गुमराह बनानेवालोंको उन्होने कभी तरह देना उचित नहीं समझा। ऐसे अवसरोंपर वे उग्र थे, कठोर थे और आक्रामक थे। पर गुमराह लोगोंकी गलती दिखानेमें उन्हें एक तरहका रस मिलता था। व्यग करनेमे उन्हें जैसे तृप्ति मिलती थी। निम्नलिखित पदमें गगा नहानेवालियोकी कसी कम कर खबर ली गई है—

चली है कुलबोरनी गगा नहाय।
सतुवा कराइन बहरी भुँजाइन, घूँघट ओटे भसकत जाय।
गठरी बाँधिन मोटरी बाधिन, खसमके मूडे दिहिन धराय।
बिछुवा पहिरिन औंठा पहिरिन, लात खसमके मारिन धाय।
गगा न्हाइन जमुना न्हाइन, नौ मन मल है लिहिन चढ़ाय।
पाँच-पचीसके धक्का खाइन, घरहुँकी पूंजी आई गवाय।
कहत कबीर हेत कर गुरुसो, नहिं तोर मुकुती जाइ नसाइ॥

—क० वच० पृ० १८८

भक्तिके अतिरेकमे उन्होने कभी अपनेको पतित नहीं समझा। क्योंकि उनके दैन्यमें भी उनका आत्म-विश्वास साथ नहीं छोड़ देता था। उनका मन जिस प्रेमरूपी मदिरासे मतवाला बना हुआ था वह ज्ञानके गुड़से तैयार की गई थी, इसीलिए अन्धश्रद्धा, भावुकता और हिस्टीरिक प्रेमोन्मादका उनमे एकान्त अभाव था। युगावतारकी शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युगप्रवर्तककी दृढता उनमें वर्तमान थी इसीलिए वे युग प्रवर्तन कर सके थे। एक वाक्यमें उनके व्यक्तित्वको कहा जा सकता है: वे सिरसे पैर तक मस्त *मौला थे* —बेपरवाह, दृढ, उग्र, कुसुमादपि कोमल, वज्रादपि कठोर।

१३—भारतीय धर्म-साधनामें कबीरका स्थान

जिस युगमे कबीर आविर्भूत हुए थे उसके कुछ ही पूर्व भारतवर्षके इतिहासमे एक अभूतपूर्व घटना घट चुकी थी। यह घटना इसलाम जैसे एक सुसंगठित सम्प्रदायका आगमन था। इस घटनाने भारतीय धर्ममत और समाज-व्यवस्थाको बुरी तरहसे झकझोर दिया था। उसकी अपरिवर्तनीय समझी जानेवाली जाति-व्यवस्थाको पहली बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी। सारा भारतीय वातावरण संक्षुब्ध था। बहुतसे पंडित-जन इस संक्षोभका कारण खोजनेमें व्यस्त थे और अपने अपने ढंगपर भारतीय समाज और धर्म-मतको सँभालनेका प्रयत्न कर रहे थे।

सबसे पहले यह समझ लिया जाय कि यह घटना अभूतपूर्व क्यो थी और इसमे नवीनता क्या थी? भारतवर्ष कोई नया देश नही है। बड़े बड़े साम्राज्य उसकी धूलमें दबे हुए हैं, बड़ी बड़ी धार्मिक घोषणायें उसके वायुमण्डलमे निनादित हो चुकी है, बड़ी बड़ी सभ्यताये उसके प्रत्येक कोनेमें उत्पन्न और विलीन हो चुकी हैं, उनके स्मृति-चिह्न अब भी इस प्रकार निर्जीव होकर खड़े हैं मानो अट्टहास करती हुई विजयलक्ष्मीको बिजली मार गई हो! अनादिकालसे उसमें अनेकों जातियों, कबीलों, नस्लो और घुमक्कड़ खानाबदोशोके झुण्ड इस देशमे आते रहे हैं। कुछ देरके लिये इन्होंने देशके वातावरणको विक्षुब्ध भी बनाया है पर अन्ततक वे पराये नही रह सके हैं। उनके देवता तैंतीस करोड़ सिंहासनोंमसे किसी एकको दखल करके बैठ जाते रहे हैं और पुराने देवताओंके समान ही श्रद्धाभाजन बन जाते रहे हैं,——कभी कभी अधिक सम्मान भी पा सके हैं। भारतीय संस्कृतिकी कुछ ऐसी विशेषता रही है कि उन कबीलों, नस्लों और जातियोंकी भीतरी समाज व्यवस्था और धर्म-मतमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नही किया गया है और फिर भी उनको संपूर्ण भारतीय बना लिया गया है। भागवतमें ऐसी जातियोंकी एक पूरी सूची देकर बताया गया है कि एक बार भगवान्‌का आश्रय पाते ही ये शुद्ध हो गई हैं। इनमे किरात हैं, हूण हैं, आंध्र हैं, पुलिन्द हैं, पुक्कस हैं, आभीर हैं, शुङ्ग हैं, यवन हैं, खस हैं, शक हैं

और भी निश्चय ही ऐसी बहुत जातियाँ हैं जिनका नाम भागवतकार नहीं गिना गये[1]। भारतीय संस्कृति इतने अतिथियोंको अपना सकी थी, इसका कारण यह है कि बहुत शुरूसे ही उसकी धर्म-साधना वैयक्तिक रही है। प्रत्येक व्यक्तिको अलगसे धर्मोपासनाका अधिकार है। झुंड बाँधकर उत्सव हो सकते हैं, भजन नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अपने कियेका जिम्मेदार आप है। श्रेष्ठताकी निशानी किसी धर्ममतको मानना या देव विशेषकी पूजा करना नहीं बल्कि आचार-शुद्धि और चारित्र्य है। यदि एक आदमी अपने पूर्वजोंके बताये धर्मपर दृढ है, चारित्रसे शुद्ध है, दूसरी जाति या व्यक्तिके आचरणकी नकल नहीं करता बल्कि स्वधर्ममें मर जानेको ही श्रेयस्कर समझता है, ईमानदार है, सत्यवादी है, तो वह निश्चय ही श्रेष्ठ है, फिर वह चाहे आभीर-वंशका हो या पुक्कस-श्रेणीका। कुलीनता पूर्व जन्मके कर्मका फल है, चारित्र्य इस जन्मके कर्मका प्रतीक है। देवता किसी एक जातिकी सम्पत्ति नहीं है, वे सबके हैं और सबकी पूजाके अधिकारी हैं। पर यदि स्वयं देवता ही चाहते हों कि उनकी पूजाका माध्यम कोई विशेष जाति या व्यक्ति हो सकता है तो भारतीय समाजको इसमें भी कोई आपत्ति नहीं। ब्राह्मण मातंगी देवीकी पूजा करेगा पर मातंगके जरिये। क्या हुआ जो मातंग चाण्डाल है। राहु यदि प्रसन्न होनेके लिये डोमोंको ही दान देना अपनी शर्त रखते हैं तो डोम ही सही। समस्त भारतीय समाज डोमको ही दान देकर ग्रहणके अनर्थसे चन्द्रमाकी रक्षा करेगा। इस प्रकार भारतीय संस्कृतिने समस्त जातियोंको उनकी सारी विशेषताओं-समेत स्वीकार कर लिया। पर अबतक कोई ऐसा 'मजहब' उसके द्वारपर नहीं आया था जिसको हजम कर सकनेकी शक्ति वह नहीं रखता था।

'मजहब' क्या है? मजहब एक संघटित धर्ममत है। बहुतसे लोग एक ही देवताको मानते हैं, एक ही आचारका पालन करते हैं, और किसी नस्ल, कबीले या जातिके किसी व्यक्तिको जब एक बार अपने संघटित समूहमें मिला लेते हैं तो उसकी सारी विशेषतायें दूर कर उसी विशेष मतवादको स्वीकार कराते हैं। यहाँ

---

[1] किरात हूणान्ध्र पुलिन्द पुक्कसा
आभीर शुह्मा यवना खसादयः
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयः —
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

—भागवत २-४-१८

धर्मसाधना व्यक्तिगत नहीं, समूहगत होती है। यहाँ धार्मिक और सामाजिक विधि-निषेध एक दूसरेमें गुथे होते हैं। भारतीय समाज नाना जातियोंका सम्मिश्रण था। एक जातिका एक व्यक्ति दूसरी जातिमें बदल नहीं सकता, परन्तु मजहब इससे ठीक उलटा है। वह व्यक्तिको समूहका अंग बना देता है। भारतीय समाजकी जातियाँ कई व्यक्तियोंका समूह हैं, परन्तु किसी मजहबके व्यक्ति बृहत् समूहके अंग हैं। एकका व्यक्ति अलग हस्ती रखता है पर अलग नहीं हो सकता, दूसरेका अलग हो सकता है पर अलग सत्ता नहीं रखता।

मुसलमानी धर्म एक 'मजहब' है। भारतीय समाज-संगठनसे बिल्कुल उल्टे तौरपर उसका संगठन हुआ था। भारतीय समाज जाति-गत विशेषता रखकर व्यक्ति गत धर्म साधनाका पक्षपाती था, इसलाम जातिगत विशेषताको लोप करके समूह गत धर्म-साधनाका प्रचारक था। एकका केन्द्रबिन्दु चारित्र्य था, दूसरेका धर्म-मत। भारतीय समाजमें यह स्वीकृत तथ्य था कि विश्वास चाहे जो भी हो, चारित्र्य शुद्ध है तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है, फिर चाहे वह किसी जातिका भी क्यों न हो। मुसलमानी समाजका विश्वास था कि इसलामने जो धर्म-मत प्रचार किया है उसको स्वीकार कर लेनेवाला ही अनन्त स्वर्गका अधिकारी है, जो इस धर्ममतको नहीं मानता वह अनन्त नरकमें जानेको बाध्य है। भारत-वर्षको ऐसे मतसे एकदम पाला नहीं पड़ा था। उसने कभी यह विश्वास ही नहीं किया कि उसके आचार और मतको न माननेवाली जातिका कुफ्र तोड़ना उसका परम कर्तव्य है। किसी औरका परम कर्तव्य यह बात हो सकती है, यह भी उसे नहीं मालूम था। इसीलिये जब नवीन धर्म-मतने सारे संसारके कुफ्रको मिटा देनेकी प्रतिज्ञा की और सभी पाये जानेवाले साधनोंका उपयोग आरंभ किया तो भारतवर्ष इसे ठीक ठीक समझ ही नहीं सका। इसी लिये कुछ दिनों तक उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुण्ठित हो गई। वह विक्षुब्ध-सा हो उठा। परन्तु विधाताको यह कुंठा और विक्षोभ पसंद नहीं था।

ऐसा जान पड़ता है कि पहली बार भारतीय मनीषियोंको एक सम्बद्ध धर्माचारके पालनकी जरूरत महसूस हुई। इसलामके आनेके पहले इस विशाल जन-समूहका कोई एक नाम तक नहीं था। अब उसका नाम 'हिंदु' पड़ा। हिंदु अर्थात् भारतीय, अर्थात् गैर-इसलामी मत। स्पष्ट ही इस गैर-इसलामी मतमें कई तरहके मत थे, कुछ ब्रह्मवादी थे, कुछ कर्मकाण्डी थे, कुछ शैव थे, कुछ वैष्णव थे, कुछ

शाक्त थे, कुछ स्मार्त थे तथा और भी न जाने क्या क्या थे। हजारों योजनों तक विस्तृत और हजारों वर्षोंमें परिव्याप्त इस जनसमूहके विचारों और परम्पराप्राप्त मतोंका एक विशाल जंगल खड़ा था। स्मृति, पुराण, लोकाचार और कुलाचारकी विशाल वनस्थलीमेंसे रास्ता निकाल लेना बड़ा ही दुष्कर कार्य था। स्मार्त पण्डितोंने इसी दुष्कर व्यापारको शिरोधार्य किया। सारे देशमें शास्त्रीय वचनोंकी छान-बीन होने लगी। उद्देश्य था कि इस प्रकारका सर्व-सम्मत मत निकाल लिया सके, श्राद्ध विवाहकी एक ही रीति-नीति प्रचलित हो सके, उत्सव समारोहका एक ही विधान तयार हो सके। भारतीय मनीषाका शास्त्रोंको आधार मान कर अपनी सबसे बड़ी समस्याके समाधानका यह सबसे बड़ा प्रयत्न था। हेमाद्रिसे लेकर कमलाकर और रघुनंदन तक बहुतेरे पंडितोंने बहुत परिश्रमके बाद जो कुछ निर्णय किया वह यद्यपि सर्ववादिसम्मत नहीं हुआ, परन्तु, निस्सन्देह स्तूपीभूत शास्त्र-वाक्योंकी छानबीनसे एक बहुत कुछ मिलता जुलता आचार-प्रवण धर्ममत स्थिर किया जा सका। निबंध ग्रन्थोंकी यह बहुत बड़ी देन थी। जिस बातको आजकल ' हिन्दू-सोलिडरिटी ' कहते हैं उसका प्रथम भित्ति स्थापन इन निबंध-ग्रंथोंके द्वारा ही हुआ था। पर समस्याका समाधान इससे नहीं हुआ।

इन प्रयत्नकी सबसे बड़ी कमजोरी इसकी आचारप्रवणता ही थी। जो नया धर्ममत भारतीय जन-समाजको संक्षुब्ध कर रहा था वह इस आचारको कोई महत्त्व ही नहीं देता था। उसका संगठन बिल्कुल उल्टे किनारेसे हुआ था। निबन्ध ग्रन्थोंने जिस आचार-प्रधान ' एकधर्म '-तत्त्वका प्रचार किया उसके मूलमें ही सबको स्वीकार करनेका सिद्धान्त काम कर रहा था। समस्त शास्त्रीय वाक्योंको नतशिरसे स्वीकार करके ही यह असाध्य साधन किया गया था। पर जिस प्रतिद्वंद्वीसे काम पड़ा था वह बहुत वर्जनाग्रही था अर्थात् वह निर्दयतापूर्वक अन्यान्य मतोंको तहस-नहस करनेकी दीक्षा ले चुका था और धार्मिक वर्जन-शीलता ही उसका मुख्य अस्त्र था। यद्यपि वह समाज धार्मिक रूपमें वर्जनशील था पर सामाजिक रूपमें ग्रहणशील था, जब कि हिन्दू-समाज धार्मिक रूपमें ग्रहणशील होकर भी सामाजिक रूपमें वर्जनशील था। हिन्दू-समाज धार्मिक साधनाको स्वीकार कर सकता था पर किसी व्यक्ति-विशेषको धर्म-मतमें ग्रहण

करनेका पक्षपाती नहीं था। उधर मुसलमानी समाज व्यक्तिको अपने धर्ममतमें शामिल कर लेनेको परम कर्तव्य समझता था; परन्तु किसी विशेष धर्म-साधनको अपने किसी व्यक्तिके लिये एकदम वर्जनीय मानता था। निबंध-ग्रन्थोंने हिंदूको और भी अधिक हिंदू बना दिया, पर मुसलमानोंको आत्मसात् करनेका कोई रास्ता नहीं बताया।

इस प्रकार मुसलमानोंके आगमनके साथ ही साथ हिन्दू-धर्म प्रधानतः आचार-प्रवण हो गया। तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचारकी परम्परा ही उसका केन्द्रबिंदु हो गई। इस समय पूर्व और उत्तरमें सबसे प्रबल सम्प्रदाय नाथपंथी योगियोंका था। हमने पहले ही देखा है कि ये लोग शास्त्रीय स्मार्त मतको भी नहीं मानते थे और प्रस्थानत्रयी (अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) पर आधारित किसी दार्शनिक मतवादके भी कायल नहीं थे। पर जनताका ध्यान ये आकृष्ट कर सके थे। विविध सिद्धियोंके द्वारा वे काफी सम्मान और संभ्रमके पात्र बन गये थे। ये गुणातीत शिव या निर्गुण-तत्त्वके उपासक थे। पर इनकी उपासना ध्यान और समाधिके द्वारा होती थी। विविध भाँतिकी शारीरिक साधनाओंके द्वारा, जिन्हें काया-साधन कहते थे, लोग परम तत्त्वको पानेके प्रयासी थे। इनमें जो सिद्ध, साधक और अवधूत थे वे घरबारी नहीं होते थे पर इनके शिष्योंमें बहुतसे आश्रमभ्रष्ट गृहस्थ थे जो योगी जातिका रूप धारण कर चुके थे। हिंदूधर्म इन आश्रमभ्रष्ट गृहस्थोंका सम्मान तो करता ही न था उल्टे उन्हें तिरस्कारकी दृष्टिसे ही देखता था। ये आश्रम-भ्रष्ट गृहस्थ न तो हिंदू थे,—क्योंकि वे हिंदुओंके किसी मत या आचारके कायल न थे,—और न मुसलमान—क्योंकि इन्होंने इस्लामी धर्म-मतको स्वीकार नहीं कर लिया था। कुछ कालके इस्लामी संसर्गके बाद ये लोग धीरे धीरे मुसलमानी धर्ममतकी ओर झुकने लगे पर इनके संस्कार बहुत दिनोंतक बने रहे। जब वे इसी प्रक्रियामेंसे गुजर रहे थे उसी समय कबीरका आविर्भाव हुआ था।

यहाँ दो और प्रधान धार्मिक आन्दोलनोंकी चर्चा कर लेना चाहिये। पहली धारा पश्चिमसे आई। यह सूफी लोगोंकी साधना थी। मजहबी मुसलमान हिंदू धर्मके मर्मस्थानपर चोट नहीं कर पाये थे, वे केवल उसके बाहरी शरीरको विक्षुब्ध कर सकते थे। पर सूफी लोग भारतीय साधनाके अविरोधी थे। उनके उदारता-पूर्ण प्रेम-मार्गने भारतीय जनताका चित्त जीतना आरम्भ किया था। फिर भी ये

लोग आचार प्रधान भारतीय समाजको आकृष्ट नहीं कर सके। उसका सामजस्य आचार-प्रधान हिंदूधर्मके साथ नहीं हो सका। यहाँ यह बात स्मरण रखनेकी है कि न तो सूफी मतवाद और न योगमार्गीय निर्गुण परम तत्त्वकी साधना ही उस विपुल वैराग्यके भारको वहन कर सकी जो बौद्ध सघके अनुकरणपर प्रतिष्ठित था। देशमें पहली बार वर्णाश्रम-व्यवस्थाको एक अननुभूत-पूर्व विकट परिस्थितिका सामना करना पड़ रहा था। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्थाका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। आचार भ्रष्ट व्यक्ति समाजसे अलग कर दिये जाते थे और वे एक नई जातिकी रचना कर लेते थे। इस प्रकार सैकड़ो जातियाँ और उपजातियाँ सृष्ट होते रहनेपर भी वर्णाश्रम व्यवस्था एक प्रकारसे चलती ही जा रही थी। अब सामने एक जबर्दस्त प्रतिद्वंद्वी समाज था जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जातिको अंगीकार करनेको बद्धपरिकर था। उसकी एकमात्र शर्त यह थी कि वह उसके विशेष प्रकारके धर्म-मतको स्वीकार कर ले। समाजसे दण्ड पानेवाला बहिष्कृत व्यक्ति अब असहाय नहीं था। इच्छा करते ही वह एक सुसघटित समाजका सहारा पा सकता था। ऐसे समयमें दक्षिणसे वेदान्त भावित भक्तिका आगमन हुआ जो इस विशाल भारतीय महाद्वीपके इस छोरसे उस छोर तक फैल गया। डा० ग्रियर्सनने कहा था कि, "बिजलीकी चमकके समान अचानक इस समस्त (धार्मिक मतोंके) अन्धकारके ऊपर एक नई बात दिखाई दी। यह भक्तिका आन्दोलन है।" इसने दो रूपोंमें आत्म-प्रकाश किया। पौराणिक अवतारोंको केन्द्र करके सगुण उपासनाके रूपमें और निर्गुण परब्रह्म जो योगियोंका ध्येय था, उसे केन्द्र करके निर्गुण प्रेम-भक्तिकी साधनाके रूपमें। पहली साधनाने हिन्दू-जातिकी बाह्याचारकी शुष्कताको आन्तरिक प्रेमसे सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधनाने बाह्याचारकी शुष्कताको ही दूर करनेका प्रयत्न किया। एकने समझौतेका रास्ता लिया, दूसरीने विद्रोहका, एकने शास्त्रका सहारा लिया, दूसरीने अनुभवका; एकने श्रद्धाको पथ प्रदर्शक माना, दूसरीने ज्ञानको, एकने सगुण भगवान्‌को अपनाया, दूसरीने निर्गुण भगवान्‌को। पर प्रेम दोनोंका ही मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनोंको अप्रिय था, केवल बाह्याचार दोनोंको सम्मत नहीं थे, आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनोको अभीष्ट था, अहैतुक भक्ति दोनोंकी काम्य थी, बिना शर्तके भगवानके प्रति आत्मसमर्पण दोनोंके प्रिय साधन थे। इन बातोंमें दोनों एक थे। सबसे बड़ा अन्तर इनके लीलासंबंधी विचारोंमें था। दोनों

ही भगवान्‌की प्रेम-लीलामें विश्वास करते थे। दोनोंका ही अनुभव था कि भगवान् लीलाके लिये ही इस जागतिक प्रपंचको सम्हाले हुए हैं। पर प्रधान भेद यह था कि सगुण-भावसे भजन करनेवाले भक्त भगवानको दूरसे देखनेमें रस पाते रहे, जब कि निर्गुण भावसे भजन करनेवाले भक्त अपने आपमें रमे हुए भगवान्‌को ही परम काम्य मानते थे।

लीला क्या है? भारतीय भक्तोंका सबसे ऊँची कल्पना है। हम जानते हैं कि भगवान् अगम्य हैं, अगोचर हैं, निरजन हैं, अकल हैं, अनीह हैं। हम यह भी जानते हैं कि वे अनुभवैकगम्य हैं, केवल अपने स्वरूपसे ही उनको साधक अनुभव कर सकता है, वे गूंगेके गुड़ हैं, अनिर्वचनीय हैं। पर यह सब ज्ञानकी बातें हैं। भक्त लोग भगवान्‌को ज्ञानके द्वारा अगम्य मानते हैं, क्योंकि मनुष्यकी शक्ति सीमित है, उसकी बुद्धिकी दौड़ बहुत मामूली है। परन्तु वे प्रेमसे गम्य हैं 'ज्ञानके अगम्य तुम प्रेमके भिखारी हो।' क्यों कि ज्ञान सब मिलाकर हमें हमारी अल्पज्ञताको ही दिखा देता है। पर प्रेम सपूर्ण त्रुटियोंको भर देता है। पुत्रमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हो, माता उसे अपनी छातीसे लगा लेती है, क्यों कि मातृस्नेह सभी कमियोंको भर देता है। प्रेमी सम्पूर्ण अभावोंको अपने प्रेमसे भर देता है, 'जो मिलिये सँग सजन तौ नरक नरक हू की न।' क्यों कि नरक आखिर कुछ अभावोंका ही तो नाम है, दुःख तो सुखका अभाव-मात्र है और अभावको दूर करनेका एक-मात्र ब्रह्मास्त्र प्रेम है। दरिद्रता, पीड़ा और अभाव सब एक ही शब्दके पर्याय हैं और युगयुगान्तरके कवि और मनीषी अनुभव करके कह गये हैं कि सम्पूर्ण अभावोंको दूर करनेकी एक-मात्र शक्ति प्रेम है—'टूट खाट घर टपकत खटियौ टूट। पियकी बाँह उसिसवा सुखकी लूट।' कोई पूछे कि ऐसा क्यों होता है तो इसका भी कोई जवाब नहीं है। यह भगवानकी माया है। भगवानके समान ही रहस्यपूर्ण वैसी ही अनिर्वचनीय। और फिर दुबारा यह प्रश्न हो सकता है कि माया क्यों? क्यों पूर्ण परमात्माको अपनी सृष्टिके अभावको दूर करनेके लिये इसी विचित्र वस्तु,—मायाकी जरूरत पड़ी।

इस प्रश्नका उत्तर कठिन है। ज्ञानी इसे भी माया कहता है। विज्ञानी शायद 'इन्स्टिक्ट' कह दे, पर एक नाम दे देनेसे समस्या हल नहीं हो जाती। माया है, यह ठीक है। क्यों कि विश्व-जगत्‌में हम ऐसे ऐसे रहस्योंको

पाते हैं जो बुद्धिके परे हैं। हृदयके परे हैं। वे रहस्य हैं, माया है। पर 'क्यों है' का कोई उत्तर नहीं। भक्त इसका उत्तर देता है कि भगवान् परम प्रेममय है और यह सब उनकी लीला है। जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, जो कुछ भी घट रहा है और जो कुछ भी घटना सम्भव है, वह सब कुछ उस परम प्रेममयकी लीला है,—उस खेलनेमें आनन्द मिलता है। वह भक्तकी सारी अपूर्णताओंको पूर्ण करता है, इसी लिए वह परम-प्रेम-स्वरूप है। परन्तु भक्त क्यो प्रेम करता है?—क्योंकि वह अपनेको परिपूर्ण करता है।—भगवान्को क्या कमी है जो प्रेमका भिखारी बना रहता है? भक्तका कहना है कि इसका और कोई कारण नही, यह प्रेम व्यापार भी एक लीला ही है। लीला क्यो?—लीलाके लिये। लीलाके लिये कौन-सी वस्तु? लीला ही।—लीलाका फल क्या है?—लीला ही। 'नहि लीलायाः किंचित्प्रयोजनमस्ति, लीला एव प्रयोजनत्वात्।' जो इस लीलाको नहीं समझता वही भ्रममें है। लीला भगवान्के आनन्द स्वरूपका प्रकाश है। उपनिषदोंने बताया है कि उसी आनन्दसे भूतमात्रकी उत्पत्ति हुई है। जो कुछ दीख रहा है, जो कुछ घटित और घटमान है वह आनन्दसे ही है। अगर यह आनन्द न होता तो उत्पन्न होनेपर भी प्राणिगण जीवित नहीं रह सकते। आनन्द ही जीवनका आधार है (तैत्तिरीय ३–६)। यदि आकाशके कोने कोनेमे यह आनन्द भरा न होता तो कोई प्राण धारण नहीं कर सकता था। क्योंकि भगवान् आनन्दमय है, रस-स्वरूप है। और फिर भी विशेषता यह कि रस पाकर ही वह आनन्दी होता है। स्वय रसरूप होकर भी वह रसका चाहक है, और स्वय आनन्दरूप होकर भी वह तब तक आनन्दवान् नही होता जब तक उसे रस न मिल जाय। यह विरोधाभास है, पर भक्तोंका दावा है कि उन्होंने अनुभव-रूपमें साक्षात्कार किया है—

रसो वै सः। रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

(तैत्तिरीय० २—७)

जो तर्कसे इसका अनुसधान करना चाहेगा उसके लिये यह बात रहस्य-सी दीखेगी पर जो प्रेमकी दृष्टिसे देखेगा उसके लिये इसमे कोई रहस्य नहीं है, कोई असगति नहीं है और न कोई विरोध ही है। उसके लिये यह भगवानकि लीला है। वह स्वय इस लीलाका जाल पसारे हुए है, इसलिये स्पष्ट ही उसे

प्रेमकी भूख है। यह पूछना बेकार है कि उसे क्या कमी है जो यह भूख लगी? क्योंकि यह सब उसकी लीला है। सही इतना ही है कि वह रस पाये बिना आनन्दी नहीं होता,—'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।' इसी लीलाके लिये प्रेम भिखारी साईं राह चलते भक्तपर रग डाल देता है। जो दुनियादार है और जिनकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं वे उस रगकी लीलाको अनुभव ही नहीं करते, अपने रास्ते चले जाते हैं। पर जो अनुभवी हैं वे व्याकुल हो उठते है। उन्हे एक व्याकुल पुकार सुनाई देती है। जैसे प्रियतमने छेड़खानी करके एक ऐसी पुकार फेंकी है जिसकी चोट सँभालना मुश्किल है। यह पुकार सारे शरीरको बेध डालती है। इसकी कोई औषध नही, मन्त्र नहीं, जड़ी नहीं, बूटी नही, बेचारा वैद्य क्या कर सकता है? इस प्रकारकी चोट जिसे लगी वही अभिभूत हो गया। देवता हो या मनुष्य, मुनि हो या राह चलता आदमी, पीर हो या औलिया, एक बार चोट लगनेपर अपनेको सँभाल रखना कठिन हो जाता है। कबीरदास गवाह हैं, कि साईंके इस रंगका चोट खाया मनुष्य सब रगोंसे रग जाता है, और फिर भी उसका रंग सब रगोंसे न्यारा होता है। स्वय कबीरदास रग चुके थे। वे इस अकारण प्रेम-पुकारसे घायल हो चुके थे। व्याकुल भावसे वे सतगुरुके पास इसका उपाय पूछने गये थे—

सतगुरु हो महाराज, मोपे साईं रग डारा।
सब्दकी चोट लगी मेरे मनमें, बेध गया तन सारा।
औषध-मूल कछु नहीं लागै, क्या करै बैद बेचारा।
सुर-नर मुनिजन पीर-औलिया, कोई न पावै पारा।
साहब कबीर सर्व रँग रँगिया, सब रँगसे रँग न्यारा॥

—शब्दा० ५ पृ० ९

फागुनकी ऋतु नजदीक आ जाती है, प्रियतमके रंग डालनेसे अपने आपको भूल गया हुआ भक्त व्याकुल भावसे सोचने लगता है—हाय, वह सुख फिर क्या मिल सकेगा? क्या वह अलबेला सोईं फिर मिलेगा? फिर उसके रंगकी चोट खानेका सौभाग्य भाग्यमें बदा है? कौन है जो पियाके पास तक पहुँचा सके? धन्य ह जो प्रियके साथ एकमेव होकर फाग खेलती है, धन्य है वे जो उसकी मनभावती हैं और अभागिन है वह सखी जो ऐंचातानीमें ही रह गई। प्रियका रूप क्या वर्णन किया जा सकता है? प्रेम-दीवानी प्रेमिका उसे अलगसे

कैसे समझावे? वह तो उसीमें समा गई है,—तन्मय हो गई है। कबीरदास इस फागलीलाका आनन्द अनुभव कर चुके थे। उनकी गवाहीपर हम विश्वास कर सकते हैं कि वह फाग साधारण फाग नहीं है। इस पृथ्वीपर उसकी तुलनामें कोई फाग खड़ी ही नहीं हो सकती। यह कहनेकी चीज नहीं है, अनुभव करनेकी चीज है,—'अकथ कहानी' है,—विरलाके नसीबमें इस परमसुखका अनुभव बदा है—

रितु फागुन नियरानी हो,
कोइ पियासे मिलावे ॥
सोई सुंदर जाको पियाको ध्यान है,
सोइ पियाकी मनमानी।
खेलत फाग अंग नहि मोड़े,
सतगुरुसे लिपटानी।
इक इक सखियाँ खेल घर पहुँची,
इक इक कुल अरुझानी।
इक इक नाम बिना बहकानी,
हो रही ऐचातानी ॥
पियको रूप कहाँ लगि बरनौं,
रूपहि माहि समानी।
जो रँग रँगे सकल छबि छाके,
तन-मन सबहि भुलानी ॥
या मत जाने यहि रे फाग है,
यह कछु अकथ कहानी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो,
यह गति विरले जानी ॥
(शब्दा० २२, पृ० १५)

यह है लीला। इसका रहस्य समझना कठिन है, क्योंकि यह रहस्यका समाधान है। समाधानका समाधान कैसा? भक्तका दावा है कि यह अनुभवसे पाई जाती है। लीला ही लीलाका मार्ग है। लीला ही साधन है, लीला ही साध्य है। जो साधक एक बार इसकी मस्तीसे वाकिफ हो गया वह आठों पहर मतवाला बना रहता है, नहीं, वह आठों पहरको,—सम्पूर्ण कालको निचोड़कर उसका रस पीता है। वह

आठों पहर मस्तीसे मत्त रहता है, ब्रह्मकी छौलमें वह जीवन धारण करता है। छौल अर्थात आनन्द। वह भगवदानन्दमें, अर्थात् भगवान्की लीलामें ही वास करता है। उसके लिए सत्यको पकड़ना आसान हो जाता है, क्योंकि वह सॉच और कॉचके ऊपर उठ जाता है। उसका जन्म और मरणका भ्रम भाग जाता है। उसे कोई भय नहीं होता, दुःख नहीं होता, वह निर्भय हो जाता है—

आठहूँ पहर मतवाल लागी रहै,
आठहूँ पहरकी छाक पीवै।
आठहू पहर मस्तान माता रहै,
ब्रह्मकी छौलमें साव जीवै।
सॉच ही कहतु औ सॉच ही गहतु है,
कॉचको त्याग करि सॉच लागा।
कहै कब्बीर यों साध निर्भय हुआ,
जनम और मरनका भर्म भागा।
(शब्दा० पृ० १०३–४)

भक्तकी भगवान्के साथ यह जो आनन्द-केलि या प्रेम लीला है वही मध्य युगके समस्त भक्तोंकी साधनाका केन्द्र बिन्दु है। भगवानके साथ यह रसमय लीला ही भक्तका परम काम्य है,—लीला जिसका कोई प्रयोजन नहीं, फल नहीं, कारण नहीं, आदि नहीं, अन्त नहीं। इसी बातको मध्ययुगके अन्यतम वैष्णव भक्त विश्वनाथ चक्रवर्तीने कहा था, 'प्रेम ही परम पुरुषार्थ है,—प्रेमा पुमर्था महान्।' साधारणतः जिनको पुरुषार्थ कहा जाता है वे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष भक्तके लिए कोई आकर्षण नहीं रखते। और कबीरदासने इसी बातको और शक्तिशाली ढगसे कहा था—

राता-माता नामका, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदारका, मॉगै मुक्ति बलाय॥
(क० वच० पृ० १३)

और भक्तिके आदर्शकी घोषणा करते हुए द्विधाहीन भाषामें कहा है—
भागविना नहि पाइये, प्रेम-प्रीतिकी भक्त।
बिना प्रेम नहीं भक्ति कछु, भक्ति-भरयो सब जक्त॥

प्रेम विना जो भक्ति है, सो निज दम्भ-बिचार ।
उदर भरनके कारने, जनम गवायौ सार ॥
(स० क० सा० पृ० ४१)

परन्तु कबीरदास अपने युगके सगुण साधना-परायण भक्तोंसे कुछ भिन्न थे । यद्यपि दोनोकी साधनाका केन्द्र बिन्दु यह प्रेम-भक्ति है,—इसे आनन्दकेलि, प्रीति, भक्ति, प्रेमलीला आदि जो भी नाम दे दिया जाय,—तथापि एक बातमे वे सबसे अलग हो जाते हैं । हमने ऊपर लक्ष्य किया है कि भारतील मनीषी उन दिनों स्मृति और पुराण ग्रन्थोंकी छान बीनमें जुटे हुए थे । उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्पराको शिरोधार्य कर लिया था,—अर्थात् सब कुछ मानकर, सबके प्रति आदरका भाव बनाये रहकर अपने चलनेका मार्ग तै करना । सगुणोपासक भक्त गण भी सम्पूर्ण रूपसे इस पुरानी परम्परामें प्राप्त मनोभावके पोषक रहे । समस्त शास्त्रों और मुनिजनोंको अकुण्ठ चित्तसे अपना नेता मानकर उनके वाक्योंकी सगति प्रेम-पक्षमें लगाने लगे । इसके लिए उन्हें मामूली परिश्रम नहीं करना पड़ा । समस्त शास्त्रोंका प्रेम-भक्ति मूलक अर्थ करनेमें उन्हें नाना अधिकारियों और नाना भजनशैलियोंकी आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी, नाना अवस्थाओं और अवसरोंकी कल्पना करनी पड़ी, शास्त्र-ग्रन्थोंके तारतम्यकी भी कल्पना करनी पड़ी । सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृतिके प्रस्तारसे अनन्त प्रकृतिके भक्तों और अनन्त प्रणालीके भजनोंकी कल्पना करनी पड़ी । सबको उन्होंने उचित मर्यादा दी । यद्यपि अन्त तक चल कर उन्हे भागवत महापुराणको ही सर्व प्रधान प्रमाण-ग्रंथ मानना पड़ा था पर उन्होंन किसी भी शास्त्रकी उपेक्षा या अवहेलना न की । उनकी दृष्टि बराबर भगवान्के परम-प्रेममय रूप और उनकी मनोहारिणी लीलापर निबद्ध रही पर उन्होंने बड़े धैर्यके साथ अन्यान्य शास्त्रोंकी सगति लगाई और एक अभूतपूर्व निष्ठा और मर्यादा-प्रेमको समाजमें प्रतिष्ठित कराया ।

कबीरदासका रास्ता उल्टा था । उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था । जितने प्रकारके संस्कार पड़नेके रास्ते हैं वे प्रायः सभी उनके लिये बन्द थे । वे मुसलमान होकर भी असलमें मुसलमान नहीं थे, हिन्दू होकर भी हिन्दू नही थे, वे साधु होकर भी साधु (=अगृहस्थ) नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे, योगी होकर भी योगी नही थे । वे कुछ भगवान्की ओर ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे । वे भगवान्की नृसिंहावतारकी मानवप्रतिमूर्ति थे ।

नृसिंहकी भाँति वे नाना असम्भव समझी जानेवाली परिस्थितियोंके मिलन-बिंदुपर अवतीर्ण हुए थे। हिरण्यकशिपुने वर माँग लिया था कि उसको मार सकनेवाला न मनुष्य हो न पशु, मारे जानेका समय न दिन हो न रात, मारे जानेका स्थान न पृथ्वी हो न आकाश, मार सकनेवाला हथियार न धातुका हो न पाषाणका —इत्यादि। इसीलिये उसे मार सकना एक असम्भव और आश्चर्यजनक व्यापार था। नृसिंहने इसीलिए नाना कोटियोंके मिलन-बिन्दुको चुना था। असम्भव व्यापारके लिये शायद ऐसी परस्पर विरोधी कोटियोंका मिलन बिन्दु भगवान्‌को अभीष्ट है। कबीरदास ऐसे ही मिलन बिन्दुपर खड़े थे। जहाँसे एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँपर एक ओर योग मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति-मार्ग, जहाँसे एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना,—उसी प्रशस्त चौरस्तेपर वे खड़े थे। वे दोनो ओर देख सकते थे और परस्पर-विरुद्ध दिशामे गये हुए मार्गोके दोष गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदासका भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग भी किया।

जैसा कि शुरूमें ही बताया है, कबीरदासने अपनी प्रेम भक्तिमूला साधनाका आरम्भ एकदम दूसरे किनारेसे किया था। यह किनारा सगुण साधकोंके किनारेसे ठीक उल्टे पड़ता है। सगुण साधकोंने सब कुछ मान लिया था, कबीरने सब कुछ छोड़ दिया था। प्रथम श्रेणीके भक्तोंकी महिमा उनके अथक परिश्रम और अव्यय धैर्यमें है और कबीरकी महिमा उसके उत्कट साहसमें। उन्होने सफेद कागजपर लिखना शुरू किया था। वे उस पाण्डित्यको बेकार समझते थे जो केवल ज्ञानका बोझ ढोना सिखाता है, जो मनुष्यको जड़ बना देता है और भगवान्‌के प्रेमसे वंचित करता है। भगवत्प्रेमपर उनकी दृष्टि इतनी दृढ निबद्ध थी कि इस ढाई अक्षर (प्रेम) को ही वे प्रधान मानते थे—

पढ़ि पढ़िके पत्थर भया, लिखि लिखि भया जु ईंट।
कहै कबीरा प्रेमकी, लगी न एकौ छींट॥
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ढाई अक्षर प्रेमका, पढ़ै सो पंडित होइ॥

यह प्रेम ही सब-कुछ है, वेद नहीं, शास्त्र नहीं, कुरान नहीं, जप नहीं, माला नहीं, तस्बीह नहीं, मंदिर नहीं, मस्जिद नहीं, अवतार नहीं, नबी नहीं, पीर नहीं, पैगम्बर नहीं। यह प्रेम समस्त बाह्याचारोंकी पहुँचके बहुत ऊपर है। समस्त संस्कारोंके प्रतिपाद्यसे कहीं श्रेष्ठ है। जो कुछ भी इसके रास्तेमें खड़ा होता है वह हेय है।

उन्होंने समस्त व्रतों, उपवासों और तीर्थोंको एक साथ अस्वीकार कर दिया। इनकी संगति लगाकर और अधिकारी-भेदकी कल्पना करके इनके लिए भी दुनियाके मान-सम्मानकी व्यवस्था कर जानेको उन्होंने बेकार परिश्रम समझा। उन्होंने एक अल्लाह निरंजन निर्लेपके प्रति लगनको ही अपना लक्ष्य घोषित किया। इस लगन या प्रेमका साधन यह प्रेम ही है और कोई भी मध्यवर्ती साधन उन्होंने स्वीकार नहीं किया। प्रेम ही साध्य है, प्रेम ही साधन,—व्रत भी नहीं, मुहर्रम भी नहीं, पूजा भी नहीं, नमाज भी नहीं, हज भी नहीं, तीर्थ भी नहीं।

एक निरंजन अलह मेरा, हिंदू तुरक दहूँ नहि मेरा।
राखूँ व्रत ना महरम जाना, तिस ही सुमिरूँ जो रहै निदाना।
पूजा करूँ न निमाज गुजारूँ, एक निराकार हिरदै नमसकारूँ।
नां हज जाऊँ न तीरथ-पूजा, एक पिछाण्यां तौ क्या दूजा।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन-सूं मन लागा।

(क० ग्र० पद ३३८)

जो ये पीर पैगंबर, काजी-मुल्ला, रोजा-नमाज और पश्चिमकी भक्ति हैं ये सभी गलत हैं और वे जो देव और द्विज, एकादशी और दिवाली पूरब दिशाकी भक्ति हैं वे भी गलत हैं। भला हिन्दुओंके भगवान् तो मन्दिरमें रहते हैं और मुसलमानोंके खुदा मस्जिदमें, पर जहाँ मन्दिर भी नहीं है और मस्जिद भी नहीं है वहाँ किसकी ठकुराई काम कर रही है? कबीरदासने इन सबको अस्वीकार कर दिया और उन लोगोंको भी अस्वीकार कर दिया जो आँख मूँदकर चलना ही पसन्द करते हैं, अपने आत्मारामको ही संगी बनाकर वे निकल पड़े। बोले-ओ फकीर, तू अपनी राह चल। मन्दिरमें भी मत जा और मस्जिदकी ओर भी रुख न कर। काहेको टंटेमें पड़ता है। तेरे राम-रहीमा, केसौ-करीमामें तो कोई भेद नहीं है, तेरे लिये तो दोनों एक ही हैं, एकमेवाद्वितीयम्।—

हमरे राम-रहीम-करीमा, केसौ अलह-राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई॥
इनके काजी मुलां पीर पगंबर, रोजा पछिम-निवाजा।
इनके पूरब-दिसा देव-दिज-पूजा, ग्यारसि-गंग-दिवाजा॥
तुरक मसीति देहुरे हिन्दू, दुहूठा राम खुदाई।
जहाँ मसीति-देहुरा नाही, तहाँ काकी ठकुराई॥
हिंदू तुरक दोऊ रह तूटी, फूटी अरु कनराई।
अरध उरध दसहूँ दिस जित तित पूरि रह्या राम राई।
कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी राहि चलि भाई।
हिंदू तुरकका करता एकै, ता गति लखी ना जाई॥
(क० ग्र० पद ५८)

परन्तु कबीर यहीं नहीं रुके। अगर 'अल्लाह' शब्द मुस्लिम धर्मका प्रतिनिधित्व करता है और 'राम' शब्द हिन्दू संस्कृतिका तो वे इन दोनोको सलाम कर देनेको तैयार हैं। आखिर कोई न कोई शब्द तो व्यवहार करना ही पड़ेगा। पर अगर अरबी फारसीके शब्द मुस्लिम संस्कृतिकी और संस्कृत-हिन्दीके शब्द हिन्दू संस्कृतिकी अवश्य याद दिला देते हैं तो कबीरदास इस बुद्धि भेदको भी पनपने नहीं देते। ये वेद और कुरानके भी आगे बढ़कर कहते हैं—

गगन गरजे तहाँ सदा पावस झरै, होत झनकार नित बजत तूरा।
वेद-कत्तेबकी गम्म नाही तहाँ, कहै कब्बीर कोइ रमै सूरा॥
—शब्दा० पृ० १०४

इस प्रकार सब बाहरी धर्माचारोंको अस्वीकार करनेका अपार साहस लेकर कबीरदास साधनाके क्षेत्रमें अवतीर्ण हुए। केवल अस्वीकार करना कोई महत्त्वकी बात नहीं है। हर कोई हर किसीको अस्वीकार कर सकता है। पर किसी बड़े लक्ष्यके लिये बाधाओंको अस्वीकार करना सचमुच साहसका काम है। बिना उद्देश्यका विद्रोह विनाशक है, पर साधु उद्देश्यसे प्रणोदित विद्रोह शूरका धर्म है। उन्होने अटल विश्वासके साथ अपने प्रेम-मार्गका प्रतिपादन किया। रूढ़ियों और कुसंस्कारोंकी विशाल वाहिनीसे वह आजीवन जूझते रहे, प्रलोभन और आघात,—काम और क्रोध भी उनके मार्गमें जरूर खड़े हुए होंगे, उन्होंने उनको असीम साहसके साथ जीता। ज्ञानकी तलवार उनका एक-मात्र साधन था, इस अद्भुत शमशेरको उन्हों

क्षण-भरके लिये भी रुकने नहीं दिया। वह निरन्तर इकसार बजती रही, पर शीलके स्नेहको भी उन्होंने नहीं छोड़ा,—यही उनका कवच था। इन कुसंस्कारों, रूढ़ियों और बाह्याचारके जंजालोंको उन्होंने बेदर्दीके साथ काटा। वे सिर हथेलीपर लेकर ही अपने भाग्यका सामना करने निकले थे। क्षण-भरके लिये भी उनकी भवें कुंचित नहीं हुईं, माथेपर बल नहीं पड़ा। वे सच्चे शूरकी भाँति जूझते ही रहे।

> एक समसेर इकसार बजती रहै
> खेल कोइ सूरमा सन्त झेलै।
> काम-दल जीति करि क्रोध पैमाल करि
> परम सुख धाम तहँ सुरति मेलै॥
> सीलसे नेह करि ज्ञानको खड्ग ले
> आय चौगानमें खेल खेलै।
> कहै कबीर सोइ सन्त जन सूरमा
> सीसको साप करि करम ठेलै॥—(शब्दा० पृ० १०६)

जो लोग कबीरदासको हिन्दू मुस्लिम धर्मोंका सर्व-धर्म-समन्वयकारी सुधारक मानते हैं वे क्या कहते हैं, ठीक समझमें नहीं आता। कबीरका रास्ता बहुत साफ था। वे दोनोंको शिरसा स्वीकार कर समन्वय करनेवाले नहीं थे। समस्त बाह्याचारोंके जंजाल और संस्कारोंको विध्वंस करनेवाले क्रान्तिकारी थे। समझौता उनका रास्ता नहीं था। इतने बड़े जंजालको नाहीं कर सकनेकी क्षमता मामूली आदमीमें नहीं हो सकती। कमजोर स्नायुका आदमी इतना भार बर्दाश्त नहीं कर सकता। जिसे अपने मिशनपर अखण्ड विश्वास नहीं है वह इतना असम साहसी हो ही नहीं सकता।

कबीरने जो समस्त बाह्य-आचारोंको अस्वीकार करके मनुष्यको साधारण मनुष्यके आसनपर और भगवान्‌को 'निरपख' भगवान्‌के आसनपर बठानेकी साधना की थी। उसका परिणाम क्या हुआ और भविष्यमें वह उपयोगी होगा या नहीं, यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं। सफलता महिमाकी एक-मात्र कसौटी नहीं है। आज शायद यह सत्य निबिड़ भावसे अनुभव किया जानेवाला है कि सबकी विशेषताओंको रखकर मानव-मिलनकी साधारण भूमिका नहीं तैयार की जा सकती। जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, शास्त्रगत, सम्प्रदायगत बहुतेरी विशेषताओंके जालको छिन्न करके ही वह आसन तैयार

किया जा सकता है जहाँ एक मनुष्य दूसरेसे मनुष्यकी हैसियतसे ही मिले। जब तक यह नहीं होता तब तक अशान्ति रहेगी, मारामारी रहेगी, हिंसा-प्रतिस्पर्द्धा रहेगी। कबीरदासने इस महती साधनाका बीज बोया था। फल क्या हुआ, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है। आधुनिक कालके श्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथने विश्वासपूर्वक गाया है कि जीवनमें जो पूजायें पूरी नहीं हो सकी हैं, मैं ठीक जानता हूँ कि वे भी खो नहीं गई हैं। जो फूल खिलनेसे पहले ही पृथ्वीपर झड़ गया है, जो नदी मरुभूमिके मार्गमें ही अपनी धारा खो बैठी है,—मैं ठीक जानता हूँ कि वे भी खो नहीं गई हैं। जीवनमें आज भी जो कुछ पीछे छूट गया है, जो कुछ अधूरा रह गया है, मैं ठीक जानता हूँ, वह भी व्यर्थ नहीं हो गया है। मेरा जो भविष्य है, जो अब भी अछूता है, वे सब तुम्हारी वीणाके तारमें बज रहे हैं, मैं ठीक जानता हूँ, ये भी खो नहीं गये हैं—

जीवने यत पूजा हलो ना सारा,
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा।
ये फुल ना फुटित झरेछे धरणीते
ये नदी मरुपथे हारालो धारा।
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा।
जीवने आजो याहा रयेछे पिछे,
जानि हे जानि ताओ हय नि मिछे,
आमार अनागत आमार अनाहत
तोमार वीणा तारे बाजिछे ता'रा।
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा।—गीतांजलि

कबीरदासकी साधना भी न तो लोप हो गई है, न खो गई है। उनका पक्का विश्वास था कि जिसके साथ भगवान् हैं और जिसे अपने इष्टपर अखण्ड विश्वास है उसकी साधनाको करोड़ करोड़ काल भी झकझोरकर विचलित नहीं कर सकते—

जाके मन विश्वास है, सदा गुरु है संग।
कोटि काल झकझोरही, तऊ न हो चित भंग॥

(स० क० सा० पृ० १८४)

१४—भगवत्प्रेमका आदर्श

हमने देखा कि कबीरदासकी भक्ति-भावनाका केन्द्रबिन्दु प्रेमलीला है। किन्तु इस लीलाका जो स्वरूप कबीरदासने उपस्थित किया है वह बहुत व्यापक और विशाल है। भक्तरूपी प्रियाके लिये भगवानरूपी प्रेमिकने जो चुनरी सँवार दी है वह मामूली चुनरी नहीं है और उस चुनरीको धारण कर सकनेकी क्षमता भी मामूली नहीं है। स्वयं प्रिय ही जिसपर प्रसन्न होकर यह चुनरी दे दे वही इसे पा सकता है, वही इसे पहन सकता है,—यमेवैष वृणुते तेन लभ्य। कैसी है वह चुनरी? अष्टप्रहररूपी आठ हाथोंकी वह बनी है और पंचतत्त्व-रूपी पाँच रंगोंसे रंगी है। समूचा काल उसका उपादान है और समस्त जड़ प्रकृति उसकी प्रकाशिका। कालके महान् उपादानसे जो आवरण पट तैयार हुआ है उसको प्रकाशित करनेके लिये पंचतत्त्व ही उपयुक्त रंग है। कालका अनादि-अनन्त प्रवाह सचमुच ही तब तक व्यक्त नहीं हो सकता था जब तक पंचतत्त्वोंके द्वारा हम उसपर लकीर खींच खींचके न देख लें। काल अविभाज्य है, अगणनीय है, अपरिमेय है। ठोस पदार्थोंके द्वारा ही हम उसका विभाग करते हैं, गणना करते हैं, परिमाप करते हैं। सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह-उपग्रह आदि बाह्य वस्तुओंसे और मन बुद्धि आदि अन्त करणसे हम इस अविभाज्य कालका रस ग्रहण करते हैं। इसीलिये कालरूप सनातन तत्त्वसे बनी हुई चुनरीके लिये पंचतत्त्व (और इसीलिये लक्षणासे जड प्रकृति) ही उपयुक्त रंग है। इस महान् शृंगार-पटके आँचलमें सूर्य, चन्द्र और तारोंकी जगमग ज्योतिका जलना ही उपयुक्त चित्रण सामग्री है। इस अनादि अनन्त चुनरीको किसीने ताने बानेपर नहीं बुना—यह सनातन है, चिर नवीन है। पियाने प्रसन्न होकर जिस प्यारीको यह शृङ्गार-शाटिका दान की हो, धन्य है वह प्रियतमा, बलिहारी है उस प्रियतमकी!—

चुनरिया हमरी पियाने सँवारी,
    कोई पहिरै पियकी प्यारी।
आठ हाथकी बनी चुनरिया
    पँच रँग पटिया पारी।

चाँद सुरुज जामें आँचल-लागे
जगमग जोति उजारी ।
बिनु ताने यह बनी चुनरिया
दास कबीर बलिहारी ॥

यह विशाल परिधेय पट जिस प्रियने दिया है वह अजीब मस्तमौला है । प्रेम उसका सस्ता भी नहीं है, हल्का भी नहीं है । वह जिसे यह चुनरी देता है उससे बहुत बड़ा मूल्य चुका लेता है । इस चुनरीको पा लेना सौभाग्यकी बात है पर इसको सँभालके रख लेना हिम्मतका काम है । भक्त गण साक्षी हैं कि इस महान् दानको जिस व्यक्तिने हल्का और मुलायम समझा वह हमेशाके लिये गया । भगवान्ने जिस उपहारको प्रेमपूर्वक दिया हो उसे हल्का और मुलायम समझना गलती है । प्रेम जितना ही महान् होगा, उसकी कीमत भी उतनी ही अधिक होगी । यह तो माला नहीं है, यह उसकी तलवार है । भक्तने भावुकताके आवेशमें जिसे भगवान्की वरमाला समझा वह वस्तुतः तलवार निकली । आगके समान है उसकी आँच, वज्रके समान है भार । " हे प्रिय, तुमने कलकी सुहाग-रातको यह क्या रख दिया है ? प्रातःकालीन तरुण प्रकाश ज्यों ही खिड़कीके रास्ते तुम्हारी शय्यापर पड़ा त्यों ही मैंने देखा कि यह तो तुम्हारी तलवार है । चहकते हुए सबेरेके पक्षीने व्यंग किया—' नारी तूने क्या पाया है ? ' ना, यह माल्य नहीं है, नैवेद्यका पात्र नहीं है, गन्धजलकी झारी भी नहीं है,—अरे, यह तो तुम्हारी भयंकर तलवार है ।—

ए तो माला नय गो, ए ये
तोमार तरवारि ।
ज्वले ओठे आगुन येन
वज्र हेन भारी— "
ए ये तोमार तरवारि ।
तरुण आलो जानला बेये
पड़लो तोमार शयन छेये
भोरेर पाखी शुधाय गेये
' की पेलि तुइ नारी ! '
नय ए माला, ए थाला ।

गवजलेर झारी,
ए ये भीषण तरवारि ।
(—रवीन्द्रनाथ 'खेया'

भक्त हैरान है ! इसे ही क्या दान कहते हैं ? हाय, हाय, उसे वह कहाँ छिपा कर रखे ? स्थान कहाँ है ? 'हाय प्यारे, यही क्या तुम्हारा दान है ? मै शक्ति हीना नारी, मुझे क्या यह आभूषण शोभेगा ? तुम्हारे इस प्रेमोपहारको रखनेका एकमात्र स्थान तो यह कलेजा है, पर वहाँ रखती हूँ तो प्राण व्यथासे काँप उठते ह, तो भी हे प्रियतम, तुम्हारे इस दानको मै इसी कलेजेसे लगा लूँगी। मै जान गई कि तुम जिसे प्यार करते हो उसके लिये फूलकी सेज नही देते, दु खका कँटीला मार्ग दिखा देते हो—

ताइ तो आमि भावि बसे
ए कि तोमार दान ?
कोथाय एरे लुकिये राखि
नाइ ये हेन स्थान ।
ओ गो ए कि तोमार दान ?
शक्तिहीना मरि लाजे
ए भूषण कि आमार साजे ?
राखते गेले बुकेर माझे
व्यथा ये पाय प्राण ।
तबु आजि वइब बुके
एइ वेदनार मान ।
निये तोमारि एइ दान । —(रवीन्द्रनाथ खेया)

सो उस मस्ताने प्रियतमकी चुनरी सँभालना भी कठिन काम है । रणरगका मतवाला सूरा दो-चार क्षणके लिये जूझता है। क्योकि उसे जो उपहार मिला है, वह स्थूल है, इस उपहारका प्रेम भी स्थूल है। भले वह उपहार राज्य हो, यश हो, मान हो, धन हो। सतीका सग्राम एकाध पलक रहता है, वह भी प्रलोभनोंसे जूझती है पर जो धर्म उसे उपहारके रूपमें मिला है वह सूक्ष्म होनेपर भी सासारिक है। परन्तु भक्तका सग्राम दिन-रातका जूझना है, मन और प्राणकी बाजी है। जरा-सी बाग ढीली हुई कि वह गिरा। उसका गिरना

भी मामूली गिरना नहीं है क्योंकि वह आसमानसे गिरता है और धरतीपर टुकड़े टुकड़े होकर बिखर जाता है। इस भयकर जूझका कारण यह है कि भक्तको जो प्रेम उपहारमें मिला है बहुत बेशकीमत है । उसका दाम चुकाना मामूली बात नही है। वह फूलोंकी सेज नही है, कॉंटोंका जगल है । यह दिन-रातका जूझना, दुख और विपत्तिमे बढते जाना, किसी विरलेका ही काम है—

सावका खेल तो विकट बेडा मती
        सती औ सूरकी चाल आगे।
सूर घमसान है पलक दो-चारका
        सती घमसान पल एक लागे।
साध सम्राम है रैन-दिन जूझना
        देह पर्जन्तका काम भाई।
कहै कबीर टुक बाग ढीली कर
        उलटि मन गगनसों जमीं आई।

(शब्दा० पृ० १०८)

तो क्या भगवान्का प्रेम किसी एक व्यक्तिको ही प्राप्त होता है? और लोग क्या निपट ठूठ ही है? नही, भला कौन है जिसे प्रियतमने सनातन काल-तारकी बनी हुई और पच-तत्त्वकी रँगी हुई चुनरी नहीं दी है? दी तो है लेकिन सँभालके रख सकनेवाला ही उसका प्रिय है, उस महान् शृङ्गार-पटका मूल्य समझ सकनेवाला धन्य है। बाकी लोग जो उसे मलिन कर रहे है, छिन्नभिन्न कर रहे हैं, हलका माने बैठे हैं, वे दयनीय नहीं तो क्या है? प्रियतम तो बराबर पुकार रहा है,—शब्दकी चोटसे बेध रहा है,—कौन है जो उसके साथ आनन्दकेलिको निकल पडेगा! चूनरी गन्दी हो गई है या गन्दी हो रही है, इस बातसे मनमे पश्चाताप भी तो हो! अरे ओ सुहागिन, साहब जब तुझे अपनायेगा तो तेरी चुनरीका दाग भी मिट जायगा। क्यों नहीं तू एक बार उसकी पुकारपर चल पड़ती!

मोरी चुनरीमें परि गयो दाग पिया।
पॉंच तत्तकी बनी चुनरिया, सोरह सै बंद लागे जिया।

यह चुनरी मेरे मैकेते आई, ससुरामें मनुआँ खोय दिया।
मलि मलि धोई दाग न छूटे, ग्यानको साबुन लाय पिया।
कहै कबीर दाग न छूटि है, जब साहेब अपनाय लिया॥

(श०श० पृ० ५८)

इस प्रकार कबीरदासने इस प्रेमलीलाको एक बहुत ही वीर्यवती साधनाके रूपमें देखा है। एक बार जिसे भगवानकी रहस्य-केलिकी पुकार सुनाई दे जाती है वह व्याकुल हो उठता है, प्रिय मिलनके लिये उसकी तड़पन संसारके किसी और विरह व्यापारसे तुलनीय नहीं हो सकती। चकईका विरह प्रसिद्ध है पर वह भी तो रातकी समाप्तिके बाद प्रियके साथ आसानीसे मिल जाती है। रामका विरह इतना आसान नहीं है। एक बार जो इस विरहकी चपेटमें आ गया वह कुछ ऐसा बेहाल हो जाता है कि कहकर प्रकाश करना कठिन है। उसे न दिनमें सुख मिलता है न रातमें, न सपनेमें, न जागरणमें, न धूपमें, न छाँहमें। राम विरहका मारा भक्त हर एक साधकसे पूछता रहता है कि वह कहाँ है, उसका प्रियतम किधर है, उसके पास जानेका रास्ता क्या है? वह ठीक उस विरहसे ऊबी विरहिणीके समान होता है जो हर-एक राहगीरसे पूछती रहती है कि उसके प्रियतम कब आयेंगे?—

चकवी बिछुरी रैणिकी, आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुरे रामसे, ते दिन मिले न राति॥
बासरि सुख ना रैण सुख, नां सुख सपुनमांहि।
कबीर बिछुड्या रामसूं, ना सुख धूप न छाँह॥
विरहिन ऊभी पथसिरि, पथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीवका, कब रे मिलैंगे आइ॥

(क० ग्र० पृ० ७-८)

रवीन्द्रनाथने जिसे तलवार कहा है, कबीरदासने उसीको बाण कहा है। यह बाण जब प्रियतमके कमानसे खिंचकर भक्तके कलेजेमें लगता है तो अन्तर छेद देता है, कलेजेको बेध देता है। जब तक यह बाण लग नहीं जाता तब तक कुछ पता नहीं चलता और जब एक बार कलेजेमें घुस जाता है तो उसकी पीड़ा तक ऐसी मधुर लगती है, कुछ इतनी मनभावनी होती है कि भक्त बार बार प्रार्थना करता है कि हे प्रिय, इस बाणसे फिर छेद दो, फिर इस हृदय-देशको

कुरेद डालो। अब तो वह बाण ही जीवन-आधार हो जाता है। उसके बिना भक्तको कल नहीं पड़ती—

कर कमान सर साधि करि, खचि जु मार्या माहि।
भीतरि भिद्या सुमार है, जीवै कि जीव नाहि॥
जब हूँ मारा खेंचि करि, तब मैं पाई जाणि।
लागी चोट मरम्मकी, गई कलेजा छाँड़ि॥
जिसि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिनु सचुपाऊँ नहीं॥
(क० ग्र० पृ० ८–९)

परन्तु वह प्रिय बड़ा ही कठोर है, और जैसा कि रवीन्द्रनाथने कहा है, 'दुःखकी रातका राजा है, अन्धकार-भरे महलका बादशाह है!' उसे सुख और साज पसन्द नहीं, अपनी प्रेयसीके विरहमें वह रस लेता है। वह सहज ही नहीं गलता। जब दुःखकी आँधी आती है, तब बिजलीकी कड़कके साथ वह भक्त प्रेयसीके छिन्न-भिन्न शयन-कथापर आ विराजमान होता है। उसका रास्ता दुःखका है, सकटका है, जूझनेका है, विपत्तिका है! भोले हैं वे, जो दुःखकी इस महिमाको नहीं समझते! अरे कौन है वहाँ पड़ा हुआ? खोल दे दरवाजा, जल्दी खोल दे। मांगल्य-शखकी गम्भीर ध्वनिसे मुखरित कर दे दिगन्तको! घनी काली गहरी रातमे अँधेरे घरका बादशाह आया है। देख, आँधीसे दिशाये समाच्छन्न हैं, आकाशमें बारम्बार वज्र-निनाद हो रहा है, बिजली झलक रही है। खीच ले आ, बिछा दे अपनी फटी गुदड़ी। अचानक दुःखकी रातका मेरा राजा आँधीके साथ आ पहुँचा है!

ओरे दुयार खुले दे रे—
बाजा शख बाजा।
गभीर राते एसेछे आज
आँधार घरेर राजा।
वज्र डाके शून्य तले
विद्युतेरि झिलिक झले
छिन्न शयन टेने एने
आङिना तोर साजा।

झड़ेर साथे हठात् एलो
दुःख-रातेर राजा ।
(रवीन्द्रनाथ खेया)

सो कबीरदासका प्रियतम भी 'दुःखका राजा है'। उसका रास्ता देखते देखते आँखोंमें झाईं पड़ गई है, नाम पुकारते पुकारते जीभमें छाले पड़ गये हैं। रातदिन आँखोंसे निर्झर झर रहा है, मुखसे पपीहेकी रट लगी हुई है,—विरह-वेदनासे सारा शरीर म्लान हो गया है। यह अजब 'दुःख' है। लोग इसे सांसारिक पीड़ा समझते हैं जो केवल कष्ट देती है, केवल अभावका प्रतिनिधित्व करती है। लेकिन यह पीड़ा अभाव-जन्य नहीं है, भाव-स्वरूप है। लोग जिसे दुःख कहते हैं उससे यह भिन्न है। यह जो परमप्रियतमके लिये रो-रोकर आँखें लाल हो गई हैं, वह भी एक अनिर्वचनीय आनंद है,—प्रेमकषायित नयनोंकी अद्भुत खुमारी है। प्रियतम इस दुःखके मार्गसे आता है, रोदन ही उसका मार्ग है। वह हँसीको पसन्द नहीं करता, सुखको नहीं चाहता और इसलिय इस रोदनमें भक्त एक प्रकारका उल्लास अनुभव करता है, क्योंकि यह प्रेमीके मिलनका मार्ग है—

अखड़ियाँ झाँईं पड़ी, पन्थ निहारि निहारि ।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि ॥ २२ ॥
नैना नीझर लाइया, रहट बसै निस-जाम ।
पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम ॥ २४ ॥
अखड़ि प्रेम-कसाइयाँ, लोग जाणै दुःखड़ियाँ ।
साँईं अपणैं कारणैं, रोई रोई रत्तड़ियाँ ॥ २५ ॥
हँसि हँसि कन्त न पाइये, जिनि पाया तिन रोइ ।
जो हँसि हँसि ही हरि मिलै, तो न दुहागिनि कोइ ॥
(क० ग्र०, पृ० ९)

एक बार अगर वह प्रियतम मिल जाय तो भक्त उसे नैनोंम इस प्रकार बन्द कर ले कि न वह और किसीको देख सके और न प्रियतमको ही किसी औरके देखनेका मौका मिले—

नैना अन्तरि आवतूं, ज्यूँ हौं नैन झँपेउं ।
नाँ हौं देखौं औरकूं, ना तुझ देखन देउं ॥ (क० ग्र०, पृ० १९)

कबीरदासके प्रेमके आदर्श सती और शूर हैं। जो प्रेम पदपदपर भावविह्वल कर देता है, जो मन और बुद्धिका मन्थन कर मनुष्यको परवश बना देता है, जो उत्तम भावावेश प्रेमीको हतचेतन बना देता है वह कबीरदासका अभीष्ट नहीं है। भक्तका संग्राम शूरके संग्रामसे भी बढ कर है, सतीके आत्मबलिदानसे भी श्रेष्ठ है। परन्तु फिर भी यदि भक्तके आत्मबलिदानकी झलक कहीं दिख सकती है तो वह सती और शूरमें ही दिखती है—

साधु सती औ सूरमा, इन पटतर कोउ नाहि।
अगम-पंथकों पग धरें, डिगैं तो कहाँ समाहि ॥ ३१ ॥
साधु सती ओ सूरमा, कबहुँ न फेरै पीठ।
तीनों निकसि जो बाहुरैं, ताको मुँह मति दीठ ॥ ३९ ॥
टूटै बरत अकाससो, कौन सकत है झेल।
साधु सती अरु सूरका, आनी ऊपर खेल ॥ २६ ॥

(स० क० सा०, पृ० २२०)

परन्तु फिर भी,

आगि आँच सहना सुगम
सुगम खड्गकी धार।
नेह निबाहन एकरस
महा कठिन व्यवहार ॥ ६१ ॥

यह जो एकरस प्रेम है उसका निबाहना सचमुच कठिन व्यवहार है। एक-रस अर्थात् जो भावावेगसे उफन न पडे और विरह-तापसे बैठ न जाय, जो क्षणिक आवेशमें ज्ञान और कर्मकी मर्यादा न तोड दे और चिर-अभ्याससे जड आवर्तन-का रूप न ग्रहण कर ले। रवीन्द्रनाथने इस बातको बहुत ही कवित्वपूर्ण और मार्मिक भाषामें व्यक्त किया है। " हे नाथ जो भक्ति तुम्हें लेकर अधीर हो उठती है, क्षणभरमें नृत्य गीत-गानेके रूपमें विह्वल हो उठती है, भावोन्मादसे मत्त बना देती है, वह ज्ञानको लोप कर देनेवाली (बेहोश कर देनेवाली) उफनती हुई फेनमयी भक्तिकी मद-धारा मुझे नही चाहिये। हे नाथ, मुझे शान्त भक्तिरूपी स्निग्ध अमृतसे भरा हुआ मंगल कलश दान करो,—मंगल कलश, जो संसारके भवन-द्वारपर सुशोभित हो,—जो भक्ति मेरे समस्त जीवनमें गूढ और गंभीर भावसे फैल जायगी, समस्त कर्मोंमें मुझे बल देगी, और हमारी उन सारी

शुभ चेष्टाओंको भी आनंद और कल्याणसे भर देगी जो निष्फल हो चुकी हैं। यह शान्तरस-भक्ति मुझे सब प्रेमोंमें तृप्ति देगी, समस्त दुःखोंमें कल्याण देगी, समस्त सुखोंमें दाहहीन दीप्ति भर देगी। भावनावेगके आँसुओंको रोककर मेरा चित्त परिपूर्ण अमत्त और गम्भीर बना रहेगा—

ये भक्ति तोमारे लये धैर्य नाहि माने,
मुहूर्ते विह्वल हय नृत्य-गीत-गाने,
भावोन्माद मत्ततय, सेइ ज्ञानहारा
उद्भ्रान्त उच्छलफेन भक्ति मद-धारा
नाहि चाहि नाथ। दाओ भक्ति शान्तिरस,
स्निग्ध-सुधापूर्ण करि, मंगल कलस
संसार भवन-द्वारे। य भक्ति-अमृत
समस्त जीवन मोर हइबे विस्तृत
निगूढ़ गभीर, सर्व कर्मे दिबे बल
व्यर्थ शुभ चेष्टारे ओ करिबे सफल
आनन्दे कल्याण। सर्व प्रेमे दिबे तृप्ति
सर्व दुःखे दिबे क्षेम, सर्व सुखे दीप्ति-
दाहहीन। सम्बरिया भाव-अश्रुनीर
चित्त रबे परिपूर्ण अमत्त गभीर।

(—नैवेद्य)

सो, कबीरदासका आदर्श भी वही है जो क्षण भरके भावावेशमें उफन नहीं पड़ता। यह प्रेम मृत्युका प्रेम है, सिर उतार कर ही किसीको इस प्रेम मंदिरमें बैठनेका अधिकार मिलता है। अगम्य है इसका मार्ग, अगाध है इसका विस्तार। यह खालाका घर नहीं है जहाँ, मचलने और रोनेसे ही फरमाइश पूरी हो जाती है—

कबीर यहु घर प्रेमका, खालाका घर नाहि।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर माहि॥
कबीर निज घर प्रेमका, मारग अगम-अगाध।
सीस उतारि पगतलि धरै, तब निकटि प्रेमका स्वाद॥

(क० ग्रं०, पृ० ६९)

और फिर जिस सतीने हाथमें सिंदूरकी डिबिया ले ली है, उसे मृत्युका क्या डर ?—सिंदूरकी डिबिया अर्थात् अचल सौभाग्यकी निशानी। भक्त भी भगवान्‌के साथ अनन्त मिलनका अभिज्ञान जब पा जाता है तो उसे मृत्युका कोई डर नहीं रहता। मृत्यु उसके लिये आनद है क्योंकि इसी दरवाजेसे 'पूरण परमानद' का आगमन होता है। मृत्यु तो सीमाके अन्तका नाम है और सीमाका अन्त पाना ही असीमकी गोदमें जाना है। इसलिये भक्त मृत्युकी परवा तो करता ही नहीं, उल्टे उसे चाहता है, कब वह दिन आयेगा जब वह मृत्युके द्वारा इस सीमाको पार कर जायगा और असीम 'पूरण परमानंद' मे मिल जायगा।—

अब तो ऐसी ह्वै पडी, मनकारु चित कीन्ह।
मरनै कहा डराइये, हाथि स्यंधौरा लीन्ह॥
जिस मरनैथैं जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरिहूँ कब देखहू, पूरण परमानन्द॥
(क० ग्र०, पृ० ६९)

मृत्यु ? मरना भी कोई चाहेगा ? पर भक्त मरना चाहता है, आत्म-हत्या नहीं। सांसारिक विषयी व्यक्ति आत्म हत्या करते हैं। मृत्यु तो संग्राममें होती है, जौहरसे होती है,—जहाँ मरनेवाला अपनेको बलिदान कर देता है। जो अपनेको बलिदान नहीं करता वह रोग-शोकका शिकार हो जाता है। उसकी मृत्यु या तो परवश-मृत्यु है या आत्म घात है। पर जो प्रतिक्षण अपनेको उत्सर्ग कर सका है, जो सदा सिर हथेलीपर लिये हुए है, वह जीता भी है तो मृत्युका वरण करके। अपना आपा ही तो सीमा है, बधन है, भय है। उसको त्याग देना और बलिदान कर देना ही मृत्यु है। सो कबीरदास इसी मृत्युको वरण करनेकी सलाह देते हैं। मरके मरना तो कोई मरना नहीं हुआ, क्यों न जीते ही मरा जाय ? अपने आपको उत्सर्ग कर देना ही जीते हुए मर जाना है।—

हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यों न मराइ।
मूवा पीछे सत करै, जीवत क्यू न कराइ॥ क० ग्र० पृ० ७१

कबीरके प्रेमका जो आदर्श है वह कविवर रवीन्द्रनाथके प्रेम-लीलाके आदर्शसे मिलता सा है। रवीन्द्रनाथने बहुत अधिक सरस और कवित्वपूर्ण भंगीमें जिस प्रेमलीलाको व्यक्त किया है उसे कबीरने सरल, फक्कड़ाना और अर्थपूर्ण

भाषामें व्यक्त किया है। रवीन्द्रनाथ काव्यके सुकुमार मध्यमका सहारा लेते हैं और नये-पुराने, बाहरके और घरके शत-शत विचारोंकी सहायतासे जिस भाव-जगत्का निर्माण करते हैं वह अपूर्व है, परन्तु, यह कहनेमें कोई हर्ज नहीं कि उनके आदर्शका वैसा ही रूप कबीरमें मिल जाता है। कभी कभी रवीन्द्रनाथकी कवितायें और अलोचनायें कबीरको समझनेमें सहायक होती हैं। फिर भी दोनोंमें एक बड़ा भारी भेद है जो जानना कबीरके पाठकके लिये बड़े कामकी चीज है। ऊपर हमने कई जगह लक्ष्य किया है कि कबीर और रवीन्द्रनाथ दोनोंकी ही धारणा है कि भगवान भक्तके साथ प्रेम-केलिके लिये व्याकुल रहते हैं। पर रवीन्द्रनाथकी अधिकाश कविताओं और गीतियोंमें भक्तके पास भगवान स्वय अभिसार करते हैं जब कि कबीरकी अधिकाश कविताओंमें भक्त ही अभिसारिकाका कार्य करता है। ऐसा तो नहीं है कि रवीन्द्रनाथमें एक जगह भी भक्त अभिसारके लिये नहीं निकला हो और कबीरमें कहीं भी भगवान्ने अभिसारका प्रयत्न न किया हो, पर सब मिलाकर कबीरका भक्त अभिसारका प्रयत्न स्वय करता है जब कि रवीन्द्रनाथका भगवान निरन्तर अभिसार करता रहा है।

कबीरदासकी भक्त-रूपी अभिसारिका आरती सजाकर प्रियको ढूँढने निकल पड़ती है, प्रेम-रसके बूँदसे उसकी चूनरी भीजती रहती है—

भीजै चुनरिया प्रेमरस-बूँदन।
आरती साजके चली है सुहागिनि,
प्रिय अपनेको ढूँढन।

—शब्दा० पृ० ९

या फिर वह प्रियमतकी ऊँची अटारी तक पहुँचकर भी लज्जासे भरी ऊपर जानेमें सकोच करती है, पर उसके थक गये होते हैं, यदि हिम्मत करके चढनेके लिये पैर भी उठाती है तो सीढियोंपर ही लड़खडा जाती है, अग अग थहरा जाते हैं, चित्त भयसे कॉप उठता है,—अनाड़ी नारी इस महीन ऊँचे सँकरे मार्गकी थाह ही नहीं पा पाती। और फिर भी यह कैसा मोह है, सद्गुरुके उपदेशसे उसका अन्तरपट ज्यों ही खुलता है त्यों ही ऊँचाई गायब हो जाती है, दूरी दूर हो गई होती है और थकानका पता ही नही रहता। प्रियतम हृदयमें ही क्रीडा करते पाये जाते हैं—

पिया मिलनकी आस रहो कबलौं खरी।
ऊँचे नहि चढि जाय मने लज्जा भरी॥
पॉव नहीं ठहराय चढू गिर गिर परूँ।
फिरि फिरि चढहुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ॥
अग अग थहराय तो केहि बिधि डरि रहूँ।
करम-कपट मग घेरि तो भ्रममें परि रहूँ॥
बारी निपट अनारि तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होइ है॥
छोरो कुमति-विकार सुमति गहि लीजिये।
सतगुरु शब्द सम्हारि चरन चित दीजिये॥
अन्तरपट दे खोल शब्द उर लाव री।
दिल-बिच दास कबीर मिलै तोहि बावरी॥

(क० वच० पृ० १४१–२)

या फिर वह ऊँचे रपटीले मार्गपर व्याकुल भावसे निकल पड़ती है, पॉव डगमगाते रहते है, मन लाज और कुलकी मर्यादाओंके भंग होनेके भयसे सशंक बना रहता है, नैहरकी बसनेवाली होनेके कारण वह नैहरमें प्रिय-समागम,—सो भी अभिसारकी लज्जा नही छोड पाती, ऊँचे महलको देखकर भौंचक्का रह जाती है। परन्तु सद्गुर रूपी दूती मिलते ही प्रियतमके गले लगना उसके लिये सम्भव हो जाता है—

मिलना कठिन है कैसे, मिलौंगी प्रिय जाय।
समझि-सोचि पग धरौं जतनसे, बार बार डिग जाय।
ऊची गैल राह रपटीली, पॉव नहीं ठहराय॥
लोक लाज कुलकी मरजादा, देखत मन सकुचाय।
नेहर-वास वसौं पीहरमें, लाज तजी नहि जाय॥
अधर-भूमि जहँ महल पियाका, हमप चढ्यौ न जाय।
धन भइ बारी पुरुष भये भोला, सुरत झकोरा खाय॥
दूती सतगुरु मिले बीचमें, दीन्हों भेद बताय।
साहब कबीर पिया सो भेटयौ, सीतल कठ लगाय॥

(क० वच० पृ० १३६–७)

और सही बात तो यह है कि उसे नैहर अच्छा लगता ही नहीं। उसके-प्रियतमकी नगरी,—जहाँ दिन रात मोती बरसते हैं, जहाँ प्रियकी मधुर मुरलीसे दिगन्त मुखरित होता रहता है, जहाँ बिना मूलके कमल-पुष्पों और अन्य नाना-विध कुसुमोंके सौरभसे वायुमण्डल व्याप्त रहता है,—वह नगरी उसको खींचती रहती है। वह अभिसार-यात्राको निकलनेको बाध्य है। चातक जैसे चाँदकी ओर टक लगाये रहता है वैसे ही वह उस प्रेममयी नगरीको ताकती ही रह जाती है—

मोतिया बरसे रौरे देसवा दिन-राती।
मुरली-शब्द सुनि मन आनद भयौ, जोति बरै दिन-राती।
बिना मूलके कमल प्रगट भयौ, फुलवा फुलत भाँति भाँती।
जसे चकोर चद्रमा चितवै, जसे चातक स्वाती॥ इत्यादि।

(शब्दा० पृ० ७२)

उस परम अद्भुत नगरीके सामने क्या नैहर भा सकता है? कैसी है वह नगरी? परम रमणीय उस अदभुत नगरीके भीतर कोई पहुँच नहीं पाता। चाँद और सूर्य भी, पवन और पानी भी वहाँ जानेमें असमर्थ हैं। इस अगम अगोचर स्थानतक प्रियतमके पास विरहकी मारी प्रियाका सदेश भी तो नहीं कोई पहुँचा सकता! हाय सखी, कोई उपाय क्यों नहीं सोचती, किस प्रकार उस अजब सासुरेको जाऊ? लेकिन कबीरदासको निश्चित रूपसे मालूम है कि उस नगरीको पहुँचा दे सकनेवाला साथी एक सद्गुरु ही है। वही वहाँतक प्रियाको पहुँचा सकता है। नहीं तो प्रियतमका मिलन स्वप्नमें भी असम्भव ही है।

नहरवा हमकाँ नहीं भावै।
साईंकी नगरी परम अति सुदर, जहाँ कोई जाइ न आवै।
चाद-सुरज जहँ पवन न पानी, को सन्देस पहुँचावे?
दरद यह साँई, को सुनावे?
आगे चलौं पन्थ नहीं सूझै, पीछे दोष लगावै।
केहि विधि ससुरे जाँव मोरी सजनी, बिरहा जोर जनावै।
विषै-रस नाच नचावै।
बिन सतगुरु अपनो नहिं कोई, जो यह राह बतावै।

कहत कबीर सुनो भाई साधो, सपने न प्रीतम पावै ।
तपन यह जियकी बुझावै ।—(शब्दा० पृ० ७२)

सिर्फ यात्राके विषयमें ही कबीरदासकी परिकल्पित भक्ताभिसारिका स्वयं क्रियात्मक प्रयत्न करती हो, यह बात नहीं है। प्रियके शान्त स्निग्ध क्रोडमें शयन करनेका प्रयत्न भी पहले उसीकी ओरसे होता है—

ए अँखियाँ अलसानी, पिया हो सेज चलो ।
खभ पकरि पतग अस डौलै, बोलै मधुरी बानी ।
फूलन सेज बिछाइ जो राख्यौ, पिया बिना कुम्हलानी ।
धीरै पाँव धरौ पलगापर, जागत ननँद जिठानी ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लोक-लाज बिछलानी ॥
(क० वच० १६६)

परन्तु रवीन्द्रनाथकी भक्त प्रेयसी और तरहकी है। उसके जीवन-देवता उसके हृदयमें अपनी प्यास बुझानेके लिये आते हैं—

ओहे अन्तरतम,
मिटेछे कि तव सकल पियाष
आसि''अन्तरे मम !

अरी ओ अभागिन, तुझे कैसी नीद आ गई थी जो प्रियतमके पास आनेपर भी जाग नहीं सकी। वह निस्तब्ध रात्रिमे आया था, हाथमें उसके वीणा थी, तेरे स्वप्नमें उसने गम्भीर रागिणी बजा दी और तू सोती ही रही ? हाय, जागके देखती हूँ, दक्खिनी हवाको पागल बनाकर उसका सौरभ अन्धकारमें व्याप्त होकर प्रवाहित हो रहा है ! हाय, क्यों मेरी रात व्यर्थ चली जाती है, उसे नजदीक पा कर भी नहीं पा सकती, क्यो उसकी मालाका स्पर्श मेरे वक्षःस्थलको नहीं लगने पाता—

से ये पाशे ऐसे बसेछिल, तबु जागिनि ?
की घूम तोरे पैयेछिल हतभागिनि ?
एसे छिल नीरव राते, वीणाखानि छिल हाते,
स्वपन माझे बाजिये गेलो, गभीर रागिणि ।
जेगे देखि दखिन-हाओया पागल करिया ।

गध ताहार मेसे बेवाय ओंधार भरिया।
केन आमार रजनी याय, काछे पेछे काछे ना पाय
केम गो तार मालार परश, बुके लागेनि।—(गीताजलि)

"शयनके सिरहाने अभी अभी प्रदीप बुझा था, जाग उठी थी प्रभातकालके कोकिलके शब्दोंसे। अलस चरणोंसे (चलकर) खिड़कीपर आकर बैठी थी, शिथिल केशोंमे नई माला धारण की थी। ऐसे ही समयमें जब कि रास्ता अरुणधूसर हो उठा था, राजमार्गपर तरुण पथिक दिखाई दिया। सोनेके मुकुटपर उषाका आलोक पड़ रहा था। गलेमें सुसज्जित मुक्ताकी माला शोभ रही थी। कातरकण्ठसे पुकारा—'वह कहॉ है, कहॉ है वह?'—व्यग्र चरणोंसे मेरे ही द्वारपर उतर कर!—मैं लाजसे मरी जा रही थी, कैसे कहूँ कि 'ऐ बटोही, वह मैं ही हूँ, वही तो मैं हूँ!"

"गोधूलि वेला थी, तब भी प्रदीप नहीं जला था, मैं माथेमें सोनेकी बेंदी पहन रही थी,—हाथमे सोनेका दर्पण लेकर खिड़कीपर अपने मनसे कबरी गॉथ रही थी। ऐसे ही समय सध्या धूसर पथपर वह करुण नयनोंवाला तरुण पथिक रथपरसे उतरा। फेन और पसीनेके कारण घोड़े व्याकुल हो रहे थे। उसके वस्त्रों और भूषणोंमें धूल भर गई थी। कातरकठसे उसने पुकारा—'वह कहॉ है? वह कहॉ है?'—क्लान्त चरणोंसे हमारे ही द्वारपर उतर कर! हाय मैं लाजसे मरी जा रही थी। कैसे कहती कि 'ऐ थके बटोही, वह मे मैं ही हूँ, वही तो मैं हू।'

"फागुनकी रात है। घरमे प्रदीप जल रहा है, दक्षिणी हवाके झकोरे छाती-पर लग रहे हैं, यह मुखरा सारिका (मैना) सोनेके पिंजड़ेमें सो रही है, द्वारके सामने द्वारपाल भी सो रहा है। सोहागघर धूपके धुऍसे धूसर हो उठा है। अगुरुकी गन्धसे सारा शरीर व्याकुल है, मोर-पखी कचुकी मने पहन ली है। दूर्वाके समान उस श्यामल वक्ष.स्थलपर ऑचल खींचकर विजन राजमार्गके उस पार देख रही हू। धूलमें उतरकर खिड़कीके नीचे बठ गई हूँ। अकेली बैठी तीन पहरतक उदास भावसे गान गाती रही हूँ—'हताश पथिक, वह मैं ही तो थी, वही तो मे थी!"

—'अष्ट-लग्न' से अनुवादित।

इसी प्रकार

"हे सुन्दर, तुम आज प्रातःकाल आये थे, अरुणवर्णका पारिजात तुम्हारे हाथोंमें था। सारी नगरी निद्रित थी, रास्तेमें कोई पथिक भी नही था। तुम

अपने सोनेके रथपर अकेले ही चले गये। सिर्फ एक बार रुक मेरी खिड़कीकी ओर तुमने करुणाभरी आँखोंसे देखा था,—हाँ, सुदर, तुम आज प्रात काल आये थे!"

सुदर, तुमि एसेछिले आजि प्राते,
अरुण वरण पारिजात लये हाते।
निद्रित पुरी, पथिक छिल ना पथे,
एका चलि गेले, तोमार सोनार रथे,
बारेक थामिया मोर वातायनपाने
चेये छिले तव करुण नयन पाते।
सुन्दर, तुमि एसेछिले आजि प्राते। (गीतांजलि)

स्पष्ट ही कबीर और रवीन्द्रनाथकी प्रेम लीला एक ही प्रकारकी होनेपर भी दोनोंमें मौलिक भेद है। एककी केलि यत्न-साधित है, दूसरेकी स्वय-प्राप्त, एक अपनेको और अपने पौरुपको भूलकर भी भूलना नहीं जानता, दूसरा अपनेको और अपनी शक्तिको स्मरण रखकर भी भूल जाता है, एक क्रियात्मक है, दूसरा भावनात्मक, एकका मार्ग साधनाका मार्ग है, दूसरेका मार्ग सौन्दर्यका, एक करनेमें विश्वास करता है दूसरा होनेमें, एक प्रधान रूपसे सन्त है, दूसरा कवि। परन्तु दोनोंमें प्रियसे मिलनेकी व्याकुलता है, दोनोंका ही प्रियतमके प्रेमपर अखण्ड विश्वास है, दोनोंमें ही आत्मार्पणका भाव प्रबल है, दोनों ही प्रिय-प्राप्तिको सहज लभ्य व्यापार नहीं मानते, दोनोंका ही प्रेम हिस्टीरीक प्रेमोन्मादका परिपंथी है। दोनों ही कठोर साधना और कोमल भक्तिके हामी हैं। अद्भुत है वह प्रेम, अपूर्व है उसकी ज्योति। दुःख और द्वन्द्वसे परे, भ्रम और भ्रान्तिसे अतीत यह एकरस प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—

गगनकी गुफा तहँ गैबका चाँदना, उदय औ' अस्तका नाम नाही।
दिवस औ रैन तहँ नेक नहि पाइये, प्रेम परकासके सिंधुमाही।
सदा आनंद दुख-द्वंद्व व्यापै नहीं, पूरनानद भरपूर देखा।
भर्म औ' भ्राति तहँ नेक आवै नही, कहैं कब्बीर रस एक पेखा॥
(शब्दा० पृ० १०५)

१५—रूप और अरूप, सीमा और असीम

इस ससारमे सब सब-कुछ चचल है। चलता जा रहा है, चूँकि कुछ भी स्थिर नहीं है, सब कुछ गतिशील, परिवर्तनीय, इसीलिये संसारकी स्थिति है। यह एक अद्भुत विरोधाभास है, पर है सत्य। समस्त ससरणशील वस्तुओंकी अस्थिरताके होते हुए भी यह ससार 'है'। इसका 'है'—भाव ही सूचित करता है कि सब चलमान वस्तुओंके भीतर एक अविचल सत्य प्रतिष्ठित है। "जो लोग अनन्तकी साधना करते है और जो सत्यकी उपलब्धि करना चाहते हैं, उन्हें बार बार यह बात सोचनी होती है, कि वे चारो ओर जो कुछ देख और जान रहे है वही चरम सत्य नहीं है, वह अपने आपमें स्वतन्त्र नहीं है, और किसी भी क्षण वह अपने आपको पूर्ण रूपसे प्रकाश नहीं कर रहा है। यदि ये वस्तुएँ ऐसी होती तो वे सभी स्वयंभू स्वप्रकाश होकर स्थिर हो रहतीं। पर उनमें एक अन्तहीन गति है, अविराम अस्थिरता है। ये जो अन्तहीन गतिके द्वारा अन्तहीन स्थितिको निर्देश कर रहे हैं वही हमारे चित्तका परम आश्रय और चरम आनन्द है। अतएव, आध्यात्मिक साधना कभी भी रूपकी साधना नही हो सकती। यह समस्त रूपोके भीतरसे चंचल रूपके बधनको अतिक्रम करके, ध्रुव सत्यकी ओर चलनेकी चेष्टा करती है। कोई भी इन्द्रियगोचर वस्तु जो अपनेको ही चरम या स्वतत्र समझनेका भान करती है वस्तुत वैसी नही है। साधक इस भानके आवरणको भेद करके ही परम पदार्थको देखना चाहता है, यदि नाम रूपका यह आवरण चिरन्तन होता तो वह भेद नही कर सकता था। यदि वे अविश्रात भावसे नित्य प्रवहमान होकर अपने आपकी ही सीमा तोडते हुए न चलते, तो इन्हें छोडकर और किसी बातके लिए मनुष्यके मनमें स्थान भी न होता। तब इन्हें ही सत्य समझकर हम निश्चिन्त हो रहते, तब विज्ञान और तत्वज्ञान इन सारे अचल प्रत्यक्ष सत्योंके भीषण शृंखलमें बधकर एकदम मूक और मूर्छित हो रहते। इनके पीछे कुछ भी न देख सकते। किन्तु ये सारे खण्ड-वस्तु-समूह केवल चल ही रहे हैं, कतार बाँधकर खडे होकर रास्ता नहीं रोके हुए है, इसीलिए हम अखण्ड सत्यका और अक्षय पुरुषका सधान पाते

हैं।" (रवीन्द्रनाथ) इसीलिये भक्त जन रूप-मात्रके इस निरन्तर गतिशील पहलूपर बराबर जोर देते रहते हैं। मध्ययुगमें वैराग्योद्रेकके लिये इस पहलूका अधिक उपयोग किया गया है। कबीरने भी किया है, पर कबीरका लक्ष्य उस समस्त अस्थिर रूपराशिके भीतरसे स्थिर अरूप-तत्त्वकी ओर इशारा करना अधिक रहा है। वे दस दिनके लिए अपनी नौबत बजाकर इस नगर और गलीको हमेशाके लिये नमस्कार करके चल देनेवालोंको उस परमतत्त्वकी बार बार याद दिला देते हैं जो स्थिर है, शाश्वत है, रूपातीत है—

कबीर नौबत आपणीं, दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर-पाटन ए गली, बहुरि न देखै आइ ॥ १ ॥
जिनके नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि।
एकै हरिके नॉव बिन, गये जन्म सब हारि ॥ २ ॥
(क० ग्र०, पृ० २०)

इस विनाशकी दुनियामें एक-मात्र अविनाशी तत्त्व राम है। नष्ट होते हुए शरीरको अगर बचा लेना है तो इसी अविनश्वरकी शरण जाओ। नहीं तो इस कच्चे कुम्भके फूटनेमें क्या देर है?

कबीर यह तन जात है, सकै तो लेहु बहोडि।
नागे-हाथे ते गये, जिनके लाख-करोड़ि ॥ ३७ ॥
यहु तन काचा कुंभ है, चोट चहूँ दिस खाइ।
एक रामके नॉव बिन जदि तदि परलै जाइ ॥ ३८ ॥
(क० ग्र०, पृ० २४)

परन्तु रूप और सीमा चाहे जितनी भी क्यो न हो हम उनके द्वारा ही अरूप और असीमको पानेकी ओर उन्मुख होते हैं। साधक रूप और सीमाकी सहायतासे उस शाश्वत अरूप और परिव्याप्त असीमको देखता है जो उसका चरम प्राप्तव्य है। कवि शब्द और अर्थका सहारा लेकर अरूप रसकी ओर उन्मुख होता है, कलाकार रेखा और रंगकी सहायतासे रूपातीत भावकी अभिव्यंजना करता है, और भक्त भी नाम और रूपकी सीढ़ियोंसे ही उठकर अनाम और अरूप परम तत्त्वकी झाँकी पाता है। यह जो रूप है और सीमा है वह वस्तुतः जड़ प्रकृतिका ही विकार है। इसीको कबीरदास 'गुण' कहते हैं। जो वस्तु गुणातीत है वह गुणोंमें नहीं है ऐसा नहीं कह सकते। यह धोखा है,—भ्रम है।

जो लोग 'गुण' को 'निर्गुण' का उल्टा समझते हैं। 'गुण' 'निर्गुण' की विरोधी वस्तु नहीं है। निर्गुण परमात्मा क्या गुणोंमें नही है? यह जो धरती, आकाश, चन्द्र, तारा दिखाई दे रहे हैं वे क्या त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके विकार नहीं हैं और इसीलिये क्या ये परमात्मासे खाली हैं? यह हो नहीं सकता। सो ये लोग भोले ही हैं। जो गुणको निर्गुणके बाहर या विरुद्ध मानते हैं,—वस्तुतः गुणसे हम निर्गुणका अनुमान करते हैं। दूसरे शब्दोंमे रूप हमे अरूपकी ओर उन्मुख कर देता है, सीमा असीमका सन्धान बताती है। गुण और निर्गुण केवल तारतम्य बतानेके वास्ते हैं। जब कहा जाता है कि भगवान् गुणमय नहीं हैं तो उसका मतलब यही होता है कि जो रूप और सीमा हमें दिख रही है वह अरूप और असीमको ठीक ठीक प्रकट नहीं कर सकती,—भगवान् न तो वह रूप ही है न उसके समान ही है। वह उससे अतीत है, परे है। 'निर्गुण' कहनेसे यदि यह अर्थ लिया जाता है कि वह दृश्यमान गुणोंसे बाहर है या विरुद्ध है, तो भ्रम है, धोखा है—

संतो, धोखा कासूं कहिये
गुणमैं निरगुण निरगुणमें गुण,
बाट छोड़ि क्यूं बहिये?
अजरा अमरा कथै सब कोई,
अलख न कथणा जाई,
नाहि सरूप, बरण नहिं जाकै,
घटि घटि रह्यौ समाई॥
प्यंड-ब्रह्मंड छोडि जे कथिये,
कहै कबीर हरि सोई॥

(क० ग्र० पद १८०)

इसीलिए वह अद्‌भुत अनुपम रामतत्त्व कहकर बताया नहीं जा सकता। उसको सगुण-निर्गुणमेंसे किसी भी नामसे पुकार नहीं सकते पर न तो वह सगुण वस्तुमें अविद्यमान है और न निर्गुण वस्तुद्वारा असूचयितव्य। वह इन झमेलोंसे ऊपर है। ससीम रूपदर्शी बुद्धि उस तत्त्वको नहीं समझ सकती। उसके मुँह

भी नहीं, माथा भी नहीं, रूप भी नहीं और रूपक भी नहीं। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, पुष्प सौरभसे भी महीन है, वह अनुपम तत्त्व है।

जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूपक-रूप।
पहुप बासथे पातला, ऐसा तत्त अनूप ॥ ४ ॥

(क० ग्र० ६०)

'मुँह और माथा' तो उपलक्षण मात्र है। वह समस्त रूप और सीमाओंसे परे है, वह मन और बुद्धिके भी परे है। उसमें मोह नहीं, माया ममता नहीं। ऐसे ही निर्मम निर्मोही पियासे प्रेम-क्रीड़ाका व्रत भक्तोंने लिया है। ऐसे प्रियके मिलनकी क्या आशा की जा सकती है! भक्त रूपी नारी चाहे जैसी भी विरहिणी हो,—दिनका भोजन और रातकी नींद खो चुकी हो, सहेलियोंकी रग-केलि और ज्ञातिकुलको धन-सम्पत्तिको छोड़ आई हो, वन-खण्डमें तपस्या कर चुकी हो और पानीसे निकली हुई मछली-सी तड़प रही हो, पर प्रियतम क्यो गलेगा? वह तो आकार और रूपके परे है, मोह और ममतासे ऊपर है, कामना और लालसाके अगम्य है, वह मिलेगा कैसे? ममताभरी प्रेयसीका निर्ममसे मेल क्या, लालसाकी आँखोंसे अलखका लखाव क्या, रूपसे अरूपका सामंजस्य क्या? यह रहस्यमय प्रेम-केलि चल कैसे सकती है? कबीरदास जवाबमें कहते हैं कि सिर्फ एक ही मार्ग है। तुम्हारे शरीरमें जो जड़ विकार हैं,—जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि हैं,—उनको तुमने गलतीसे अपना मान लिया है। ये उस निर्मोहीकी ओर उन्मुख करनेके साधन हैं, परन्तु यदि उन्हें ही तुमने उनके मिलनेका साधन भी समझा है तो यह भ्रम है। तुम्हारे इस नाशमान् ससीम जड़ विकारके बीच एक स्थिर शाश्वत चेतन है, वह इन्द्रिय-मन और बुद्धिके अगोचर है, वही उस निर्मोही प्रियतमका वास्तविक आकर्षण-स्थान है। निर्मोही प्रियतमको पाना चाहते हो तो शरीर, मन और बुद्धिको अपना स्वरूप समझनेके रूपमें जो पर्दा पड़ा हुआ है उसे दूर करो। एक बार इस भ्रमके पर्देको दूर कर दो तो देखो कि प्रियतम दूर नहीं है, तुम्हारी रग रगमें भीना हुआ है। उस भ्रमके पर्देमें भी है, पर दीखता तब तक नहीं जब तक तुम उस पर्देको अपना स्वरूप समझते रहो। भगवान् और भक्तमें अब भेद नहीं रह सकेगा। युग-युगान्तरसे ये दोनो एकमेक होकर रह रहे हैं—

कैसे जीवेगी विरहिनी
पिया बिन कीजै कौन उपाय ।
दिवस न भूख रैनि नहि सुख हे,
जैसे कलियुग जाम (?)
खेलति फाग छाँडि चलु सुंदर
तजु चलु धन औ धाम ॥
बन खँड जाय नाम लै लावौ
मिलि पियसे सुख पाय ।
तलफत मीन बिना जल जैसे,
दरसन लीजै धाय ।
बिन आकार रूप नहि रेखा
कौन मिलेगी आय ।
अपना पुरुष समुझि ले सुन्दरि
देखो तन निरताय ।
सब्द सरूपी जिव पिव बूझौ
छाँडौ भ्रमकी टेक ।
कहैं कबीर और नहि दूजा
जुग जुग हम तुम एक ॥

(शब्दा० पृ० १०–११)

यही कारण है कि कबीरदासने कामना और लालसाके त्यागको भक्तिकी आवश्यक शर्त रखी है। जब भगवान लालसा और कामनाकी पहुँचके बाहर ही हैं तो क्यों न पहले कामना और लालसाको खत्म किया जाय? जब तक मनमें कहीं भी कामना है, तक शरीर और मनके प्रति आत्माभिमानका भ्रम है। यह भ्रम और भक्ति एक साथ नहीं रह सकती। सो कबीरदास पुकार पुकार कर कह गये कि सकामताका भ्रम छोड़कर ही भक्तिके मैदानमें आओ—

और कर्म सब कर्म हैं, भक्तिकर्म निष्कर्म ।
कहै कबीर पुकारिकै, भक्ति करो तजि भर्म ॥

(क० वच०, पृ० ११)

निष्कर्म अर्थात निष्काम। निष्काम भावसे ही भक्ति हो सकती है, क्योंकि, जिस देवताकी भक्ति करनी है वह स्वयं निष्काम है—

जब लगि भगति सकामता, तब लगि निर्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यू मिलै, निहकामी निज देव॥

फिर एक बार समस्त कामनाओंका विसर्जन कर जब भक्तरूपी सुन्दरी अपने निर्गुण प्रियतमका दर्शन पाती है तो जो अद्भुत कौतुक उसे दिखाई देता है, वह कहकर समझानेकी बात नहीं है। वह प्रियतम समस्त कालकी सीमाओंके परे है इसलिये अनन्त है, समस्तदेशके परे है इसलिए असीम है। सो उस अनन्तका प्रकाश अपरम्पार है, सुन्दरी कुतूहल विस्फारित नयनोंसे उस अपूर्व तेजको देखती है,—मानों कोटि कोटि सूर्योंकी सेना खड़ी हो। वहाँ पाप नहीं, पुण्य नहीं, कर्म नहीं, आचार नहीं,—केवल अपरिमेय ज्योतिका प्रकाश, अगम्य अगोचर तेजकी झिलमिल ज्योति। ऐसे तेजोमय अद्भुत लोकमें प्रवेश करते ही भक्त भी हद छोड़कर बेहद हो जाता है,—अपने स्वधर्म और स्वभावमें प्रतिष्ठित हो जाता है—

कबीर तेज अनंतका, मानौं उगी सूरज सेणि
पतिसँग जागी सुंदरी, कौतिग दीठा तेणि॥
पारब्रह्मके तेजका, कैसा है उनमान।
कहिबेकू सोभा नही, देख्या ही परमान॥
अगम-अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै ज्योति।
जहाँ कबीर बन्दगी, (तहाँ) पापपुन्य नहीं छोति॥

और

हदे छाँडि बेहद गया, हुआ निरन्तर बास।
कंवल जु फूल्या फूल विन, को निरषै निज दास॥

(क० ग्र० पृ० १२)

जहाँ अनन्त कोटि सूर्य सतत प्रकाशमान हैं वहाँ केवल ज्योतिका ही निर्झर झर रहा है। उस स्थानपर अगर बिना फूले ही कमल फूलता रहे तो आश्चर्य क्या है? फूलनेपर कमलके खिलनेका तो हिसाब वहाँ है जहाँ रोज अधकार आता है और कमलको अनफूला कर जाता है। पर जहाँ सूर्योंकी सेना खड़ी हो वहाँ कमलका सकोच कैसा? सो यह कमल निरतर खिला रहता है। पिंडमें यही कमलशून्य

या सहस्रार" चक्र है और ब्रह्माण्डमें सर्वतोव्याप्त महा आकाश। यही परम अवकाश हद छोड़कर बेहद होनेका उपयुक्त स्थान है। एक बार पिंडस्थित आकाश (शून्य) में जब भक्त पहुँच जाता है—जब इस विशाल शून्यमें स्नान करता है—तो प्रियतमके उस क्रीड़ा-हर्म्यमें पहुँचता है जो सिर्फ योग और तप साधनेवाले मुनियोंको दुर्लभ है। यह प्रेम-लोक देवताओंको भी दुर्लभ है क्योंकि वे कर्मके उपासक हैं, मुनियोंको अगम्य है क्योंकि कबीरदास उन्हें योगमार्गके पथिक मानते थे, पीर-औलियोंको भी दुर्लभ है, क्योंकि उनका मार्ग अल्लाह और रामकी भेद-बुद्धिका है,—सबकी पहुँचके बाहर जो प्रेमलोक है वहाँ केवल भक्तको ही प्रवेश पानेका अधिकार है।—भक्त जो राम नामका छका हुआ है

> सुर-नर-मुनिजन-औलिया, ए सब बेले तीर।
> अलह-रामका गम नही, तहँ घर किया कबीर।
>
> (स० क० सा० पृ० ६४)
>
> हद छाँड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
> मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम॥
> पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोत अनंत।
> ससा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कन्त॥
>
> (क० ग्र० पृ० १३)

परन्तु इस दुनियाकी छोटी-मोटी रूपात्मक कल्पनाओंके आधारपर हम इस अनन्त तेजःपुंज लोकका अनुमान भी नहीं कर सकते। साधारण मनुष्य उस पर्दा-नशीन नववधूकी भाँति है जो आधी खुली खिड़कीपर खड़ी हुई घूँघटके भीतरसे संसारको देख रही है। उसके सामनेवाले रास्तेपर लोग आते रहते हैं, पर वह उसका कुछ भी उद्देश्य नहीं समझ पाती क्योंकि सम्पूर्ण देखनेका उसे अभ्यास नहीं है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने इस भावको अपनी एक कवितामें मार्मिकताके साथ प्रकट किया है—

"तुम आधी खुली खिड़कीके किनारे खड़ी हो। नई बहू हो क्या? शायद तुम चूड़ीवालेकी इन्तजारमें हो कि तुम्हारे द्वारपर आयेगा। तुम सामने देख रही हो कि बैलगाड़ी धूल उड़ाती हुई चली जाती है, भरी नौकायें हवाके जोरसे पालोंके सहारे बही जा रही हैं। मैं सोच रहा हूँ कि इस आधी खुली

खिड़कीपर घूँघटकी छायासे ढकी हुई तुम्हारी आखोंको यह विश्व कैसा दिख रहा होगा। निश्चय ही यह छायामय भुवन तुमने स्वप्नों (कल्पनाओं) से गढा होगा, शायद किसी नानीके मुहसे सुनी हुई परियोंकी कहानीके सॉचेमें वह ढला होगा,—जिसकी लोरियोंकी बनी कहानीका न आदि है, न अन्त है।

"मैं सोच रहा हूॅ कि हठात् यदि एक दिन वैशाखके महीनेमें आँधीके झोंकोंसे नदी लाज-शर्म छोड़कर बन्धनहीन सूने आसमानमें नाच उठे, यदि उसका पागलपन जाग पड़े,—और फिर उस ऑधीके झोंकोंसे तुम्हारे घरकी सभी जजीरें खुल जायें और तुम्हारी आँखोंपर गिरा हुआ घूँघट भी उड़ जाय,—और फिर यह सारा जगत् विद्युत्‌की हॅसी हॅस एक क्षणमें शक्तिका वेश धारण करके तुम्हारे घरमें घुस पड़े और आमने-सामने खड़ा हो जाय तो फिर कहाँ रहेगी यह आधे टॅके हुए अलस दिवसकी छाया, वह खिड़कीवाली दृश्यावली और सपनों-सनी अपनी कल्पनासे गढ़ी हुई माया?—सभी उड़ जायँगे।

"सोचता हूॅ कि उस समय तुम्हारी घूँघट-रहित काली ऑखोंके कोनेमें न जाने किसका प्रकाश कॉंपेगा, अपने आपमें खोये हुए प्राणोंके आनन्दमें अच्छा और बुरा सब कुछ डूब जायगा, और तुम्हारे वक्ष स्थलमें रक्तकी तरगिनी उत्ताल नर्तनसे नाच उठेगी। फिर तुम्हारे शरीरमें तुम्हारी यह ककण और किंकिणी अपने चचल कम्पनोंसे कौन-सा सुर बजा देंगी! आज तुम अपनेको आधी ढकी रख कर, घरके एक कोनेमें खड़ी होकर न जाने किस मायाके साथ इस जगत्‌को देख रही हो?—मैं मन ही मन यही सोच रहा हूॅ। तुम्हारे रास्तेमें आज जो आवागमन चल रहा है वह निरर्थक खेल-सा लग रहा है, छोटे दिनके कामोंकी छोटी छोटी हॅसियॉ और रुलाइयाँ न जाने कितनी उठती हैं और विलीन हो जाती हैं!—मन ही मन यही सोच रहा हूँ।" (खेया)

यह जो कल्पनाके गढ़े हुए रूप-जगत्‌का व्यापार है वह तब तक हमारी दृष्टिको रोके हुए है जब तक अनन्त सत्यका प्रकाश एकाएक आकर उसे छिन्नभिन्न नहीं कर जाता। जिस दिन छिन्न-भिन्न कर जायगा उस दिन, कबीरदास गवाह हैं कि, जो दृश्य दिखाई देगा वह एकदम विचित्र होगा। न वहाँ धरती होगी, न गगन, न पानी, न पवन, न तिथि, न वार, चॉद, न सूर्य, न हाट, न बाट, —सबसे परे सबसे विचित्र। वहॉ कालका बन्धन नहीं है, भूत भविष्यका

भेद नहीं है। जिसे हम लाख युग पहलेकी बात कहते हैं वह वहाँ प्रत्यक्ष है, जिसे हम कोटि कल्प बादकी बात कहेंगे वह वहाँ विद्यमान है, क्योंकि वहाँ अनन्त स्थिति है, शाश्वत सत्ता है। हमारी आँख क्षणिक और चलमान जगतकी परिभाषा इनमे ही देखनेकी अभ्यस्त हैं। उस अनन्त स्थितिशील देश-काल-व्यवच्छेदके अतीत परम प्रकाशमय लोकको हम क्या समझेंगे ?

चाँद नहीं सूरज नहीं, हता न वो ओंकार।
तहाँ कबीरा रामजन, को जाने ससार ॥
धरती-गगन-पवने नहीं, नहीं होत तिथि-वार।
तब हरिके हरिजन हुते, कहै कबीर विचार ॥
जा दिन किरतम ना हता, नहीं हाट नहि बाट।
हुना कबीरा सन्त-जन, (जिन) देखा औघट घाट ॥
नहीं हाट नहीं बाट है, नहि धरती नहिं नीर।
असख्य युग परले गया, तब ही कहै कबीर ॥
पवन नहीं पानी नहीं, नहिं धरती आकास।
एक निरजन देवका, कबिरा दास-खवास ॥

(स० क० सा० पृ० ६३-४)

उस देशका सब कुछ विचित्र है। वह देश जहाँ बारह महीने बसन्त है, जहाँ प्रेमका निर्झर झरता रहता है, जहाँ अनन्त ज्योतिपुंजसे महा-अमृत बरसता रहता है, जहाँ जाति-कुल वर्णका विशेषत्व नहीं, जहाँ आकाश और धरतीमें अन्तर नहीं, जहाँ परब्रह्मकी आनन्द-केलि निरन्तर चल रही है, जहाँ अगम्यका दीपक बिना बाती और तेलके ही जल रहा है। अपूर्व है वह देश ! कबीर उसी देशके वासी थे :

हम वासी उस देशके, जहाँ बारह मास बिलास।
प्रेम झरे बिकसैं कँवल, तेजपुज परकास ॥
हम वासी उस देशके, जहवाँ नहि मास वसन्त।
नीझर झरै महा अमी, भीजत हैं सब सन्त ॥
हम वासी उस देशके, जहाँ जाति बरन कुल नाहिं।
शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं ॥

हम वासी वा देशके, जहाँ पारब्रह्मका खेल ।
दीपक जरै अगम्यका, बिन बाती बिन तेल ॥

(स० क० सा० ६४–५)

यह कुछ उस प्रकारका देश है जिसे रवीन्द्रनाथने ' सब-पाया-है-का देश ' कहा है। जहाँ दूरका राही एक रातके लिये आकर देख ही नहीं पाता कि इस ' सब-पा-लिया है-के देश ' में क्या है।

एक रजनीर तरे हेथा, दूरेर पांथ एसे,
देखते ना पाय, कि आछे, इस सब पेयेछिर देशे ? (खेया)

कबीरने बताया है कि उस परिपूर्ण देशमें शब्द-मिलावा हो रहा है,—केवल भाव-रूपमें मिलन हो रहा है, देह रूपमें नहीं—'शब्द-मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं।' क्योंकि जड़ ससीम देह उस अनन्त भाव-लोकको बर्दाश्त नहीं कर सकती। प्रश्न है कि वहाँ जाकर क्या भक्त उस अनन्त ज्योति और अनन्त प्रेममें लोप हो जाता है ? क्या वह भी चिन्मय ब्रह्ममें विलय हो जाता है ? कबीरदास ऐसे अद्वैत-भावमें विश्वास नहीं करते। मिलन होगा यह ठीक है, पर भक्त जन वहाँ फिर भी साक्षी रूपसे वर्तमान रहेंगे। वे दो नहीं होकर रहेंगे, भगवानसे एकमेक होकर मिल जायँगे; परन्तु उस मिलनके आनन्दको अनुभव करते रहेंगे। यह कैसे सम्भव है ? क्या एकमेक और पृथक सत्ता दोनों सम्भव हैं। लौकिक दृष्टिसे जो बातें असम्भव दिखती हैं ऐसी बहुतेरी बातें भगवानके विषयमें सम्भव हैं। फिर इसी ' द्वैताद्वैत-विलक्षण ' भावको हम कैसे असम्भव मानें ? कबीर साक्षी हैं कि गगनमें गहरे गंभीर मेघ गर्जते रहते हैं, अमृतकी झड़ी लगी होती है और सन्तजन सिहर सिहर कर इस आनन्द-रसकी वर्षामें भींजते रहते हैं, उस अन्तकी ज्योति छलकती रहती होती है और परम प्रेमके आनन्द-निकेतनमें गुरुकी कृपावाले सन्तजन पहुँच जाते हैं (अवश्यक ही, निगुरोंकी गति वहाँ नहीं है)—

गगन गरजै बरषै अमी, बादल गहर गंभीर ।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर ॥
गगन मंडलके बीचमें, तहवाँ छलकै नूर ।
निगुरा महल न पावई, पहुँचैंगे गुरु पूर ॥

(स० क० सा० पृ० ६२)

गगन गरजि अमृत चवे, कदली कँवल-प्रकास।
तहाँ कबीरा बन्दगी, कै कोई निज दास॥

(क० ग्र० पृ० १५)

कबीरदासका यह असीम प्रियतमका प्रेम साधनाके साहित्यमें अपूर्व है। हद्के जीवका बेहद्के प्रियसे मिलनमें एक ऐसा अलौकिक रस है जो अनुभव-द्वारा ही जाना जा सकता है। असीमकी सीमाके लिये व्याकुलताका प्रमाण यह सारा विश्व है। अगर असीम अपने आपमें ही सन्तुष्ट होता तो यह सीमाका सर्जन निरर्थक है। भक्त कबीरने इस इतने बड़े विश्व-व्यापारको निरर्थक नहीं समझा। उन्होंने उसे इस असीम प्रियतमकी लीलाका उन्मेषयिता माना है। सीमा मानो उस असीमकी ओर उठी हुई उँगली है। वह असीमका पथ बताती है पर स्वयं उसीको असीम नहीं माना जा सकता। इसीलिए प्रेम तो असीमका ही ठीक है, सीमाके प्रति आसक्त जीव उस पीवको नहीं पा सकता—

बेहद अगाधी पीव है, ये सब हदके जीव।
जे नर राते हद्दसों, ते कदी न पावें पीव॥
हदमें पीव न पाइये, बेहदमें भरपूर।
हद बेहदकी गम लखै, तासों पीव हजूर॥

(स० क० सा० पृ० २६२)

कबीरदासने इसीलिए सीमाको छोड़कर असीमका प्रेम किया था। उस असीमरूपी अनन्त अवकाशवान मैदानमें वे पैर फैलाकर सो रहे थे—

हद्द छाड़ि बेहद गया, रहा निरन्तर होय।
बेहदके मैदानमें, रहा कबीरा सोय॥

(स० क० सा० पृ० २६३)

पैर फैलाकर सोने लायक अवकाश सीमाओं और बन्धनोंसे भरी दुनियामें और कहाँ मिल सकता है? कविवर रवीन्द्रनाथ अपनी 'सब-पा-लिया है-के देश' वाली कवितामें भी उल्लसित भावसे कहते हैं, "अहा, इस 'सब-पा-लिया-है-के देश' के रास्तेमें ठेलमठेल और धक्कामुक्की नहीं है और बाजारमें यहाँ शोर-गुल नहीं है। अरे ओ कवि, यहीं तू अपनी कुटी बना ले। रास्तेकी धूल यहीं झाड़ दे, बोझा उतार दे, अपने सितारके तार ठीक कर ले और अपनी सारी खोज यहीं बन्द कर दे (क्योंकि तू अब अपने गन्तव्यपर पहुँच चुका है)।

आज सॉझको यहीं पैर फैलाकर बैठ जा,—यहीं इस तारा-भरे आकाशके नीचे 'सब-पा-लिया-है-के देशम।' "

नाइक पथे ठेलाठेलि, नाइक हाटे गोल,
ओरे कवि एइ खाने तोर, कुटीरखानि तोल।
धुये फेल रे पथेर धुलो, नामिये दे रे बोझा,
बेंधे ने तोर सेतार खाना, रेखे दे तोर खोजा।
पा छड़िये बसू रे हेथाय, सारा दिनेर शेषे,
तारार भरा आकाशतले, सब पेयेछिर देशे॥ (खेया)

आखिर इस देशमें इतनी निश्चिन्तता क्यों है? कोई इस बेहद्दी मैदानमें सो रहता है और कोई पैर फैलाकर बैठ रहता और सितारके तार सँभालने लगता है, ऐसा क्यो? यहॉ क्या मिलता है, क्या दीखता है कि इतने निश्चिन्त मनसे सन्त और कवि जम जाते हैं? क्योकि

हरि-सगति सीतल भया, मिटी मोहकी ताप।
निसि बासर सुख-निधि लह्या, जब अन्तरि प्रगट्या आप॥
तन पाया तन बीसरा, जब मन धरिया ध्यान।
तपन गई सीतल भया, जब सुन्नि किया असनान॥ (क० ग्र० पृ० १५)

इस असीम-अनन्त शून्यमें स्नान करते ही सारी व्यथा शान्त हो गई। सारे कथन, सारा विज्ञापन यहॉ उपशमित हो गया। जिसे खोजा जा रहा था वह जब स्वयं आ गया, तो ताप कैसा, चांचल्य कैसा?

थिति पाई मन थिर भया, सतगुरु करी सहाइ।
अनिन कथा तिन आचरी, हिरदै त्रिभुवनराइ॥
सचु पाया सुख ऊपना, अरु दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहजै गये, जब साईं मिल्या हजूरि (क० ग्रं० पृ० १४)

जब एक बार इसका चस्का लग गया, जब यह परम प्राप्तव्य रत्न प्राप्त हो गया तब ढिढोरा पीटनेकी क्या बात रही? ढूँढने-खोजनेको रह क्या गया?

जिन पाया सू गहि रह्या, रसना लागा स्वाद।
रतन निराला पाइया, जगत ढढौल्या बादि॥

अब कुछ कहना बाकी नहीं रहा, इस प्रेम नदके प्रवाहमे सारा द्वैतभाव बह

गया, साखी भी आज बेकार है, शब्द भी निष्प्रयोजन हैं। जब उस बिछुड़े हुए परम तत्त्वसे मिलन हो गया तो इन प्रपञ्चोंसे क्या लाभ ? यह देखा, वह देखा; यह चलमान है, वह स्थिर है, यह यह है, वह वह है, ये सारी बातें अब निरर्थक हैं। परम प्रियका जब तक मिलन नहीं हुआ था,—उसका रस जब तक ज्ञात नहीं था, तभी इनकी कीमत थी। अब इस अखण्ड आनन्दरसके सामने और सब-कुछ फीका है—

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहना नाहि।
एक रही दूजी गई, बैठा दरिया माहि॥
साखी-शब्दी कब कही, मौन रहे मन माहि।
बिछुरा था कब ब्रह्मसों, कहिबेकों कछु नाहि॥
साखी-शब्दी जब कही, तब कछु जाना नाहि।
बिछुरा था तब ही मिला, अब कछु कहना नाहि॥
या देखा वा देखिया, या देखा वा थीर।
यह-वह दोउ एकै भया, जब सतगुरु मिले कबीर॥
(स० क० सा० पृ० ६८)

यह है कबीरकी असीम-सत्ताकी प्रीति। किन्तु कबीर परम सावधानीके साथ पाठकको शब्दोंकी संकीर्ण अर्थवत्ताकी याद दिला देते हैं। 'बेहद' शब्दमें साधारणतः यह भाव है कि जो हद न हो या जो हदके विरुद्ध हो। यह बात आंशिकरूपमें ही सत्य है। वस्तुतः सीमा असीमसे बाहर भी नहीं, उसकी विरोधी भी नहीं है, उसका अभाव तो एकदम नहीं। इसलिए बेहदकी प्रीति बताते समय कबीरदास सावधान कर देते हैं। इसे सीमाका विरोधी समझना गलत है, सीमाके विरुद्ध मानना भी गलत है। बेहद वह है जो सीमा और सीमाभाव दोनोंके परे है, जो हद और गैर-हद दोनोंके ऊपर है। इस हद बेहदसे अतीत वस्तुको ही भाषाकी सीमित शक्तिके कारण कबीरदास 'बेहद' कहते हैं। हद या सीमामें मनुष्य बसते हैं, बेहद या सीमाभावमें साधु बसते हैं, पर असल सन्त वह है जो इन दोनोंको छोड़ गया है, जो सीमातीत असीमका प्रेमी है—

हदमें रहै सो मानवी, बेहद रहै सो साधु।
हद-बेहद दोनों तजै, तिनका मता अगाधु।
हद-बेहद दोनों तजी, अबरन किया मिलान।
कहैं कबीर ता दासपर, वारौं सकल जहान॥

उपसंहार

कबीर धर्मगुरु थे। इसलिए उनकी वाणियोंका आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिये, परन्तु, विद्वानोंने नाना रूपमे उन वाणियोंका अध्ययन और उपयोग किया है। काव्य-रूपमे उसे आस्वादन करनेकी तो प्रथा ही चल पडी है। समाज-सुधारकके रूपमे, सर्व धर्म-समन्वयकारीके रूपमें, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-विधायकके रूपमे, विशेष सम्प्रदायके प्रतिष्ठाताके रूपमे और वेदान्त व्याख्याता दार्शनिकके रूपमे भी उनकी चर्चा कम नहीं हुई है। यों तो 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता, विविध भाँति गावहि श्रुति-सन्ता' के अनुसार कबीर-कथित हरि कथाका विविध रूपमे उपयोग होना स्वाभाविक ही है, पर कभी कभी उत्साहपरायण विद्वान् गलतीसे कबीरको इन्हीं रूपोमेंसे किसी एकका प्रतिनिधि समझकर ऐसी ऐसी बातें करने लगते है जो असगत कही जा सकती है।

भाषापर कबीरका जबरदस्त अधिकार था। वे वाणीके डिक्टेटर थे। जिस बातको उन्होने जिस रूपमे प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूपमे भाषासे कहलवा लिया है,—बन गया है तो सीधे सीधे नही तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीरके सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमे मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़की किसी फरमाइशको नाहीं कर सके। और अकह-कहानीको रूप देकर मनोग्राही बना देनेकी तो जसी ताकत कबीरकी भाषामें है वैसी बहुत कम लेखकोंम पाई जाती है। असीम अनन्त ब्रह्मानन्दमे आत्माका साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणीके अगोचर, पकड़में न आ सकनेवाली ही बात है। पर 'बेहद्दी मैदानमें रहा कबीरा' में न केवल उस गम्भीर निगूढ तत्त्वको मूर्तिमान कर दिया गया है बल्कि अपनी फक्कडाना प्रकृतिकी मुहर भी मार दी गई है। वाणीके ऐसे बादशाहको साहित्य-रसिक काव्यानन्दका आस्वाद करानेवाला समझे तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यग करनेमे और चुटकी लेनेमें भी कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। पडित और काजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी,—सभी उनके व्यंगसे तिलमिला जाते है। अत्यन्त सीधी भाषामें वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खानेवाला केवल धूल झाड़के चल देनेके सिवा और कोई रास्ता ही

नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीरने कहीं काव्य लिखनेकी प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रसकी गगरीसे छलके हुए रससे काव्यकी कटोरीमें भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।

हिन्दी साहित्यके हजार वर्षोंके इतिहासमें कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमामें यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है, तुलसीदास। परन्तु तुलसीदास और कबीरके व्यक्तित्वमें बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोणमें एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछको झाड़-फटकार चल देनेवाले तेजने कबीरको हिन्दी साहित्यका अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियोंमें सब कुछको छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसीने कबीरकी वाणियोंमें अनन्य-साधारण जीवन-रस भर दिया है। कबीरकी वाणीका अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करनेकी सभी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्वके कारण कबीरकी उक्तियाँ श्रोताको बलपूर्वक आकृष्ट करती हैं। इसी व्यक्तित्वके आकर्षणको सहृदय समालोचक सँभाल नहीं पाता और रीझकर कबीरको 'कवि' कहनेमें सन्तोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ताको 'कवि' न कहा जाय तो और कहा क्या जाय? परन्तु यह भूल नहीं जाना चाहिए कि यह कविरूप घलुएमें मिली हुई वस्तु है। कबीरने कविता लिखनेकी प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कही थीं। उनकी छन्दोयोजना, उक्तिवैचित्र्य और अलंकार-विधान पूर्ण-रूपसे स्वाभाविक और अयत्नसाधित हैं। काव्यगत रूढ़ियोंके न तो वे जानकार थे और न कायल। अपने अनन्य-साधारण व्यक्तित्वके कारण ही वे सहृदयको आकृष्ट करते हैं। उनमें एक और बड़ा भारी गुण है जो उन्हें अन्यान्य सन्तोंसे विशेष बना देता है। यद्यपि कबीरदास एक ऐसे विराट् और आनन्दमय लोककी बात करते हैं, जो साधारण मनुष्योंकी पहुँचके बहुत ऊपर है और वे अपनेको उस देशका निवासी बताते हैं जहाँ बारह महीने वसन्त रहता है, निरन्तर अमृतकी झड़ी लगी रहती है (दे० ऊपर पृ० २११) फिर भी, जैसा कि एवेलिन अण्डरहिलने कहा है, वे उस आत्मविस्मृतिकारी परम उल्लासमय साक्षात्कारके समय भी दैनन्दिन-व्यवहारकी दुनियाको छोड़ नहीं जाते और साधारण मानव-जीवनको भुला नहीं देते। उनके पैर मजबूतीके साथ धरतीपर जमे रहते हैं, उनके महिमा-समन्वित और आवेगमय विचार, बराबर धीर और

सजीव बुद्धि तथा सहजभाव द्वारा नियंत्रित होते रहते हैं जो सच्चे मरमी कवियोंमें ही मिलते हैं। उनकी सर्वाधिक लक्ष्य होनेवाली विशेषताएँ हैं— (१) सादगी और सहजभावपर निरन्तर जोर देते रहना, (२) बाह्य धर्माचारोंकी निर्मम आलोचना और (३) सब प्रकारके विरागभाव और हेतुप्रकृतिगत अनुसचित्ताके द्वारा सहज ही गलत दिखनेवाली बातोंको दुर्गम्य और महान् बना देनेकी चेष्टाके प्रति वैर-भाव (इसके लिए कबीरवाणीके ७५, ७८, ८० और ९० नम्बरके पद देखिए)। इसीलिए वे साधारण मनुष्यके लिए दुर्बोध्य नहीं हो जाते और अपने असाधारण भावोंको ग्राह्य बनानेमें सदा सफल दिखाई देते हैं। कबीरदासके इस गुणने सैकड़ों वर्षसे उन्हें साधारण जनताका नेता और साथी बना दिया है। वे केवल श्रद्धा और भक्तिके पात्र ही नही प्रेम और विश्वासके आस्पद भी बन गये हैं। सच पूछा जाय तो जनता कबीरदासपर श्रद्धा करनेकी अपेक्षा प्रेम अधिक करती है। इसीलिए उनके सन्तरूपके साथ ही उनका कविरूप बराबर चलता रहता है। वे केवल नेता और गुरु नहीं हैं, साथी और मित्र भी हैं।

कबीरने ऐसी बहुत-सी बातें कहीं हैं जिनसे (अगर उपयोग किया जाय तो) समाज सुधारमें सहायता मिल सकती है, पर इसीलिए उनको समाज-सुधारक समझना गलती है। वस्तुत वे व्यक्तिगत साधनाके प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्तका स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। सर्व-धर्म-समन्वयके लिए जिस मजबूत आधारकी जरूरत होती है वह वस्तु कबीरके पदोंमें सर्वत्र पाई जाती है, वह बात है भगवान्‌के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्रको उसके निर्विशिष्ट रूपमें समान समझना। परन्तु, आजकल सर्वधर्मसमन्वयसे जिस प्रकारका भाव लिया जाता है वह कबीरमें एकदम नहीं था। सभी धर्मोंके बाह्य आचारों और आन्तर संस्कारोंमें कुछ-न-कुछ विशेष देखना और सब आचारों संस्कारोंके प्रति सम्मानकी दृष्टि उत्पन्न करना ही यह भाव है। कबीर इसके कठोर विरोधी थे। उन्हें अर्थ-हीन आचार पसन्द नहीं थे, चाहे वे बड़ेसे बड़े आचार्य या पैगम्बरके ही प्रवर्तित हों या उच्चसे उच्च समझी जानेवाली धर्म-पुस्तकसे उपदिष्ट हों। बाह्याचारकी निरर्थक पूजा और संस्कारोंकी विचारहीन गुलामी कबीरको पसन्द नहीं थी। वे इनसे मुक्त मनुष्यताको ही प्रेमभक्तिका पात्र मानते थे। धर्मगत विशेषताओंके प्रति सहन-शीलता और सम्भ्रमका भाव भी उनके पदोंमें

नहीं मिलता। परन्तु वे मनुष्य मात्रको समान मर्यादाका अधिकारी मानते थे; जातिगत, कुलगत, आचारगत श्रेष्ठताका उनकी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं था। सम्प्रदाय-प्रतिष्ठाके भी वे विरोधी जान पड़ते हैं। परन्तु फिर भी विरोधाभास यह है कि उन्हें हजारोंकी संख्यामें लोग सम्प्रदाय-विशेषके प्रवर्तक माननेमें ही गौरव अनुभव करते हैं।

जो लोग हिन्दू-मुस्लिम एकताके व्रतमें दीक्षित हैं वे भी कबीरदासको अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीमकी जो एकता स्वयं-सिद्ध है उसे भी सम्प्रदाय-बुद्धिसे विकृत मस्तिष्कवाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदाससे अधिक जोरदार शब्दोंमें इस एकताका प्रतिपादन किसीने नहीं किया। पर जो लोग उत्साहाधिक्यवश कबीरको केवल हिन्दू-मुस्लिम एकताका पैगम्बर मान लेते हैं वे उनके मूल स्वरूपको भूलकर उसके एक-देश मात्रकी बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदासने 'दोनों धर्मोंकी ऊँची संस्कृति या दोनों धर्मोंके उच्चतर भावोंमें सामंजस्य स्थापित करनेकी कहीं भी कोशिश नहीं की, और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओंकी खिल्ली ही उड़ाई है जिसे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं,' तो कुछ आश्चर्य करनेकी बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिन्दुपरसे धार्मिक द्वन्द्वोंको देखते ही न थे। उन्होंने रोगका ठीक निदान किया था या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं पर औषध निर्वाचनमें और अपथ्य वर्जनके निर्देशमें उन्होंने बिलकुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवद्विश्वास। दोनों धर्म समान-रूपसे भगवानमें विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषधका प्रभाव उसपर पड़ेगा ही। अपथ्य हैं बाह्य आचारोंको धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण ऊँच-नीचका भाव। कबीरदासकी इन दोनों व्यवस्थाओंमें गलती नहीं है और अगर किसी दिन हिन्दुओं और मुसलमानोंमें एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है। इसमें केवल बाह्याचारवर्जनकी नकारात्मक प्रक्रिया नहीं है, भगवद्विश्वासका अविश्लेष्य सीमेंट भी काम करेगा। इसी अर्थमें कबीरदास हिन्दू और मुसलमानोंके ऐक्य-विधायक थे। परन्तु जैसा कि आरम्भमें ही कहा गया है, कबीरदासको केवल इन्हीं रूपोंमें देखना सही देखना नहीं है। वे मूलतः भक्त थे। भगवानपर उनका अविचल अखण्ड विश्वास था। वे कभी सुधार करनेके फेरमें

नही पड़े। शायद वे अनुभव कर चुके थे कि जो स्वय सुधरना नहीं चाहता उसे जबर्दस्ती सुधारनेका व्रत व्यर्थका प्रयास है। वे अपने उपदेश 'साधु' भाईको देते थे या फिर स्वय अपने आपको ही सम्बोधित करके कह देते थे। यदि उनकी बात कोई सुननेवाले न मिले तो वे निश्चिन्त होकर स्वयको ही पुकार कर कह उठते 'अपनी राह तू चले कबीरा!' अपनी राह अर्थात् धर्म, सम्प्रदाय, जाति, कुल और शास्त्रकी रूढियोंसे जो बद्ध नहा है, जो अपने अनुभवके द्वारा प्रत्यक्षीकृत है।

कबीरदासका यह भक्त रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्रके इर्द गिर्द उनके अन्य रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे ह। मुश्किल यह है कि इस केन्द्रीय वस्तुका प्रकाश भाषाकी पहुँचके बाहर है। भक्ति कहकर नही समझाई जा सकती, वह अनुभव करके आस्वादन की जा सकती है। कबीरदासने इस बातको हजार तरहसे कहा है। इस भक्ति या भगवानके प्रति अहैतुक अनुरागकी बात कहते समय उन्हें ऐसी बहुत-सी बात कहनी पडी ह जा भक्ति नहीं हैं पर भक्तिके अनुभव करनेमें सहायक है। मूल वस्तु चूकि वाणीक अगोचर है, इसीलिए केवल वाणीका अध्ययन करनेवाले विद्यार्थीको अगर भ्रममें पड़ जाना पड़ा हो तो आश्चर्यकी कोई बात नही है। वाणीद्वारा उन्होंने उस निगूढ अनुभवैकगम्य तत्त्वकी ओर इशारा किया है, उसे 'ध्वनित' किया है। ऐसा करनेके लिए उन्ह भाषाके द्वारा रूप खड़ा करना पडा है और अरूपको रूपक द्वारा अभिव्यक्त करनेकी साधना करनी पडी है। काव्यशास्त्रके आचार्य इसे ही कविकी सबसे बडी शक्ति बताते हैं। रूपके द्वारा अरूपकी व्यजना, कथनके जरिए अकथ्यका ध्वनन, काव्य शक्तिका चरम निदर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी वह ध्वनित वस्तु ही प्रधान है, ध्वनित करनेकी शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदोंमें फोकटका माल है,—बाईप्रोडक्ट है, वह कोलतार और सीरेकी भाँति और चीजोंको बनाते बनाते अपने आप बन गया है।

प्रेम भक्तिको कबीरदासकी वाणियोंकी केन्द्रीय वस्तु न माननेका ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे अच्छे विद्वान उन्ह घमडी, अटपटी वाणीका बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवादके बारीक भेदको न जाननेवाला, अहकारी, अगुण-सगुण-विवेक-अनभिज्ञ आदि कहकर अपनेको उनसे अधिक योग्य मानकर सन्तोष पाते रहे हैं। यह मानी हुई बात है कि जो बात लोकमें अहंकार कहलाती है वह भगवत्प्रेमके क्षेत्रमें,—स्वाधीनभर्तृका नायिकाके गर्वकी

भाँति अपने और अपने प्रियके प्रति अखण्ड विश्वासकी परिचायक है, जो बात लोकमें दब्बूपन और कायरता कहलाती है वही भगवत्प्रेमके क्षेत्रमें भगवानके प्रति भक्तका अनन्यपरायण आत्मार्पण होती है और जो बात लोकमें परस्पर विरुद्ध जँचती हैं भगवानके विषयमें उनका विरोध दूर हो जाता है। लोकमें ऐसे जीवकी कल्पना नहीं की जा सकती जो कर्णहीन होकर भी सब कुछ सुनता हो, चक्षुरहित बना रहकर भी सब कुछ देख सकता हो, वाणीहीन होकर भी वक्ता हो सकता हो, जो छोटेसे छोटा भी हो और बड़ेसे बड़ा भी, जो एक भी हो और अनेक भी, जो बाहर भी हो और भीतर भी, जिसे सबका मालिक भी कहा जा सके और सबका सेवक भी, जिसे सबके ऊपर भी कहा जा सके और सर्वमय सेवक भी, जिसमें समस्त गुणोंका आरोप भी किया जा सके और गुण-हीनताका भी, और फिर भी जो न इन्द्रियका विषय हो, न मनका, न बुद्धिका। परन्तु भगवानके लिए सब विशेषण सब देशोंके साधक सर्व भावसे देते रहे हैं। जो भक्त नहीं है, जो अनुभवद्वारा साक्षात्कार किये हुए सत्यमें विश्वास नहीं रखते, वे केवल तर्कमें उलझकर रह जाते हैं पर जो भक्त हैं, वे भुजा उठाकर घोषणा करते हैं, 'अगुणहि-सगुणहिं नहि कछु भेदा।' (तुलसीदास)। परन्तु तर्कपरायण व्यक्ति इस वचनके अटपटेपनको वदतोव्याघात कहकर सन्तोष कर लेता है। यदि भक्तिको कबीरदासकी वाणियोंकी केन्द्रीय वस्तु मान लिया जाता तो निस्सन्देह स्वीकार कर लिया जाता कि भक्तके लिए वे सारी बातें बेमतलब हैं जिन्हें कि विद्वान् लोग बारीक भेद कहकर आनन्द पाया करते हैं। भगवानके अनिर्वचनीय स्वरूपको भक्तने जैसा कुछ देखा है वह वाणीके प्रकाशन क्षेत्रके बाहर है, इसीलिए वाणी नाना प्रकारसे परस्पर विरोधी और अविरोधी शब्दोंद्वारा उस परम प्रेममयका रूप निर्देश करनेकी चेष्टा करती है। भक्त उसकी असमर्थतापर नहीं जाता, वह उसकी रूपातीत व्यंजनाको ही देखता है।

भक्ति तत्त्वकी व्याख्या करते करते उन्हें उन बाह्याचारके जंजालोंको साफ करनेकी जरूरत महसूस हुई है जो अपनी जड़ प्रकृतिके कारण विशुद्ध चेतन-तत्त्वकी उपलब्धिमें बाधक हैं। यह बात ही समाज-सुधार और साम्प्रदायिक ऐक्यकी विधात्री बन गई है। पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि यह भी फोकटका माल या बाईप्रोडक्ट ही है।

जो लोग इन बातोंसे ही कबीरदासकी महिमाका विचार करते हैं वे केवल

सतहपर ही चक्कर काटते हैं। कबीरदास एक जबरदस्त क्रान्तिकारी पुरुष थे। उनके कथनकी ज्योति जो इतने क्षेत्रोंको उद्भासित कर सकी है सो मामूली शक्तिमत्ताकी परिचायिका नहीं है। परन्तु यह समझना कि उद्भासित पदार्थ ही ज्योति है, बड़ी भारी गलती है। उद्भासित पदार्थ ज्योतिकी ओर इशारा करते हैं और ज्योति किधर और कहाँ है, इस बातका निर्देश देते हैं। ऊपर ऊपर सतहपर चक्कर काटनेवाले समुद्र भले ही पार कर जायँ पर उसकी गहराईकी थाह नहीं पा सकते। इन पंक्तियोंका लेखक अपनेको सतहका चक्कर काटनेवालोंसे विशेष नहीं समझता। उसका दृढ विश्वास है कि कबीरदासके पदोंमें जो महान् प्रकाशपुंज है वह बौद्धिक आलोचनाका विषय नहीं है। वह म्यूजियमकी चीज नहीं है वरिक जीवित प्राणवान वस्तु है। कबीरपर पुस्तकें बहुत लिखी गई हैं, और भी लिखी जायँगी पर ऐसे लोग कम ही हैं जो उस साधनाकी गहराई तक जानेकी चेष्टा करते हों। रामकी वानरी सेना समुद्र जरूर लाँघ गई थी पर उसकी गहराईका पता तो मंदर पर्वतको ही था जिसका विराट् शरीर आपातालनिमग्न हो गया था—

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरताम्
आपाताल-निमग्न पीवरतनु-र्जानाति मन्दराचल ।

सो, कबीरदासकी सच्ची महिमा तो कोई गहरेमें गोता लगानेवाला ही समझ सकता है।

फिर भी लेखकने इस पुस्तकमें जो लम्बी व्याख्या प्रकाशित की है उसके लिए उसे पश्चात्ताप नहीं है। कबीरने जिन तत्त्वोंको अपनी रचनासे ध्वनित करना चाहा है उसके लिए कबीरकी भाषासे ज्यादा साफ और जोरदार भाषाकी सम्भावना भी नहीं है और जरूरत भी नहीं है। परन्तु कालक्रमसे वह भाषा आजके शिक्षित व्यक्तिको दुरूह जान पड़ती है। कबीरने शास्त्रीय भाषाका अध्ययन नहीं किया था, पर फिर भी उनकी भाषामें परम्परासे चली आई विशेषताएँ वर्तमान हैं। इसका ऐतिहासिक कारण है। इस ऐतिहासिक कारणको जाने बिना उस भाषाको ठीक ठीक समझना सम्भव नहीं है। इस पुस्तकमें उसी ऐतिहासिक परम्पराके अध्ययनका प्रयास है। यह प्रयास पूर्णरूपसे सफल हुआ ही होगा, ऐसा हम दावा नहीं करते, परन्तु वह गर्हणीय नहीं है, इस बातमें लेखकको कोई सन्देह नहीं है।

कबीरदासने स्वयं अरूपको रूप देनेकी चेष्टा की थी। परन्तु वे स्वयं कह गये हैं कि ये सारे प्रयास तभी तक थे जब तक परम प्रेमके आधार प्रियतमका मिलन नहीं हुआ था। साखी, पद, शब्द और दोहरे उसी प्राप्तिके साधन हैं, मार्ग हैं (दे० पृ० २१५)। गन्तव्य तक पहुँच जानेपर मार्गका हिसाब करना बेकार होता है। फिर इन साखी, शब्द और दोहरोंकी व्याख्याके प्रयासको क्या कहा जाय? ये तो साधनको समझानेके साधन,—साधनके भी साधन हैं!

प्रसंग-क्रमसे इसमें कबीरदासकी भाषा और शैली समझानेके कार्यसे कभी कभी आगे बढ़नेका साहस किया गया है। जो वाणीके अगोचर है, उसे वाणीके द्वारा अभिव्यक्त करनेकी चेष्टा की गई है, जो मन और बुद्धिकी पहुँचसे परे है उसे बुद्धिके बलपर समझनेकी कोशिश की गई है, जो देश और कालकी सीमाके परे है उसे दो-चार-दस पृष्ठमें बाँध डालनेकी साहसिकता दिखाई गई है। कहते हैं, समस्त पुराणों और महाभारतीय संहिता लिखनेके बाद व्यास देवने अत्यन्त अनुतापके साथ कहा था कि हे अखिल विश्वके गुरुदेव, आपका कोई रूप नहीं है फिर भी मैंने ध्यानके द्वारा इन ग्रन्थोंमें रूपकी कल्पना की है, आप अनिर्वचनीय हैं, व्याख्या करके आपके स्वरूपको समझा सकना सम्भव नहीं है फिर भी मैंने स्तुतिद्वारा व्याख्या करनेकी कोशिश की है,—वाणीद्वारा प्रकाश करनेका प्रयास किया है। तुम समस्त-भुवन-व्याप्त हो, इस ब्रह्माण्डके प्रत्येक अणु-परमाणुमें तुम भिने हुए हो, तथापि तीर्थ-यात्रादि विधानसे उस व्यापित्वको खंडित किया है। भला जो सर्वत्र परिव्याप्त है उसके लिये तीर्थविशेषमें जानेकी व्यवस्था क्या? सो हे जगदीश, मेरी बुद्धिगत विकलताके ये तीन अपराध,—अरूपकी रूपकल्पना, अनिर्वचनीयका स्तुति-निर्वचन, व्यापीका स्थान-विशेषमें निर्देश—तुम क्षमा करो। क्या व्यासजीके महान् आदर्शका पदानुसरण करके इस लेखकको भी यही कहनेकी जरूरत है?—

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत्कल्पितम्,
स्तुत्या निर्वचनीयताऽखिलगुरोदूरीकृतायन्मया।
व्यापित्वं च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना,
क्षन्तव्यं जगदीश, तद् विकलता-दोषत्रयं मत्कृतम्॥

परिशिष्ट—१

परवर्ती कबीरपन्थी सिद्धान्त

इस पुस्तकके अन्तमें कबीर-वाणी नामसे एक संग्रह जोड़ दिया गया है। कई विद्यार्थियों और मित्रोंके अनुरोधसे उसपर टिप्पणियाँ भी लिखी गई हैं जो संग्रहीत पदोंको समझनेमें सहायक हो सकती हैं। प्रथम सौ पदोंका महत्त्व रवीन्द्रनाथके अनुवादके कारण है। इनमें कुछ पद परवर्ती जान पड़ते हैं। इन परवर्ती पदोंको ठीक ठीक समझनेके लिये परवर्ती कबीरपन्थी सिद्धान्तोंकी जानकारी आवश्यक है। मैंने इस विषयपर अलग पुस्तक लिखी है। यहाँ संक्षेपमें इन सिद्धान्तोंकी चर्चा कर दी जाती है। व्याख्यात्मक टिप्पणियोंमें जहाँ आवश्यक होगा वहाँ इस परिशिष्टके अनुच्छेदोंका हवाला दे दिया जायगा।

१ पहले यह जीव जब अपने सत्य-स्वरूपमें था, उसकी सत्य-स्वरूप देह थी, पिण्ड और ब्रह्माण्ड सत्य-स्वरूप और पक्के थे, पाँच पक्के तत्त्व और गुण थे। पाँच पक्के तत्त्वोंके नाम हैं—(१) धर्म (२) दया (३) शील (४) विचार और (५) सत्य। तीन गुण हैं विवेक-वैराग्य, गुरु-भक्ति और साधु भाव। इन्हीं पाँच तत्त्वों और तीन गुणोंकी देह हंसाकी थी। इस जीवका प्रकाश और स्वभाव अद्वितीय था। जब इस जीव (हंसा) ने अपनी सुन्दरताका विचार किया तब उसको बड़ा आनन्द हुआ और उसे अपनी देहकी सुधि भूल गई। फिर तो पक्की देह पलटकर कच्ची देह बन गई। तत्त्व और प्रकृति सब बदल गए। धैर्यसे आकाश, शीलसे अग्नि, विचारसे जल, दयासे वायु और सत्यसे पृथिवी हो गई। इस प्रकार पक्के गुणसे कच्चे गुण हो गए। फिर तो पचीस प्रकृति आदि कच्चे आकारका प्रादुर्भाव हुआ।

२. जिस समय यह अपनी देहकी ज्योति, प्रभाव और प्रकाशको देखकर आनन्दमें बेसुध हुआ उस समय उसने आँख उठाकर शून्यमें देखा। यहाँ

उसकी छाया देख पडी जो स्त्रीरूप हो गई। इसीसे बादमें चलकर उसका सयोग हुआ। इसीको माया और ब्रह्मका सयोग कहते हैं। इसीसे समस्त प्रकारकी रचना हुई।

३ बादमें इस जीवको अहकार उत्पन्न हुआ तब वह जानने लगा कि सब मैं ही हूँ। फिर तो स्वाभाविक 'एकोऽह बहु स्यां' की स्फुरना उठी। इसी ब्रह्म सच्चिदानन्दकी बात सब वेद, शास्त्र, किताब आदि करते है परन्तु स्वसवेद ही जानता है कि यह ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वय बन्धनमें है और सर्वदा आवागमनमें बद्ध है। जबसे यह जीव सूक्ष्मसे स्थूल देहमें आया तभीसे भ्रमम पड गया और उसी भ्रमकी अवस्थाम वेद किताब ग्रन्थ वाणी आदि बनाया जिसका कुछ वारापार नहीं।

४ जब यह एकसे अनेक होता है तब अज्ञानी हो जाता है और जब अद्वैतकी ओर मुख फेरता है और आत्मज्ञानके हेतु प्रयत्न करता है तब इसमें पुन ज्ञानका प्रकाश आ जाता है और ससार लय हो जाता है क्योकि जिसकी ओर ध्यान न होगा वह अवश्य ही नाश हो जावेगा, परन्तु अद्वैतमुख होनेके बाद भी जीवमें वासना बनी ही रहती है। जब तक वासनाका बीज नहीं नष्ट हो जाता तब तक मुक्ति कैसे सम्भव है? यही कारण है कि जीव निरन्तर सूक्ष्मसे स्थूल और स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर चढता-उतरता चौरासी लाख योनियोंके भवजालमें भटकता रहता है। जीव अपनी उपायों और युक्तियोंसे ज्ञानाग्निको उठाता है तो ज्ञानाग्नि प्रकट होकर कर्मोंको जला देती है। जिस प्रकार लाल अगार थोड़ी देर तक चमक दिखा लेनेके बाद ठण्डा बनकर कोयला हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि भी ठण्डी हो जाती है और ब्रह्मपदको प्राप्त जीव फिर ससार चक्रमे आ फँसता है। वेद-वेदाङ्ग केवल ब्रह्मत्व-प्राप्तिका उपाय बताते हैं पर उन्हे बिल्कुल पता नहीं कि ब्रह्मत्व जितना बड़ा पद भी क्यों न हो, जीवको स्थायी सुख नहीं दे सकता।

५ पारख गुरुके सिवा इस भ्रमजालसे छुडानेवाला दूसरा कोई नहीं है। जब जीव तीर्थ-व्रत, वेद-कुरान, रोजा नमाज, उपासना-योग आदि करके थक गया और कुछ करते नही बना तब उसने नौ कोशो और छः देहोंमे अपना घर बनाया। नौ कोश ये हैं—अन्नमय कोश, शब्दमय कोश, प्राणमय०, आनन्दमय०,

मनोमय०, प्रकाशमय०, ज्ञानमय०, आकाशमय०, विज्ञानमय०। छ देह इस प्रकार है—

(१) स्थूल देह—पच्चीस तत्त्वों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दस इन्द्रिय, पाँच प्राण, चार अन्तःकरण और जीव। इसकी अवस्थाका नाम जाग्रत अवस्था है।

(२) सूक्ष्म शरीर सत्रह तत्त्वों अर्थात पाँच प्राण, दस इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे बनता है। अवस्था स्वप्न है।

(३) कारण देह तीन तत्त्वों अर्थात चित्त, अहङ्कार और जीवात्मासे बनता है। अवस्थाका नाम सुषुप्ति है।

(४) महाकारण देह दो तत्त्वों—अहङ्कार और जीवात्मा—का है। अवस्था तुरीया।

(५) कैवल्य देह एक तत्त्व—चित—जीवात्मा—से बना है। अवस्था तुरीयातीत है।

(६) हंस देह—इसमें कोई तत्त्व नहीं है। जिस प्रकाशमें यह जीव समष्टि-रूप था उसी प्रकाशको उसने अपना स्वरूप माना। सो ऐसा मानना इसका भ्रममात्र है।

६ बड़े बड़े धर्माचार्य और मुनि पैगम्बर ज्यादासे ज्यादा इन्हीं नौ कोशों और छः देहोंकी बात जानते हैं और निकलनेकी राह नहीं पा रहे हैं। एक मात्र कबीर साहब इनसे भ्रम छुड़ानेका सामर्थ्य रखते हैं। यह स्पष्ट रूपसे समझ लेना चाहिए कि हंस-देह भी भ्रम ही है, यद्यपि हंस-रूप (विशुद्ध चैतन्य) ही जीवका स्वरूप है और उसको प्राप्त होना ही कबीरपन्थी साधकका परम काम्य है। क्योंकि जिस ब्रह्म प्रकाशमें तम अर्थात अन्धकार भरा हुआ है उसको जो छठा हंसका शरीर मानते हो, और यह भी मानते हो कि हम वही हैं, ऐसा मानकर उसमें निमग्न होनेसे तुम्हारी दशा चार प्रकारकी हुई। बाल, मूक, पिशाच और जड़। बुद्धि ठिकाने न रही, एकदम अचेत हो गए। पूर्ण गुरुके बिना तुमको हंस देह कदापि प्राप्त न होगी। जिसको तुमने हंस देह अनुमान कर रखा है सो तुम्हारी भूल और भ्रम है। हंसका स्वरूप सद्गुरुकी

दया बिना कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। कहते हैं, स्वय कबीरदासने छ देहोंका परिचय बताया है और यथाप्रसग यह भी कहा है कि इस रूपके गुण अकथ हैं।

७. सद्गुरुकी कृपासे जब इस भ्रान्त जीवको पारख गुरुका सन्निधान प्राप्त होता है तब इसका एक-अनेकका भ्रम नष्ट होता है और वह अपने सत्य-स्वरूपको पा जाता है। पारखसे ही इसका मन और बुद्धि स्थिर होती है और आवागमन छूट जाता है। स्वसवेदके अनुसार वेदने जो 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंका उपदेश दिया है उसके तीनों पद तत्—त्वम्—असि धोखा हैं। इन तीनोंके ऊपर पारख पद है। वही सत्य पद है। उसीसे जीवोंकी मुक्ति होती है। जो कोई उस पारख-पदको प्राप्त कर लेता है वही पारखी कहलाता है। वह पारखी सच्चा गुरु हो सकता है। चूँकि वही एकमात्र ऐसा है कि जीवोंके बन्धनको छुड़ा सकता है इसलिए उसे 'बन्दी छोड़' कहते हैं। वह एक अनन्त, बाहर भीतर, पिण्ड ब्रह्माण्ड सबके भेद और कसर-खोटको भिन्न भिन्न करके परखा देता है। पारख पदको प्राप्त हुआ पुरुष फिर कभी पतित नहीं होता।

८ कैवल्य शरीरसे लेकर स्थूल देह तक सभी नाशमान् हैं, निर्मूल हैं, किसीमें अन्धकार है, किसीमे प्रकाश, किसीमे थोड़ा ज्ञान है, किसीमे बहुत, किसीमें थोड़ा सामर्थ्य है किसीमें बहुत, कोई थोड़े दिन जीता है कोई दीर्घायु होता है। क्या हुआ ? कैसे ही पदको प्राप्त हो परन्तु जब तक इन पॉच देहोंके अहकारसे न छूटेगा तब तक सुखको प्राप्त न हो सकेगा। ये पॉचों अहङ्कार काल पुरुषके हैं। इन्हीं द्वारा विधि निषेध दोनों कर्मके भेद बताए हैं। इसके भेदको हंस कबीरके अतिरिक्त दूसरा कोई नही जान सकता।

९ क्षमा, सन्तोष, विचार और सत्संग ये चारों मुक्तिके पौरिये हैं। इन चारोंको जो धारण करेंगे उन्हें सब कुछ प्राप्त होगा। इनसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। इन चारोंके बिना किसीकी मुक्तिका मार्ग नहीं मिल सकता।



परिशिष्ट–२

कबीर-वाणी

[१ से १०० तक आचार्य क्षितिमोहन सेनके संग्रहसे उद्धृत और अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिके वे पद्य हैं जिन्होंने महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे व्यक्तिको आकृष्ट किया, जो उन्हें इस योग्य जँचे कि भारतीय मनीषाके प्रति पाश्चात्य विद्वानोंकी उपेक्षा और अवज्ञाको दूर कर सकेंगे और इसलिए जिनका अँग्रेजी अनुवाद उन्होंने स्वयं किया। यूरोपीय भाषाओंमें इनके अनुवादोंसे कितने ही चोटीके समीक्षक भारतीय साधना और साहित्यके विषयमें अपना मत बदलनेको बाध्य हुए।

हिन्दीके पाठकोंको इन कविताओंके पढते समय दो बातें ध्यानमें रखनी चाहिए, (१) ये कवितायें मुख्यतः पश्चिमी विद्वानोंको दृष्टिमें रखकर संगृहीत हुई थीं और (२) इनके संग्रहकर्ता आचार्य सेनने छपी पोथियोंकी अपेक्षा साधुओंके मुँहसे सुनी हुई वाणियोंको अधिक ठीक माना था। प्रत्येक पदके अन्तमें दी हुई दो संख्यायें आचार्य सेनके संग्रहकी जिल्द और पृष्ठका निर्देश करती हैं।

१०१ से २५६ तकके पद पिछले अध्यायोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंका और भी अधिक समर्थन करनेकी दृष्टिसे संगृहीत हुए हैं। जिस क्रमसे सिद्धान्तोंका प्रतिपादन है, उसी क्रमसे संग्रह भी।]

१

मोकों कहाँ ढूढे बन्दे, मै तो तेरे पासमे ।
ना मै देवल ना मै मसजिद, ना काबे कैलासमे ।
ना तो कौन क्रिया-कर्ममे, नहीं योग बैरागमे ।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौ, पल भरकी तालासमे ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसोकी स्वाँसमे ॥ (१–१३)

१ इस पदका भावार्थ यह है कि भगवान् देवल (मन्दिर), मस्जिद या तीर्थस्थानोंमे नही मिलते, बाहरी क्रिया कर्मसे या योग वैराग्यसे भी नहीं मिलते । वे मनुष्यके अन्तरमें ही वर्तमान हैं । वहीं उन्हे सहज ही पाया जा सकता है ।

विशेष—प्रथम और दूसरी पक्तिके बीचमे छपी हुई पुस्तकोंमें इतना अधिक है—

ना म छगरी ना मे भेड़ी ना म छुरी गँडासामें ।
नही खालमे नहीं पूंछमे ना हड्डी ना मासमें ।

फिर अन्तिम पक्तिके पहले यह पंक्ति है ।

मैं तो रहो सहरके बाहर मेरी पुरी मवासमें ।

(दे० शब्दा० पृ० १११ २)

अधिक पाई जानेवाली पंक्तियोमें भी यही भाव है । बलि देनेके या कुर्बानीके जितने उपकरण है उनमे भी भगवान् नही है ।

मवासका अर्थ 'सरन' बताया जाता है । 'मै तो रहो' आदि पंक्तिका मतलब यह है कि भीडभाड़में या दुनियावी कामकाजमे नही रहता । 'शहर' का तात्पर्य भीड़भाड, कामकाज आदिसे है । 'मेरी पुरी मवासमें' का मतलब यह है कि जो सब कुछ छोड़कर मेरी शरण आ जाता है, मै उसीको सुलभ होता हूँ । मैं अर्थात् भगवान् ।

२

सन्तन जात न पूछो निरगुनियाँ।
साध ब्राह्मन साध छत्री, साधै जाती बनियाँ।
साधनमाँ छत्तीस कौम है, टेढ़ी तोर पुछनियाँ।
साधै नाऊ साध धोबी, साध जाति है बरियाँ।
साधनमाँ रैदास सन्त है, सुपच ऋषि सो भँगियाँ।
हिन्दू-तुर्क दुइ दीन बने हैं, कछू नहीं पहचनियाँ। (१-१६)

२ साध=साधु। साधै=साधु ही। पुछनियाँ=पूछना, प्रश्न करना। सुपच ऋषि=श्वपच सुदर्शन। यज्ञसागर, उग्रगीता, कबीर मन्सूर आदि कबीरपंथी ग्रन्थोंमें बताया गया है कि कलियुगके आरम्भमें जब कबीरसाहब इस पृथ्वीपर प्रकट हुए थे तो काशीके सुदर्शन नामक महात्माने उनसे दीक्षा ली थी। वे जातिके भंगी थे। युधिष्ठिरने महाभारतकी लड़ाई जीत लेनेके बाद भ्रातृहत्याके पापसे उद्धार पानेके लिये एक बड़ा यज्ञ किया था। श्रीकृष्णचन्द्रने इस यज्ञमें एक घंटा बाँध दिया था। जब घंटा सात बार बजे तभी पाप छूटेगा, ऐसा संकेत कर दिया था। हजारों ब्राह्मण और साधु भोजन कर चुके पर घंटा नहीं बजा, तब श्रीकृष्णके कहने पर भीम काशीके सुदर्शन भंगीको लिवा लाने गये। भीमके अहंभावके कारण सुदर्शनने जाना अस्वीकार कर दिया। तब स्वयं युधिष्ठिर जाकर उन्हें ले आये और भोजन कराया। उनके भोजन करनेपर ही घंटा बजा। प्रयाग क्षेत्रमें श्रीकृष्णके कहनेसे सब लोग गये। वहाँ जलमें सबने अपनी छाया देखी। केवल सुदर्शनकी छाया मनुष्यकी थी, बाकी सबकी कुत्ते आदि निकृष्ट जीवोंकी। भँगियाँ=भंगी। दीन=धर्म। पहचनियाँ=भेद, पहचान, विशेषता।

इस पदका भाव यह है कि निर्गुण साधुकी जाति पूछना बेकार है। सभी जातिके लोग साधु हो चुके हैं। आ० क्षितिमोहन सेनने 'साधै' का अर्थ 'साधन करते हैं' ऐसा किया है।

विशेष – छपी पोथियोंमें इस पदके अन्तमें ये तीन पद और हैं—

लाखन जाति जगतमाँ फैली कालको फंद पसरियाँ।

३

साधो भाई, जीवत ही करो आसा।
जीवत समझे जीवत बूझे, जीवत मुक्तिनिवासा।
जीवत करमकी फाँस न काटी, मुये मुक्तिकी आसा।
तन छूटे जिव मिलन कहत है, सो सब झूठी आसा।
अबहुँ मिला तो तबहुँ मिलेगा, नहिं तो जमपुरबासा।
सत्त गहे सतगुरुको चीन्हे, सत्त-नाम विस्वासा।
कहै कबीर साधन हितकारी, हम साधनके दासा ॥ (१-९७)

सब तत्तनमां सन्त बसे हैं सब्द रूप जिन देहियाँ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो सत्तरूप वहि जनियाँ।

कालको = कालका फन्दा पसारा हुआ है। तत्तनमां=तत्त्वोंमें। सब्दरूप... =जिनकी देह शब्दरूप है। सत्त जनियाँ=उन्हें सत्यपुरुषका रूप ही समझो।

३ इस पदका भाव यह है कि जीते जी ही सदाचरण और भक्तिके द्वारा भगवानसे मिलनेकी आशा करो। नाना प्रकारके तीर्थ, व्रत और तप करनेके बाद जब मृत्यु होगी तब वैकुण्ठ मिलेगा, यह एक मिथ्या आशा है। तन आसा=जो लोग यह कहते हैं कि शरीर छूटनेके बाद जीवका भगवान्से मिलन होगा (या परम पद मिलेगा) वह सब झूठी आशा दिखाते हैं। जो इस समय मिला है वही उस समय (मृत्युके बाद) भी मिलेगा। सत्त विसवासा= सत्यको ग्रहण करे, सत गुरुकी पहचान और सत्य नामपर विश्वास रखे, तभी मिलनेकी आशा कर सकता है।

विशेष—छपी पुस्तकोंमें 'अबहुँ मिला सो' इस पंक्तिके बाद ये दो पंक्तियाँ अधिक हैं—

दूर दूर ढूढै मम लोभी मिटै न गर्भ-तरासा।
साध सतकी करै न बदगी कटै करमकी फासा।

गर्भतरासा=गर्भत्रास, बार बार जन्म-मरणके चक्करमें पड़ते रहनेका डर।

४

बागो ना जा रे ना जा, तेरी कायामे गुलजार।
सहस कँवलपर बैठके तू देखे रूप अपार॥ (१-५८)

४ इसका भाव भी पद १ से मिलता जुलता है। बगीचेका सान्दर्य देखनेके लिये किसी बाहरी उपवनमें जानेकी जरूरत नहीं है, शरीरमें ही फूल खिले हुए हैं। शरीरके भीतर जो सहस्र दलका कमल है (सहस्रार चक्र) उसीपर बैठकर अर्थात पूर्ण समाधिके द्वारा अपार रूपको देख। छपी पोथियोंमे यह पद इस प्रकार है—

बागों ना जा रे ना जा, तेरे कायामे गुलजार।
करनी-क्यारी बोइ कर तू रहनी करु रखवार।
दुर्मति काग उडाइ के देख अजब बहार॥
मन माली परबोधिए करि सजमकी बार।
दया पौद सूखे नहीं छिमा सींच जल ढार॥
गुल और चमनके बीचमें फूला अजब गुलाब।
मुक्ति कली सतमालकी पहिरु गूथि-गलहार॥
अष्ट कमलसे ऊपजे लीला अगम अपार।
कहैं कबीर चित चेतके आवागमन निवार॥

इस पदमें बागका रूपक पूरा पूरा (साग) है। इस बगीचेमें करनी क्यारी है, रहनी (=रहनेका भाव, आचरण) रखवाला है, दुर्मति (कुमति) बगीचेको दूषित करनेवाला काग है। मन माली है, सयम बेड़ा है, दया पौधा है, क्षमा सीचनेका जल है। गुल और चमनके बीचमे जो गुलाब है वह क्या है, यह बात साम्प्रदायिक व्याख्याओंमे देखनेको नहीं मिली। चमन (बाग) तो स्पष्ट ही शरीर है, गुल सभवतः सहस्रार है और इन दोनोंके बीच खिला हुआ अद्भुत गुलाब सम्भवत समाधि या लय है। मुक्ति कली है, जिससे सत्य नामकी माला गूँथी जा सकती है। अष्टकमल=आठ कमल। कबीरपन्थी पुस्तकोंमे कभी कभी नौ कमलाकार चक्रोंकी बात आती है। अन्तिम या नवें कमलपर जब योगी पहुँचता है तो उसके सकल्प-विकल्पका लय हो जाता है परन्तु बाकी आठ कमलोंमें वह अनेक लीलाएँ देख सकता है।

५

अवधू, माया तजी न जाई ।
गिरह तजके बस्तर बाँधा, बस्तर तजके फेरी ॥
काम तजेते क्रोध न जाई, क्रोध तजेते लोभा ।
लोभ तजे अहँकार न जाई, मान-बडाई-सोभा ॥
मन बैरागी माया त्यागी, शब्दमे सुरत समाई ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह गम बिरले पाई ॥ (१-६३)

५ हे अवधूत, माया छोडना कठिन है । गृह छोड़ा तो वस्त्र (भेष) धारण किया और जब वस्त्र छोडा तो फेरी देने लगे—भीख माँगने लगे । इस पद्यके 'गिरह' शब्दका अर्थ क्षितिमोहन सेनने 'गाँठ' किया है । छपी पोथियोमे दूसरी पक्तिके बाद तीन पंक्तियाँ और है । इन पक्तियोंसे गिरहका अर्थ गृह (गृहस्थी) ही संगत जान पडता है । पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

लड़िका तजिके चेला कीन्हा तहुँ मति माया घेरी ।
जैसे बेल बागमे अरुझी माहि रही अरुझाई ।
छोरेसे यह छूटे नाही कोटिन करै उपाई ॥

भाव यह है कि गृहस्थाश्रममें लडका छोड दिया परन्तु साधु होकर फिर तुमने चेला बनाया और वही माया फिर तुम्हारी बुद्धिको घेरे रही । यह माया उस लताकी भॉति है जो पहले बागमे देहसे उलझी और फिर बीचमे राहभर उलझी ही रही । किसी तरह छूटी नहीं । काम छोडा तो क्रोध न छूटा, क्रोध भी छोडा तो लोभ गले आ पडा इत्यादि । मन बैरागी समाई=वस्तुतः सच्चा वैराग्य वह है जहाँ मन वैराग्यवश मायाको छोड देता है । (फिर आदमी चाहे गृहस्थाश्रममें रहे या साधु हो जाय, कोई हर्ज नही)—जब मन ही माया छोड देता है तो सुरति शब्दमे समा जाती है अर्थात् वह स्मृतिशक्ति जिसे आरंभमें भगवानने जीवको अपनेमें अनुरक्त होनेके लिये दी थी परन्तु जिसे वह भ्रमवश ससारमे लगाकर भव-जालमें फँस गया था, मनके वैरागी होने पर ससारसे हटकर शब्दमें लग जाती है और फिर वह क्रमशः भगवान्‌की ओर उन्मुख होता है (तुलनीय आदि मगल—'प्रथम सुरति समरथ किया' इत्यादि) । आ० क्षितिमोहन सेनने इस पक्तिका अर्थ इस प्रकार किया है—मनने वैराग्य-वश माया तो छोडी पर शास्त्र-वाक्यमें उलझा रहा । यह गम=यह रहस्य ।

६

चदा झलकै यहि घटमाहीं । अधी ऑखन सूझै नाही ॥
यहि घट चदा यहि घट सूर । यहि घट गाजै अनहद तूर ॥
यहि घट बाजै तबल-निसान । बहिरा शब्द सुनै नहि कान ॥
जब लग मेरी मेरी करै । तब लग काज एकौ नहि सरै ॥
जब मेरी ममता मर जाय । तब लग प्रभु काज सँवारे आय ॥
ज्ञानके कारन करम कमाय । होय ज्ञान तब करम नसाय ॥
फल कारन फल बनगाय फल लागे पर फल सुखाय ॥
मृगा पास कस्तूरी बास । आप न खोजे खोजे घास (१-८२)

---

६ सीधा मतलब यह है कि इसी शरीरमे ही सभी ज्योतियाँ और सभी मगल-वाद्य वर्तमान है जो बाह्य जगतमे दिखते है। इसीमे वह विश्वव्यापी अनाहत ध्वनि भी सुनाई देती है। परन्तु जिसके भीतरकी ऑखे नहीं है वह इस ज्योतिको नहीं देख पाता। जब तक ममता बनी रहती है तब तक तो कोई काम नही निकलता पर ममताके नष्ट होते ही भगवान सहायता करते है और बिगड़ा काम बन जाता है। ज्ञान होनेपर कर्मका बन्धन नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार फलके आनेपर फूल सूख जाता है। पर जिस प्रकार फलके लिए ही वृक्ष फूलता है उसी प्रकार ज्ञानके लिए ही साधक कर्म किए जाता है। जिस प्रकार कस्तूरी-मृगके पास कस्तूरी रहती है लेकिन वह अपनेमे तो उसे खोजता नही, घासमे खोजता है, उसी प्रकार मनुष्यके भीतर ही परम सत्य वर्तमान है पर अज्ञानके कारण वह विषयोके पीछे पीछे भागता फिरता है। चन्द्र, सूर्य, अनाहदनाद आदि पारिभाषिक भी है। इनके अर्थके लिये पृ० ४६ और ८१-८३ देखिए। कबीरदास आदि निर्गुणमार्गी सन्त कहते थे कि जो कुछ ब्रह्माण्डमे है वही पिण्डमे है। घटका अर्थ पिण्ड या शरीर है। छपी पोथियोमे इस पदमे कुछ सधुभाषाकी उक्तियाँ भी हैं। 'जब मेरी ममता' आदि पक्तिके बाद ये पक्तियाँ है—

जब लगि सिंघ रहै बनमाहि। तब लगि यह बन फूलै नाहि ॥
उलट स्यार सिंहको खाय। तब वह बन फूलै हरियाय ॥

७

साधो, ब्रह्म अलख लखाया ।
जब आप आप दरसाया ।
बीज-मद्ध ज्यों बृच्छा दरसै, बृच्छा मद्धे छाया ॥
ज्यों नभ-मद्धे सुन्न देखिये, सुन्न अनन्त आकारा ।
नि.अच्छरते अच्छर तैसे, अच्छर छर बिस्तारा ॥
ज्यों रबि-मद्धे किरन देखिये, किरन मद्ध परकासा ।
परमातममें जीव ब्रह्म इमि, जीव-मद्ध तिमि स्वाँसा ॥
स्वाँसा-मद्धे शब्द देखिये, अर्थ शब्दके माहीं ।
ब्रह्मते जीव जीवते मन यों, न्यारा मिला सदा ही ॥
आपहि बृच्छ बीज अंकूरा, आप फूल-फल छाया ।
आपहि सूर किरन परकासा, आप ब्रह्म जिउ माया ॥
अनन्ताकार सुन्न नभ आपै, स्वाँस शब्द अरथाया ।
नि अच्छर अच्छर छर आपै, मन जीव ब्रह्म समाया ॥
आतममें परमातम दरसै परमातममें झाँई ।
झाँईमें परछाई दरसै, लखै कबीरा साँई ॥ (१-८९)

प्रसंगसे स्पष्ट है कि यहाँ सिंह ममता और स्यार ज्ञान है। पृ० ८३-८४ से स्पष्ट है कि सिंह आत्माको कहते हैं, यहाँ लक्षणासे अहंकार और ममत्व अर्थ है। स्यार अन्तःकरणका प्रतीक है। अन्तःकरणमें बुद्धि भी है जो ज्ञानका आश्रय है। इस प्रकार यहाँ भाव यह है कि जब तक इस मनमें अहंकाररूपी सिंह है तब तक वह सूखा रहता है, जब ज्ञानका उदय होता है और अहंकार नष्ट हो जाता है तो मन सफल होता है, अपना अभीष्ट पाता है। फूल और हरियाली जिस प्रकार वनमें ही रहती है उसी प्रकार परम प्राप्तव्य भी मनुष्यके भीतर ही है।

७ सम्भवतः यह पद कबीरदासका रचा हुआ नहीं है। पदका भाव यह है कि ब्रह्म ही इस जगतका एकमात्र कारण है और आत्मासे अभिन्न है।

८

इस घट अन्तर बाग-बगीचे, इसीमें सिरजनहारा।
इस घट अन्तर सात समुन्दर, इसीमें नौ लख तारा।
इस घट अन्तर पारस मोती, इसीमे परखनहारा।
इस घट अन्तर अनहद गरजै, इसीमे उठत फुहारा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, इसीमें साईं हमारा॥ (१-१०१)

बीजका ही परिणत रूप वृक्ष है ओर वृक्षको छोडकर छाया नहीं रह सकती, उसी प्रकार ब्रह्मका ही परिणतरूप यह जगत है और माया उससे अलग कोई सत्ता नहीं रखती। अलख अर्थात् इन्द्रियातीत, जिसे ऑख आदिसे देखा न जा सके। सुन्न=शून्य, यहॉ आकाशसे मतलब है। जिस प्रकार समस्त आकाश महाकाशमें ही वर्तमान हैं उसी प्रकार जो कुछ भी अनन्त प्रकारकी वस्तुएँ दिख रही हैं वह ब्रह्मका ही अग हैं। अच्छर=अक्षर=कूटस्थ जीवात्मा। वेदान्त मतमें अविद्यामे चेतनका आभास पड़ता है, उस अविद्याच्छन्न चेतनको कूटस्थ कहते हैं। कूटस्थ और जीवमें भेद यह है कि कूटस्थ अविद्यासे अवच्छिन्न सिर्फ चेतनमात्रको कहते हैं, जब यह चेतनके आभास और बुद्धिसे युक्त होता है तो इसे जीव कहते हैं। सुख-दुःखकी अनुभूति जीवको ही होती है। गीतामें भगवानने कहा है कि मैं क्षर और अक्षरसे अतीत हूॅ। इसपरसे पण्डित लोग अक्षर कूटस्थको मानते हैं और क्षर नाशमान जगतको। यहॉ नि अक्षरसे इसी क्षर और अक्षरसे अतीतका तात्पर्य जान पड़ता है। सूर्यमें जिस प्रकार किरण है और किरणमें प्रकाश है। क्यों कि किरण और प्रकाश अभिन्न हैं उसी प्रकार परमात्मामें जीव है और जीव तथा ब्रह्म अभिन्न हैं। जीवमे प्राण है, प्राणमें शब्द है और शब्दमें अर्थ (पदार्थ) हैं। इस प्रकार ब्रह्मसे लेकर अर्थ (पदार्थ, विषय—शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) सभी न्यारे भी हैं और मिले भी हैं। वृक्ष अंकुर आदि सब वही है। आतममें साई=आत्मामें ही परमात्मा है, परमात्मामें झाईं (=आभास) है क्योंकि परमात्मा या ईश्वर वस्तुत मायाच्छन्न चेतनका ही नाम है, आभासमें प्रतिबिम्बरूप समस्त जगत है। यह कबीर साईं (=स्वामी=देखनेमें समर्थ) देख रहे हैं। इस पदकी अत्यधिक वैदान्तिकता और कबीरके साथ प्रयुक्त 'साईं' शब्दसे इसकी प्रामाणिकतामें सन्देह होना है।

८ छठे पदके समान भाव है। जो कछु पिंडे सोइ ब्रह्मडे॥

९

ऐसा लो नहिं तैसा लो, मैं केहि विधि कथौं गँभीरा लो।
भीतर कहूँ तो जगमय लाजै, बाहर कहूँ तो झूठा लो॥
बाहर-भीतर सकल निरन्तर, चित्त-अचित दोउ पीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि परगट अगोचर, बातन कहा न जाई लो॥
(१-१०४)

१०

तोहिं मोरि लगन लगाये रे फकिरवा।
सोवत ही मैं अपने मन्दिरमें,
सब्दन मारि जगाये रे फकिरवा।
बूडत ही भवके सागरमें
बहियाँ पकरि समुझाये रे फकिरवा।
एकै बचन बचन नहिं दूजा
तुम मोसे बंद छुडाये रे फकिरवा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो,
प्रानन प्रान लगाये रे फकिरवा। (१-१२१)

---

९ व्याख्याके लिये पृ० १५९ देखिए। छपी पुस्तकोंमें अन्तिम पंक्तिका पाठ है—
बाहर भीतर सकल निरन्तर गुरु परतापैं दीठा लो।
यहाँ 'चित्त अचित लो' पाठ है जिसका भाव यह है कि चेतन और अचेतन दोनों उसकी दो पीठे हैं। दोनोंको वह व्याप्त करके वर्तमान है। किसी किसीने पीठका अर्थ पीढ़ा किया है अर्थात् भगवान चेतन और अचेतन दोनोंके अधिष्ठान हैं। दृष्टि न मुष्टि=जो न देखनेमें आवे न मुट्ठीमें पकड़नेमें आवे। परगट अगोचर=प्रत्यक्ष भी और अप्रत्यक्ष भी।

१० ऐ फकीर तूने ही मेरी लगन लगा दी। सोवत ही=सोती थी। सब्दन मारि=संगीतकी चोटसे (क्षि० मो० से०)। कई जगह टीकाकारोंने 'सब्द' का अर्थ कबीर साहबकी सार वाणी किया है। बूडत ही=डूबती थी। तुम मोसें

११

निस-दिन खेलत रही सखियन सँग,
मोहि बडा डर लागे ।
मोरे साहबकी ऊँचा अटरिया,
चढतमे जियरा काँपे ॥
जो सुख चहे तो लज्जा त्यागे,
पियासे हिलमिल लागे ॥
घूँघट खोल अंग भर भेटे,
नैन आरती साजे ॥
कहै कबीर सुनो सखि मोरी,
प्रेम होय सो जाने ।
निज प्रीतमकी आस नहीं है,
नाहक काजर पारे ॥ (१-१२१)

फकिरवा=तुमने मुझे बन्धन मुक्त किया । जो पारख पदको प्राप्त कर लेता है वही पारखी गुरु होता है और उसीको 'बन्दी छोड' कहते हैं । कबीरदास 'बंदी छोड' रूपमें सम्प्रदायमे प्रसिद्ध हैं । फकीरसे तात्पर्य गुरुसे है । यदि यह पद कबीरदासका हो तो फकीरका लक्षणार्थ परमात्मा ही हो सकता है ।

११ जियरा=जी, हृदय । स्पष्ट है । अन्तिम अंशका अर्थ है कि कबीर कहते हैं कि ऐ सखी, जिसमें प्रेम होता है वही प्रियको जानता है और उसे ही प्यार करता है । बाहरी साज-सिंगारसे क्या होता है । तू व्यर्थ काजल पार रही है (=शृंगारका आयोजन कर रही है ।) प्रिय-मिलनकी आशा न कर (क्यों कि तेरे भीतर प्रेम नहीं है) । भाव यह है कि बाहरी पूजा-पाठसे भगवान नहीं मिलते, भीतरका प्रेम चाहिए ।

१२

हंसा करो पुरातन बात ।
कौन देससे आया हसा, उतरना कौन घाट ।
कहॉ हसा बिसराम किया है, कहाँ लगाये आस ॥
अबही हसा चेत सबेरा, चलो हमारे साथ ।
ससय-सोक वहॉ नहिं व्यापै, नहीं कालकै त्रास ॥
हिऑ मदन-बन फूल रहे है, आवे सोह बास ।
मन भौरा जिहॅ अरुझ रहे है, सुखकी ना अभिलास ॥ (२–२४)

१३

अनगढिया देवा, कौन करै तेरी सेवा ।
गढे देवको सब कोई पूजै, नित ही लावै सेवा ।
पूरन ब्रह्म अखडित स्वामी, ताको न जानै भेवा ।
दस औतार निरजन कहिए, सो अपना ना होई ।
यह तो अपनी करनी भोगै, कर्ता और हि कोई ।
जोगी जती तपी सन्यासी, आप आपमे लडियॉ ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, राग लखै सो तरियॉ ॥ (२–३७)

---

१२ हंसा=विशुद्ध चैतन्य, जीवका वास्तविक सत्य (दे० अनु० १ और ६) पुरातन=पुरानी । ' संसय सोक त्रास 'में 'वहॉ' पद सत्य लोकका वाचक है । हिऑ=यहॉ=मर्त्यलोक । मदन बन=कामदेवका वन । सोऽहं=ब्रह्मके साथ जीवकी अभिन्नता जो ' हंसा'का भ्रम है । (दे० अनुच्छेद ५, ६)

१३ अनगढिया देवा=जो देवता मूर्तिरूपमे नहीं गढा जा सकता और जिसका आरम्भ नहीं है, रूपातीत अनादि । गढे देव=मूर्ति, अवतार, मूर्ति हाथसे और अवतार मनसे गढे गए हैं । निरजन=सगुण ब्रह्म, ईश्वर (दे० पृ० १०१) । राग लखै सो तरियाँ—जिसने प्रेमको देखा है वह तर गया, राग=प्रेम । छपी पोथियोंमें रागके स्थानपर राम पाठ है ।

१४

दरियावकी लहर दरियाव है जी
दरियाव और लहरमे भिन्न कोयम् ।
उठे तो नीर है बैठे तो नीर है
कहो जो दूसरा किस तरह होयम् ॥
उसीका फेरके नाम लहर धरा
लहरके कहे क्या नीर खोयम् ।
जक्त ही फेर जब जक्त परब्रह्ममे
ज्ञान कर देख माल गोयम् ॥ (२-५६)

१५

जहाँ खेलत बसन्त रितुराज
जहाँ अनहद बाजा बजै बाज ।
चहुँदिसि जोतिकी बहै धार
विरला जन कोइ उतरै पार ।
कोटि कृष्ण जहँ जोडे हाथ
कोटि विष्णु जहँ नावै माथ
कोटिन ब्रह्मा पढै पुरान
कोटि महेश धरैं जहँ ध्यान ।

---

१४ समुद्र और समुद्रकी तरगमे कोई भेद नहीं है, केवल नाम और रूपका भेद है । इसी प्रकार जगत ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही जगत् है । जक्त = जगत् । अभेदजन्य प्रेमके लिये दे० पृ० १४४ । माल गोयम् = परब्रह्ममें एक जगत्के बाद दूसरा जगत् इस प्रकार चल रहा है जैसे जपमालाके मनके, चलते हैं । छपी पोथीमें 'कबीर गोयम्' पाठ है जिसका अर्थ है 'कबीर कहते हैं ।'

१५ सत्यलोकका वर्णन है । जो कुछ ब्रह्माण्डमें है वह पिंडमें है । हमने पहले ही देखा है कि साधक सहजसमाधिके द्वारा सत्यलोकका भी आनद अपनेमें अनुभव कर सकता है । इस सत्यलोकमें नित्य वसन्त वर्तमान है, वह परम पुरुष

कोटि सरस्वती जहँ धरै राग
कोटि इन्द्र जहँ गगन लाग।
सुर-गधर्व-मुनि गनै न जायँ
जहँ साहब प्रगटे आय आय।
चोबा चन्दन और अबीर
पुहप-बास रस रह्यो गँभीर। (२-५७)

१६

जहँ चेत अचेत खभ दोउ मन रच्या है हिंडोर।
तहँ झूलै जीव जहान, जहँ कतहुँ नहिं थिर ठौर॥
और चन्द-सूर दोऊ झूलै नाहीं पावै अन्त।
चौरासी लच्छहु जिव झूलै झूलै रवि-ससि धाय।
कोटिन कल्प जुग बीतिया आनै न कबहुँ हाय।
धरनी अकासहु दोऊ झूलै झूलै पवनहुँ नीर।
धरि देह हरि आपहुँ झूलै जो लखहीं दास कबीर (२-५९)

नित्य ही जीवरूप प्रियाके साथ फाग खेल रहे हैं। छपी पोथियोंमें प्रथम पंक्तिका पाठ इस प्रकार है—

जहँ सतगुरु खेलत रितु बसत। परम जोत जहँ साधु सन्त॥
तीन लोकसे भिन्न राज। जहँ अनहद बाजा बजै बाज॥

इससे अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। यहाँ साधु सन्त ज्योतिरूपमें है क्योंकि सत्यलोकमें हंस देह केवल प्रकाश रूपमें रहती है। जहाँ अनहद बाजा बजता रहता है, प्रकाशकी ऐसी धारा बहती रहती है कि कठिनाईसे कोई इस धाराको पार कर सकता है। कोटि कोटि कृष्ण, विष्णु इंद्र, सरस्वती आदि जहाँ हाथ जोडे रहते हैं, वहाँ अन्य देवताओं मुनियों और गधर्वोंकी क्या गिनती हो सकती है! साहब=सत्यपुरुष, भगवान्। चोवा चदन और पुष्प बास तथा फाग खेलनेकी सामग्री है। फाग खेलना लाक्षणिक प्रयोग है। इसका लक्ष्यार्थ जीव और भगवान्का अनन्त प्रेम और मिलनजन्य आनद है। छपी पोथियोंमें दो तीन पंक्तियाँ और हैं पर वे महत्त्वकी नहीं हैं।

१६ माया-जालका वर्णन है। जहा मन चेतन और अचेतन (जड़ और

१७

(१) ग्रह चद्र तपन जोत बरत है
सुरत राग निरत तार बाजै।
नौबतिया घुरत है रैन दिन सुन्नमे
कहैं कबीर पिउ गगन गाजै॥
(२) क्षण और पलककी आरती कौनसी
रैन-दिन आरती विस्व गावे।
घुरत निस्सान तहँ गैबकी झाल्लरा
गैबकी घटका नाद आवे।

चेतन) के दो खभोपर हिंडोरा लगा कर झूल रहा है। छपी पोथियोंमें 'लोभ मोहके खभ दोउ' पाठ है जो स्पष्ट है। किन्तु छपे पाठसे यही पाठ उत्तम लगता है। जीव-जहान = जीव और जगत्। थिर ठार = स्थिर स्थान, स्थिरता। तीसरी पंक्तिके स्थानपर छपी पोथियोंमें इस प्रकार पाठ है—

चतुरा झूले चतुराइया ओ झूलैं राजा सेव।
औ चद सूर दोऊ झूलं नाहा पावै भेव।

इसमें सेव = सेवक, भेव = भेद, रहस्य।

चौरासी जिव=चौरासी लाख योनियोंमे भटकनेवाले जीव। आवे न कबहूँ हाय=कोटि कोटि कल्पसे झूल रहे हैं पर कभी मुँहसे 'हाय' नही कहते। धरि देह =स्वय विष्णु भी बार बार अवतार लेकर इसी चक्करमें पडे हुए हैं।

१७ इन पदोंमे सुरत (सुरति) और निरत (निरति) शब्द पारिभाषिक हैं। ज्ञानस्थितिबोध और सन्तोषबोध आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें इन शब्दोंकी जटिल व्याख्याएँ मिलती हैं। निरति जब सुरतिमें मिलती है और सुरति जब शब्दमें मिलती है तो हस देहकी प्राप्ति होती है। यह भी कहा गया है कि—

शब्द सुरति और निरति ये कहिबेको हैं तीन।
निरति लौटि सुरतिहि मिली, सुरति शब्दमें लीन॥

हमने अपनी नई पुस्तकमें इनके अर्थोंकी विस्तृत विवेचना की है। साधारणत: 'रति' प्रवृत्तिको कहते हैं। निरति बाहरी प्रवृत्तिकी निवृत्तिको और सुरति

(३) कहैं कबीर तहँ रैन-दिन आरती
जगतके तख्तपर जगत साई ॥
कर्म औ भर्म ससार सब करत है
पीवकी परख कोई प्रेमी जानै ॥
सुरत औ' निरत धार मनमे पकड कर
गग और जमनके घाट आनै ॥
नीर निर्मल तहॉ रैन-दिन झरत है
जनम औ' मरन तब अन्त पाई ॥

अन्तर्मुखी वृत्तिको कहते हैं। निरति वस्तुत. अभावात्मक वस्तु है और सुरति भावात्मक। आचार्य क्षितिमोहन सेनने सुरतिका अर्थ प्रेम और निरतिका वैराग्य किया है। जब बाह्यमुखी वृत्ति अन्तर्मुखी वृत्तिमे लीन होती है तो जीवको जीव और ब्रह्मके अभेदकी प्रतीति होती है। कबीरपथी लोग इसको अन्तिम अवस्था नहीं मानते क्योंकि यह भी भ्रम है। जब निरति अभेद प्रतीतिरूपी अहंभावसे मुक्त होकर शब्दमें लीन होती है तभी जीव अपने सच्चे रूपमे स्थित होता है। इस जगत्को अन्त.करण और बाह्यकरणोके द्वारा ही अनुभव किया जाता है। इसी लिये यह सुरति और निरतिके ताने-बानेसे बना है। निरति निवृत्तिरूपा होनेके कारण स्थूल है और सुरति अन्तर्मुखी होनेके कारण सूक्ष्म। इसी लिये इस पदके आरम्भमे ही सुरतिको राग और निरतिको वीणाका तार कहा गया है।

(१) तपन=सूर्य। बरत है=जलते हैं। नौबतिया =शून्यमे नौबत बजती रहती है। पिउ . =प्रिय ऐसे शून्यमे विराजमान हैं। छपी पोथियोके पाठसे इन पदोंमे बडा अन्तर है (देखिए शब्दा० ९६ और आगे) जहॉ आवश्यक है वही पाठान्तरोकी चर्चा इस टिप्पणीमें कर दी गई है, सर्वत्र नही।

(२) क्षण गावै=क्षण भर या पल भरकी आरती वहॉ नही होती, सारा ससार दिन-रात आरती उतारता रहता है। घुरत =निशान बजता है, गैब=विचित्र, अद्भुत। झालरा=झालर, झिलमिल ज्योति।

(३) पीवकी परख=प्रियकी पहचान, प्रियसे सर्वत्र भगवान्का तात्पर्य है। सुरत...आनै=अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवृत्तियोंको मनमें लीन करके इडा

(४) देख वोजूदमें अजब बिसराम है
होय मौजूद तो सही पावै।
सुरतकी डोर सुख-सिंधका झूलना
घोरकी सोर तँह नाद गावै।
नीर-बिन कँवल तहँ देख अति फूलिया
कहै कबीर मन भँवर छावै।

और पिंगला नाड़ियोंके मार्गमें उन्हें ले आवे अर्थात् समाधिके लिये उद्बुद्ध करे। गंगा=इड़ा। यमुना=पिंगला। वहाँ निर्मल नीर झरता है अर्थात् विशुद्ध ज्ञान-धारा बह रही है। छपी पोथियोंके पाठसे यह भाव अधिक स्पष्ट होता है और पदमें तुक भी मिलती है—

कर्म और भर्म समार सब करतु है पीवकी परख कोई सन्त जानै।
सुरत और निरत मन पवनको पकरि करि गंग और जमुनके घाट आनै।
पाँचको नाथ करि साथ सोह लिया अधर दरियावका सुक्ख मानै॥
कहैं कबीर सोई मन निर्भय धरा जन्म औ मर्नका भर्म भानै।

इसमें पाँचको नाथनेसे ज्ञानेंद्रियोंको वशमें करनेका भाव है। उन्हें भी साथ ले लेनेका निर्देश है। अधर दरियाव=शून्यमें स्थित समुद्र (आनंदका सागर)। भानै=बता सकता है या तोड़ (भग कर) सकता है।

(४) वोजूद (अरबी वुजूद=सत्ता) अस्तित्व। देख,, =उस परम सत्ता (परमात्मा) में अद्भुत विश्राम मिलता है। मौजूद=परमात्माकी निकटताकी अनुभूति। इस पक्तिके बाद छपी पोथियोंमें यह पक्ति है जो अर्थको स्पष्ट करती है—

फेर मन पवनको घेर उलटा चढ़ै
पाँच पच्चीसकों उलटि लावै।

भाव ऊपरके पदके समान ही है अर्थात् मन और पवनको जगत्की ओर जानेसे रोक कर उलटा चलावे—समाधिकी ओर ले जाय और पाँच (ज्ञानेंद्रिय) पच्चीस (तत्त्वों) को अन्तर्मुख करे। सुरति अर्थात अन्तर्मुखी वृत्ति (भगवत्प्रवृत्ति) की डोरी-पर सुख-समुद्र (=परम आनंद) का झूला लगावे। नाद

(५) चक्रके बीजमे कॅवल अति फूलिया तासुका सुक्ख कोइ सन्त जानै ।
शब्दकी घोर चहुँ ओर तहॅ होत है असीम समुदरकी सुक्ख मानै ।
कहै कबीर यो डूब सुख सिंधमे जन्म ओर मरनका भर्म भानै ।

(६) पॉचकी प्यास तहॅ देख पूरी भई तीनकी ताप तहॅ लगै नाही ।
कहै कबीर यह अगमका खेल है गैबका चॉदना देख माही ।
जनम-मरन जहॉ तारी परत है होत आनद तहॅ गगन गाजै ।
उठत झनकार तहॅ नाद अनहद घुरै तिरलोक-महलके प्रेम बाजै ।

(७) चन्द्र-तपन कोटि दीप बरत हैं तूर बाजै तहॉ सन्त झूलै ।
प्यार झनकार तहॅ नूर बरसत रहै रस पीवै तहॅ भक्त झूलै ।

(शब्द) वहाँ मेघकी भॉति गरजता रहता है और बिना पानीके ही उस समाधिमें कमल खिला दिखता है, मन-रूपी भँवर उसपर छा जाता है ।

विशेष—' वज्द ', ' वुजूद ' और ' मौजूद ' सूफी साधकोंके पारमार्थिक शब्द हैं। ' वज्द ' उल्लासमयी मत्तावस्थाको कहते हैं। सूफी साधनामें यह साधकके आरुरक्षुभावकी पॉचवीं अवस्थाका नाम है। इस अवस्थामें साधकके चित्तमें उल्लासजन्य मत्तताका भाव आता है। इसके बाद जो अवस्था शुरू होती है उसे ' वुजूद ' या स्थितिरूपा सत्ता कहते हैं। इसमें साधकका चित्त निर्द्वन्द होकर अपनेमें आप ही स्थिति पा जाता है। इसके बाद वाली अवस्थाका नाम ' मौजूद ' है जिसमे साधक परमात्माका सान्निध्य अनुभव करता है और अपनेको परमसत्तामें स्थित पाता है।

(५) भाव ऊपरके समान ही है।

(६) पॉचकी प्यास=विषयोंका सुख (ज्ञानेन्द्रियोंके पांच विषय हैं—शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंध), तीनकी ताप=आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःख, दुःखत्रय। जनम परत है=जन्म और मरणकी वहॉ ताली बजती रहती है। उठत. बाजै=अनाहत ध्वनिकी झनकार अनुभूत होती रहती है। तिरलोक . त्रिलोक धामका प्रेम वहाँ बज उठा है—(क्षि० मो० से०)। छपी पोथियोंमें ' त्रिकुटी-महल ' पाठ है।

(७) स्पष्ट है। देखिए ऊपर न० १ की व्याख्या।

(८) जनम-मरन बीच देख अन्तर नहीं
दच्छ और बाम यू एक आही।
कहे कबीर या सैन गूगातई
वेद कत्तेबकी गम्म नाही॥

(९) अधर आसन किया अगम प्याला पिया
जोगकी मूल जग जुगुति पाई।
पथ बिन जाय चल सहर बेगमपुरे
दया जगदेवकी सहज आई।
ध्यान धर देखिया नैन-बिन पेखिया
अगम अगाध सब कहत गाई।
सहर बेगमपुरा गम्मको ना लहै।
होय बेगम्म जो गम्म पावै।
गुनाकी गम्म ना अजब बिसराम है
सैन जो लखै सोइ सैन गावै।

---

(८) दच्छ और बाम=जिस प्रकार दाहिना और बायाँ एक ही वस्तुके दो पहलू हैं उसी प्रकार जन्म और मरण भी एक ही सत्ताके दो पहलू हैं। सेन नाहीं=गूगा जिस प्रकार इशारेसे ही कुछ बता सकता है, कहकर नहीं, उसी प्रकार यह रहस्य वचनसे नहीं समझाया जा सकता। वेद और कत्तेब (कुरान) शब्दमय हैं इसलिए उनकी गम्म (पहुँच) वहाँ तक नहीं है।

(९) शून्यके आसनपर (समाधिकी अवस्थामें आत्मा शून्य या सहस्रारमें रहता है) बैठकर साधनके अगम (रहस्यातीत) रसका प्याला पिया और वह योगकी इस मूल युक्तिको पा गया है। वह बे-गमपुर शहर अर्थात् जिस शहरमें कोई गम नहीं है, केवल आनन्द ही आनन्द है, उसमें बिना किसी पन्थ (सम्प्रदाय-विहित उपासनामार्ग) के पहुँच जाता है। क्यों कि उसे जगदेव जगदीश्वरकी दया सहज ही मिल जाती है। वहाँ ध्यानके द्वारा वह बिना आँखोंकी सहायताके ही उस वस्तुको देखता है जिसे अगम और अगाध कहा गया है

(१०) मुक्ख बानी तिको स्वाद कैसे कहै
स्वाद पावै सोइ सुक्ख मानै।
कहै कबीर या सैन गूगालई
होय गूगा जोई सैन जानै।

(११) छक्याँ अवधूत मस्तान माता रहै
ज्ञान-वैराग्य सुधि लिया पूरा।
स्वाँस-उस्वाँसका प्रेम प्याला पिया
गगन गरजै तहाँ बजै तूरा॥

(१२) बिन कर ताँतिया नाद गाता रहै
जतन जरना लिया सदा खेलै।
कहैं कबीर प्रान प्रान-सिंधमें मिलावै
परम सुखधाम तहँ प्रान मेलै॥

(१३) आठहू पहर मतवाल लागी रहै
आठहू पहरकी छाक पीवै।
आठहू पहर मस्तान माता रहै
ब्रह्मके देहमे भक्त जीवै।

(१४) साँच ही कहत और साँच ही गहत है
काँचकूँ त्यागकर साँच लागा।

इस बे-गमपुर शहर तक पहुँच पाना कठिन है। वही पहुँच पाता है जो बे गम हो जाता है, निर्द्वन्द्व हो जाता है।

(१०) मुक्ख=मूर्ख। तिको=उसका। गूगेका सैनके लिये देखिए ऊपर (८)

(११) बिन. रहै=विना हाथके और विना ताँत (तन्त्री=वीणा) के ही वहाँ नाद गाया करता है (राग बजाया करता है)।

(१३) आठहू पहरकी (व्याख्या और छपे पाठके लिये दे० पृ० १८०)

कहैं कबीर यू भक्त निर्भय हुआ
जन्म और मरनका भर्म भागा।

(१५) गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै
होत झनकार नित बजत तूरा।
गगनके भवनमे गैबका चाँदना
उदय और अस्तका नाँव नाहीं।
दिवस और रैन तहँ नेक नहिं पाइये
प्रेम, परकासके सिंधमाहीं॥

(१६) सदा आनद दुग-दन्द व्यापै नहीं
पूरनानद भरपूर देखा।
भर्म और भ्राति तहँ नेक नहिं पाइये
कहै कबीर रस एक पेखा॥

(१७) खेल ब्रह्माण्डका पिंडमें देखिया
जगतकी भरमना दूर भागी।
बाहरा-भीतरा एक आकासवत
धरियामे अधर भरपूर लागी॥

(१८) देख दीदार मस्तान मैं होय रह्या
सकल भरपूर हैं नूर तेरा।
ज्ञानका थाल और प्रेम दीपक अहै
अधर आसन किया अगम डेरा।

---

(१५) और (१६) छपी पोथियोंका पाठ पृ० १५७ पर देखिए।

(१७) *ब्रह्माण्डमें जो लीला है वही पिण्डमे भी। धरियामें अधर=सीमामे असीम।*

(१८) देख . तेरा=तेरा दर्शन पाकर मैं मस्त बन गया हूँ। तेरी ही ज्योति (नूर) सर्वत्र व्याप्त है। ज्ञानका . =ज्ञानकी थालीमें प्रेमकी बत्ती जलाई है, *शून्यके आसनपर अगम्यको डेरा बनाया है।* दे० ऊपर (९)

कहैं कबीर तहँ भर्म भासै नहीं
जनम और मरनका मिटा फेरा ॥ २–६१)

१८

मद्ध अकास आप जहँ बैठे, जोत सब्द उजियारा हो।
सेत सरूप राग जहँ फूलै, साईं करत बिहारा हो।
कोटिन चन्द-सूर छिप जैहैं, एक रोम उजियारा हो।
वही पार एक नगर बसतु है, बरसत अंमृत-धारा हो।
कहैं कबीर सुनो धमदासा, लखो पुरुष द्ररबारा हो। (२–७७)

१९

परमातम गुरु निकट विराजैं
जाग जाग मन मेरे।
धायके पीतम चरनन लागै
साईं खड़ा सिर तेरे।
जुगन जुगन तोंहिं सोबत बीता
अजहु न जाग सबेरे। (२–२०)

२०

मन, तू पार उतर कहँ जैहौ।
आगे पंथी पंथ न कोई, कूच-मुकाम न पैहौ।

---

१८ आप = स्वयं भगवान्। जोत सब्द उजियारा = प्रकाशरूप शब्दका उजेला—अविरत चलनेवाले शब्द (संगीत, राग) का प्रकाश। सेतसरूप राग = उज्ज्वल संगीत।

१९ परमातम गुरु = परमात्मारूप गुरु।

२० गुन = नाव खींचनेकी रस्सी। सुन्नमें = शून्यमें सुधि या खोज। पदका भाव यह है कि जीवात्मा अपनेको ही ब्रह्म मान लेता है तो वह अभेदजन्य

नहिं तहँ नीर, नाव नहिं खेवट, ना गुन खैंचनहारा।
धरनी-गगन-कल्प कछु नाहीं, ना कछु वार न पारा।
नहिं तन, नहिं मन, नहीं अपनपौ सुन्नमें सुद्ध न पैहौ।
बलीवान होय पैठो घटमे, वाहीं ठौरें होइहौ।
बार हि बार बिचार देख मन, अंत कहूँ मत जैहौ।
कहै कबीर सब छाडि कलपना, ज्योंके त्यों ठहरैहौ (२-२२)

२१

घर घर दीपक बरै, लखै नाहि अन्ध है।
लखत लखत लखि परै, कटै जम फन्द है।
कहन-सुनन कछु नाहि, नहीं कछु करन है॥
जीते जी मरि रहै, बहुरि नहि मरन है॥
जोगी पडे बियोग, कहै घर दूर है।
पासहि बसत हजूर, तू चढत खजूर है॥
बाम्हन दिच्छा देत घर घर घालि है।
मूर सजीवन पास, तू पाहन पालि है॥
ऐसन साहब कबीर सलोना आप है।
नहीं जोग नहीं जाप पुन्न नहीं पाप है॥ (२-२३)

भ्रान्तिका शिकार हो जाता है। अपनी कल्पनासे ही वह अपनेको शून्यस्वरूप समझने लगता है और उसमें अपने रूपको ही नहीं खोज पाता। (दे० अनुच्छेद ४) कबीरदास कहते है कि सब कल्पना छोडो तभी अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थिर होगे।

२१ घर घर दीपक =प्रत्येक घरमें दीपक जलता है अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिके भीतर भगवान्‌की ज्योति है। लखत देखनेव। अभ्यास करनेसे वह दिखाई देता है। जीतेजी =जो जीते ही जी मर गया—इच्छा द्वेषसे परे हो

२२

साधो, सो सतगुरु मोंहि भावै ।
सत्त प्रेमका भर भर प्याला, आप पिवै मोंहि प्यावै ।
परदा दूर करै आँखिनका, ब्रह्म दरस दिखलावै ।
जिस दरसनमें सब लोक दरसै, अनहद सब्द सुनावै ।
एकहि सब सुख-दुख दिखलावै, सब्दमे सुरत समावै ।
कहै कबीर ताको भय नाहीं, निर्भय पद परसावै । (२-३८)

२३

तिंविर साँझका गहिरा आवै, छावै प्रेम मन-तनमें ।
पच्छिम दिसकी खिडकी खोलो, डूबहु प्रेम-गगनमे ।
चेत-कँवल-दल रस पीयो रे, लहर लेहु या तनमे ।
सख घंट सहनाई बाजे, सोभा-सिंध महलमे ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर साहब लख घटमे । (२-४०)

गया ।—वह फिर नहीं मरनेका । जोगी =योगी भगवान्‌को न पाकर वियोगमें पड़े रहते हैं और घरको—अपने लक्ष्यको—दूर बताते हैं । पास ही भगवान् हैं—क्यों कि वे अग अगमें व्याप्त हैं तो भी खजूरपर चढ़ते हैं अर्थात् समाधि लगाते हैं । दिच्छा=दीक्षा, शिष्यको मंत्र देना । घालि है=चौपट करेगा । मूर सजीवन=सजीवनी बूटी । पाहन=पत्थर=मूर्ति, शालिग्राम आदि । ऐसन =कबीरका साहब ऐसा सलोना (सुन्दर) है कि उसे पानेके लिये न जोगकी न जापकी न पुण्यकी न पापकी ही जरूरत है, वह सहज ही मिलता है (दे० पृ० १५१) ।

२२ सत्त प्रेम=वास्तविक प्रम । सब्दमें सुरत=देखिए १७ वें पदकी व्याख्या ।

२३ तिंविर=अधकार । सायकालका अधकार पश्चिम दिगन्तकी ओरसे गहरा होता आ रहा है, पश्चिमकी खिड़की खोल दो, प्रेमके आकाशमें अपनेको डुबा दो । सायंकाल प्रिय समागमकी तैयारीका समय है । पिंडमें 'पश्चिम' का अर्थ है पीठकी ओर-सुषुम्ना मार्ग । भक्तरूपी प्रेयसीका तन और

२४

जिससे रहनि अपार जगतमें, सो प्रीतम मुझे पियारा हो।
जैसे पुरइनि रहि जल भीतर, जलहिमे करत पसारा हो।
वाके पानी पत्र न लागै, ढलकि चलै जस पारा हो।
जैसे सती चढे अगिनपर, प्रेम-वचन ना टारा हो।
आप जरै औरनिको जारै, राखै प्रेम-मरजादा हो।
भवसागर इक नदी अगम है, अहद अगाह धारा हो।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, विरले उतरे पारा हो। (२-४८)

२५

हरिने अपना आप छिपाया।
हरिने नफीज कर दिखराया॥
हरिने मुझे कठिन बिच घेरी।
हरिने दुबिधा काटी मेरी॥

मन रोमांच और औत्सुक्यसे भर गया है–छावै प्रेम मन तनमें। चित्तरूपी कमल-दलका रस पान करो। –मनहीमें उस परम सुखका साक्षात्कार करो। शरीरमें प्रेमकी लहरें तरंगित हों। शोभाका समुद्र जो यह महल है–अन्तःकरण है–वहाँ मिलनका सूचक शंख घण्टा और शहनाई आदि बाजे बज रहे हैं। कबीरदास कहते है कि ऐ साधु, तू अमर साहबको–अक्षय सुहाग देनेवाले स्वामीको अपने भीतर ही देख।

सायंकालका अँधेरा अनेक सन्तोंके काव्यमें बुढापेका प्रतीक है। किन्तु इस पदमें यह प्रियसमागम-कालका प्रतीक है। पिंडमें इसका योगपरक अर्थ इस प्रकार होगा—सुषुम्ना मार्ग खोल दो और इस प्रकार गगन (शून्य, सहस्रार) में समाधिजन्य प्रेमका अनुभव करो। इस समाधिकालमें शंख घण्टा काहल आदिकी ध्वनि पहले सुनाई देती है फिर वह उपरत हो जाती है और साधक परम-ज्योतिकी अपूर्व शोभा देखता है और परमात्माको घटमें ही प्राप्त करता है।

२४ रहनि अपार = अनन्त कालके लिये रहना, शाश्वत स्थिति। पुरइनि = कमलका पत्ता जिस परसे पानी पाराकी तरह ढरक जाता है। कमलपत्रकी उपमा उन लोगोंके लिये दी जाती है जो संसारमें रहकर भी संसारके मोहमें नहीं फँसते।

२५ हरिने = भगवान्‌ने अपने आपको छिपा रखा है। नफीज=नफीस, सुंदर।

हरिने सुख-दुख बतलाये ।
हरिने सब दुद मिटाये ॥
ऐसे हरिपै तन-मन वारूँ,
प्राणहि तजूँ हरि नहीं बिसारूँ ॥ (१–४५)

२६

ओंकार सबै कोई सिरजै, रागस्वरूपी अंग ।
निराकार निर्गुन अविनासी, कर वाहीको संग ॥
नाम निरंजन नैनन-मद्धे, नाना रूप धरंत ।
निरकार निर्गुन अबिनासी, अपार अथाह अंग ॥
महासुक्ख मगन होई नाचै, उपजै अंग तरंग ।
मन और तन थिर न रहतु है, महा सुक्खके संग ॥
सब चेतन सब अनन्द सब है दुःख गहन्त ।
कहाँ आदि कहँ अन्त आप सुक्ख बिच धरत ॥ (९–७९)

२७

सतगुरु सोइ दया करि दीन्हा ।
तातें अन-चिन्हार मैं चीन्हा ॥
बिन पग चलना बिन पर उडना, बिना चूँचका चुगना ।
बिन नैननका देखन-पेखन, बिन सरवनका सुनना ।
चंद न सूर दिवस नहिं रजनी, तहाँ सुरत लौ लाई ।
बिना अन्न अमृत-रस-भोजन, बिन जल तृषा बुझाई ।

---

२६ ओंकार जो सबकी सृष्टि करता है भगवान्‌का रागरूपी—शब्दरूपी अंग है। नाम ... धरत=यद्यपि उनका नाम निरंजन है तथापि वे नानारूप धारण करते रहते हैं। महासुक्ख ... संग=महा आनन्दमें मग्न होकर वे नाच रहे हैं। उनके मिलनरूपी महासुखके साथ मन और तन स्थिर नहीं रहते। आप .. धरत=वे स्वयं अपने आनन्दके भीतरसे ही धारण किए हुए हैं।

२७ अनचिन्हार=अपरिचित। चूँच=चोंच। सुरत लौ=अन्तर्मुखी समाधि।

जहाँ हरस तहँ पूरन सुख है, यह सुख कासौं कहना।
कहै कबीर बल बल सतगुरुकी, धन्न सिप्यका लहना। (२-८१)

२८

निरगुन आगे सरगुन नाचै,
बाजै सोहँग तूरा।
चेलाके पावँ गुरूजी लागै,
यही अचम्भा पूरा॥ (२-८५)

२९

प्रश्न

कबीर, कबसे भये बैरागी।
तुम्हरी सुरति कहाँको लागी॥

उत्तर

बइचित्राका मेला नाहीं, नहीं गुरू नहीं चेला।
सकल पसारा जिन दिन नाहीं, जिहि दिन पुरुष अकेला॥
गोरख, हम तबके अहैं बैरागी।
हमरी सुरति ब्रह्मसो लागी।

कहै लहना=बलिहारी है उस सत्यगुरुकी और धन्य है उस शिष्यका ऐसे गुरुको पाना।

२८ निर्गुणके आगे सगुण नाच रहे हैं और सोऽहका तूर्य बज रहा है। सोऽहं=‘वह मैं ही हूँ’ ऐसी अभेदकी प्रतीति। यहाँ वह निर्गुण ब्रह्म है और मैं जीव है। जीवका अहकार ही उसे ब्रह्मके साथ एक अनुभव कराता है, ऐसा कबीरपन्थी मत है (दे० अनु० ४)। यह ऐसा हुआ मानों गुरु (परब्रह्म) चेला (जीव) के पैरों पडते हैं। क्योंकि सोऽहंमें सः (=वह=ब्रह्म) दूरका होनेसे अप्रधान होता है और अह (=मैं=जीव) निकटका होनेसे प्रधान।

२९ बइचित्रा=वैचित्र्य, नानात्व, एकका अनेक होना। ब्रह्मा टीका= ब्रह्माने सब सृष्टि रचनाका अधिकार नहीं पाया था और विष्णुने भी पालन

ब्रह्मा नाहि जब टोपी दीन्ही, बिस्नु नहीं जब टीका ।
सिव-शक्तीके जनमै नाहीं, तबै जोग हम सीखा ॥
कासीमें हम प्रगट भये है, रामानद चेताये ।
प्यास अहदकी साथ हम लाये, मिलन-करनको आये ॥
सहजे सहजे मेला होइगा, जागी भक्ति उतगा ।
कहै कबीर सुनो हो गोरख, चलो गीतके सगा ॥ (२-८७)

३०

या तरिवरमे एक पखेरू, भोग सरस वह डोलै रे ।
वाकी सत्र लखैं नहिं कोई, कौन भावसो बोलै रे ।
दुर्म्म-डार तहँ अति घन छाया, पछी बसेरा लेई रे ।
आवै साँझ उडि जाय सबेरा, मरम न काहू देई रे ।
सो पछी मोहि कोइ न बतावै, जो बोले घटमाँही रे ।
अबरन-बरन रूप नाहिं रेखा, बैठा प्रेमके छाँही रे ।
अगम अपार निरन्तर बासा, आवत-जात न दीसा रे ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह कुछ अगम कहानी रे ।
या पछीके कौन ठौर है, बूझो पडित ज्ञानी रे । (२-९९)

करनेका अधिकार नहीं पाया था । टोपी देना = राज्य पाना । टीका लेना = सिहासनपर अभिषिक्त होना । प्यास अहदकी = असीमको पानेकी तृष्णा । उतंगा = ऊँची । गीत = शब्द . राग । यह पद गोरखनाथ और कबीरके सवादके रूपमे लिखा गया है और परवर्ती जान पडता है । इसका भाव है कि आत्मा ब्रह्मा विष्णु और शिवके सृष्टि होनेके पूर्व भी विद्यमान था । इस भावके दोहे क ग्र में भी मिलते हैं (दे० पद ११७)

३० इस पदके पखेरू और पछी (पक्षी) शब्द जीवात्मा (हंस) के वाचक हैं । भोग रे=सरस सभोगके रससे मस्त होकर वह झूम रहा है । संघ=सधान, खोज, परिचय । दुर्म्म=द्रुम, पेड, यहाँ मनुष्यके शरीरसे मतलब है । मरम...रे=किसीको अपना मर्म (रहस्य) नहीं जानने देता ।

३१

निस-दिन सालै घाव, नींद आवै नहीं।
पिया-मिलनकी आस, नैहर भावै नहीं॥
खुल गये गगन-किवाड, मन्दिर उजियार भयो।
भयो है पुरुषसे भेट तन-मन वार दयो॥ (२-१००)

३२

नाचु रे मेरे मन मत्त होय।
प्रेमको राग बजाय रैन-दिन शब्द सुनै सब कोइ।
राहु-केतु नवग्रह नाचै जन्म जन्म आनद होइ।
गिरी-समुन्दर धरती नाचै, लोक नाचै हँस-रोइ।
छापा-तिलक लगाइ बाँस चढ, हो रहा जगसे न्यारा।
सहस कला कर मन मेरो नाचै, रीझै सिरजनहारा॥ (२-१०३)

३३

मन मस्त हुआ तब क्यो बोले।
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार बार वाको क्यो खोले।

---

३१ गगन किवाड=शून्यका दरवाजा, यान साधनाक पक्षम समाधि।

३२ भाव यह है कि सृष्टिके आनन्दसे समस्त चराचर ब्रह्माण्ड नाच रहा है, ग्रह-तारिकाएँ, पहाड़-समुद्र सब उल्लासके साथ नाच रहे हैं। हँसकर या रोकर सारा लोक ही नाच रहा है। फिर, ऐ मेरे मन, क्यों न मेरे साथ तू भी मत्त होकर नाचे? नाचना तो पड़ेगा ही, फिर प्रसन्न होकर आनन्दका नृत्य कर। छापा-तिलक लगानेवाले अपनेको दुनियासे विशेष समझते हैं। उनका अपनेको अलग समझना वैसा ही उपहासास्पद है जैसा धरती पहाड़को नाचते देख कोई आदमी धरतीमें बाँस गाड़कर ऊपर जा बैठे और समझ ले कि वह इस विकट नृत्यसे छुटकारा पा गया। मेरा मन सहस्रकलापर नाच रहा है और इस नाचसे सिरजनहार रीझ रहा है, क्यो कि उसने लीलाहीके लिये तो सब कुछ सिरजा है।

३३ इस पदके भीतरी अर्थके लिए पृ० २१४-२१५ देखिए। सुरत-कलारी

हलकी थी तब चढी तराजू, पूरी भई तब क्यो तोले ।
सुरत-कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले ॥
हंसा पाये मानसरोवर, ताल तलैया क्यो डोले ।
तेरा साहब है घरमाहीं, बाहर नैना क्यो खोले ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिल गये तिल ओले ॥
(२-१०५)

३४

मोहि तोहि लागी कैसे छूटे ।
जैसे कमलपत्र जल बासा,
ऐसे तुम साहिब हम दासा ॥
जैसे चकोर तकत निस चंदा,
ऐसे तुम साहिब हम बंदा ॥
मोहि तोहि आदि-अन्त बन आई,
अब कैसे लगन दुराई ॥
कहै कबीर हमरा मन लागा,
जैसे सरिता सिंध समाई ॥ (२-११०)

३५

बालम, आवो हमारे गेह रे ।
तुम बिन दुखिया देह रे ।
सब कोई कहे तुम्हारी नारी, मोकों लागत लाज रे ।
दिलसे नहीं दिल लगाया, तब लग कैसा सनेह रे ।
अन्न न भावै नींद न आवै, गृह-बन धरै न धीर रे ।
कामिनको है बालम प्यारा, ज्यो प्यासेको नीर रे ।

• तोले=सुरतिरूपी कलारी (मद्य बेचनवाली) ने मत्त होकर बिना तौले ही बहुत पी लिया । तिल ओले=तिलकी ओटमें ।

है कोई ऐसा पर-उपकारी, पिवसो कहै सुनाय रे।
अब तो बेहाल कबीर भयो है, बिन देखे जिव जाय रे॥ (२-११३)

३६

जाग पियारी अब का सोवै।
रैन गई दिन काहेको खोवै॥
जिन जागा तिन मानिक पाया।
तै बोरी सब सोय गँवाया।
पिये तेरे चतुर तू मूरख नारी।
कबहुँ न पियकी सेज सँवारी॥
ते बोरी बौरापन कीन्ही।
भर-जोबन पिय अपन न चीन्ही॥
जाग देख पिय सेज न तेरे।
तोहि छाँडि उठि गये सबेरे॥
कहै कबीर सोई धुन जागै।
शब्द-बान उर-अन्तर लागै॥ (२-१२६)

३७

(१) सूर-परकास, तहँ रैन कहँ पाइये
रैन परकास नहि सूर भासै।
ज्ञान-परकास अज्ञान कहँ पाइये
होय अज्ञान तहँ ज्ञान नासै।
काम बलवान तहँ प्रेम कहँ पाइये
प्रेम जहाँ होय तहँ काम नाहीं।

---

३७ (१) जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश होनेमे रात नहीं रहती और रात जहाँ होती है वहाँ सूर्यका प्रकाश नहीं रहता, उसी प्रकार जहाँ ज्ञानका प्रकाश होता है वहाँ अज्ञान नहीं रहता और अज्ञान जहाँ रहता है वहाँ ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ काम बलवान् है वहाँ प्रेम नहीं और जहाँ प्रेम

कहै कबीर यह सत्त विचार है
समझ विचार कर देख मॉही ।
(२) पकड समसेर सग्राममै पैसिये
देह-परजन्त कर जुद्ध भाई ।
काट सिर बैरियॉ दाब जहॅका तहॉं
आय दरबारमे सीस नवाई ॥
(३) सूर सग्रामको देख भागै नहीं,
देख भागै सोई सूर नाही ।
काम और क्रोध मद लोभसे जूझना,
मचा घमसान तन-खेत मॉहीं ।
सील और सॉच सन्तोप साही भये,
नाम समसेर तहॉं खूब बाजे ।
कहै कबीर कोइ जूझिहै सूरमा
कायरॉं भोड तहॅ तुर्त भाजे ॥
(४) साधको खेल तो बिकट बेंडा मती
सती और सूरकी चाल आगे ।
सूर घमसान है पलक दो चारका
सती घमसान पल एक लागै ।
साध सग्राम है रैन-दिन जूझना
देह परजन्तका काम भाई ॥ (१–३४)

बलवान् होता है वहॉ काम नही रहता । ज्ञान और अज्ञानका तथा प्रेम और कामका सम्बन्ध प्रकाश और अन्धकारके सम्बन्धके समान है ।

(२) समसेर=तलवार । (दे० पृ० १६०)

(३) शूर युद्धसे भागता नहीं और जो भागता है वह शूर नही । तनरूपी खेत (मैदान) में काम-क्रोध आदि शत्रुओंसे घमासान मची हुई है । साही=साथी ।

(४) दे० पृ० १९० । बिकट बेंडा=अत्यन्त कठिन ।

३८

भ्रमका ताला लगा महल रे, प्रेमकी कुंजी लगाव ।
कपट-किवडिया खोलके रे, यहि विधि पियको जगाव ॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, फिर न लगै अस दाव ॥ (१–५०)

३९

साधो, यह तन ठाठ तँबूरेका ।
ऐंचत तार मरोरत खूँटी, निकसत राग हजूरेका ॥
टूटे तार बिखर गई खूँटी, हो गया धूरम-धूरेका ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अगम पंथ कोई सूरेका ॥ (१–९९)

४०

अवधू, भूलेको घर लावै ।
सो जन हमको भावै ॥
घरमें जोग भोग घरहीमे, घर तज बन नहिं जावै ।
घरमें जुक्त मुक्त घरहीमे, जो गुरु अलख लखावै ।
सहज सुन्नमे रहै समाना, सहज समाधि लगावै ।
उन्मुनि रहै ब्रह्मको चीन्हे, परम तत्वको ध्यावै ।

---

३९ यह शरीर तम्बूरेका तार है । ऐंचत . का=जिस प्रकार तम्बूरेकी खूटियाँ मरोडनेसे और तार खींचनेसे सुन्दर ध्वनि निकलती है उसी प्रकार इन्द्रिय-दमन और मनके सयमसे भगवानका राग इसमेसे प्रकट होता है। रागमें श्लेष है (१) सगीत (२) प्रेम। टूटे =जब इन्द्रिय और मन बुद्धि आदिका समवाय नष्ट हो जाता है, यह स्थूल और सूक्ष्म शरीर चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है, तब जीव निज स्वरूपमें स्थिर होता है । यह अगम पन्थ किसी शूरका ही हो सकता है ।

४० सच्चा योग गृहस्थाश्रममें ही सम्भव है । सहज सुन्न ..=सहज ही शून्यमें

सुरत-निरतसो मेला करके, अनहद नाद बजावै ।
घरमे बसत बस्तु भी घर है, घर ही बस्तु मिलावै ।
कहै कबीरा सुनो हो साधू, ज्योका त्यो ठहरावै ॥ (१-६९)

४१

सन्तो, सहज समाधि भली ।
साँईते मिलन भयो जा दिनते, सुरत न अन्त चली ॥
आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ ।
खुले नैन मै हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ ॥
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कुछ करूँ सो पूजा ।
गिरह-उद्यान एकसम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा ॥
जहँ जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कछु करूँ सो सेवा ।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूजूँ और न देवा ॥
शब्द निरन्तर मनुआ राता, मलिन बचनका त्यागी ।
ऊठत-बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी ।
कहै कबीर यह उन्मुनि रहनी, सो परगट कर गाई ।
सुख-दुखके इक परे परम सुख, तेहिमें रहा समाई ॥ (१-७६)

४२

तीरथमें तो सब पानी है, होवे नहीं कछु अन्हाय देखा ।
प्रतिमा सकल तो जड है भाई, बोलैं नहीं बोलाय देखा ।
पुरान-कोरान सबै बात है, या घटका परदा खोल देखा ।
अनुभवकी बात कबीर कहे यह, सब है झूठी पोल देखा ॥(१-७९)

समा जाय (हठयोग आदिकी क्रियासे नहीं), सहज समाधि लगावे (दे० पृ० १५१) । उनमुनि=उन्मनी (दे० पृ० ५०) । सुरत-निरत (देखिए ऊपर पद १७ की व्याख्या) । ज्योका त्यो=निजरुप, इस देह (दे० अनु० ४) ।

४१ (देखिए पृ० १५१)

४३

पानी बिच मीन पियासी ।
मोहिं सुन सुन आवै हाँसी ॥
घरमे वस्तु नजर नहिं आवत
बन बन फिरत उदासी ।
आतमज्ञान बिना जग झूँठा
क्या मथुरा क्या कासी । (१-८२)

४४

गगन मठ गैब निसान उडे ।
चन्द्रहार चँदवा जहँ टाँगे, मुक्ता-मानिक मढे ।
महिमा तासु देख मन थिरकर, रवि-ससि जोत जरे ।
कहै कबीर पियै जोई जन, माता फिरत मरे । (१-९७)

४५

साधो, को है कहँसें आयो ।
तेहिके मन धा कहाँ बसत है, को धौ नाच नचायो ॥
पावक सर्व अग काठहिमे, को धौ डहक जगायो ।
हो गया खाक तेज पुनि वाको, कहु धो कहाँ समायो ॥
अहै अपार पार कछु नाहीं, सतगुरु जिन्है लखायो ।
कहै कबीर जेहि सूझ-बूझ जस, तेई तस आज सुनायो ॥ (१-९४)

---

४३ भाव यह है कि भगवान् तो घटघटवासी हैं फिर भी मूर्ख लोग उन्हे बाहर खोजते फिरते हैं। आत्मज्ञानसे ही वह मिलते हैं, तीर्थव्रतसे नही।

४४ गैब=अद्‌भुत।

४५ पावक =काठमे सर्वत्र अग्नि है फिर वह प्रकट कैसे होती है और प्रकट होनेके बाद काठको भस्म करके कहाँ लीन हो जाती है? भाव यह है कि भगवान् भी सर्वव्यापक हैं, साधनामे मिलते हैं और साधकके स्थूल शरीरको

४६

साधो, सहजै काया सोधो।
जैसे बटका बीज ताहिमे पत्र-फूल-फल-छाया।
काया-मद्धे बीज बिराजे, बीजा मद्धे काया।
अग्नि-पवन-पानी-पिरथी-नभ, ता-बिन मिलै नाही।
काजी पडित करो निरनय को न आपा माहीं।
जल-भर कुभ जलै बिच धरिया, बाहर-भीतर सोई।
उनको नाम कहनको नाहीं, दूजा धोखा होई।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सत्य-शब्द निज सारा।
आपा-मद्धे आपै बोलै, आपै सिरजनहारा। (१-९८)

४७

तरवर एक मूल बिन ठाढा, बिन फूले फल लागे।
साखा-पत्र कछू नहि ताके, सकल कमल-दल गाजे।
चढ तरवर दो पछी बोले, एक गुरू एक चेला।
चेला रहा सो रस चुन खाया, गुरू निरन्तर खेला॥

समाप्त करके फिर भी सर्वव्यापक बने रहते हैं। साधकके भीतर भगवानकी ही ज्योति जलती है।

४६ काया (शरीर) की शुद्धि सहज ही होती है, कृच्छ्राचारसे नहीं। जिस प्रकार वटके बीजमें ही उसके वृक्षकी सत्ता रहती है और उस सत्ताके अभावमे वृक्ष भी नहीं होता और पवन-पानी आदि भी नहीं पा सकता उसी प्रकार आपा (=आत्मा) में ही सब कुछ है। जीवात्मा वस्तुतः परमा मासे भिन्न नहीं है। जलसे भरा हुआ घड़ा जैसे समुद्रमें डुबाया जाय वैसे भगवान्की असीम सत्ताके भीतर ही इस शरीरसे आच्छन्न भगवदश जीव है। उनको...=उनका नाम लेना उचित नहीं। क्योंकि नाम लेनेसे भ्रम हो सकता है कि वे मुझसे भिन्न हैं।

४७ तरवर=ससार, मूल विना खड़ा है अर्थात् मायाजन्य है। गुरु=

पछीके खोज अगम परगट, कहैं कबीर बडी भारी।
सब ही मूरत बीज अमृत, मूरतकी वलिहारी ॥ (१-१०२)

४८

चलत मनसा अचल कीन्ही, मन हुआ रगी ।
तत्वमे निहतत्व दरसा, सगमे सगी ॥
बधते निर्बन्ध कीन्हा, तोड सब तगी ।
कहैं कबीर अगम गम कीया, प्रेम रग रगी ॥ (१-१०७)

४९

जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा न जाई ।
बिन देखै परतीत न आवै, कहै न को पतियाना ।
समझा होय तो शब्दै चीन्है, अचरज होय अयाना ।
कोई ध्यावै निराकारको, कोई ध्यावै आकारा ।
या विधि इस दोनोंते न्यारा, जानै जाननहारा ।
वह राग तो लखा न जाई, मात्रा लगै न काना ।
कहै कबीर सो पढै न परलय, सुरत-निरत जिन जाना ॥ (१-१०९)

५०

मुरली बजत अखड सदासे, तहाँ प्रेम झनकारा है ।
प्रेम-हद तजी जब भाई, सत्त लोककी हद पुनि आई ।
उठत सुगध महा अधिकाई, जाको वार व पारा है ।
कोटि भान रागको रूपा, बीन सत-धुन बजै अनूपा ॥ (१-१२६)

भगवान् । चेला=जीव । रस चुन खाया=भोग भोगता रहा । गुरु खेला=भगवान् लीला करते रहे । मूरत .वलिहारी=समस्त मूर्तियों यानी रूपोंमें वह अमूरत (अमूर्त, रूपहीन) होकर वर्तमान है, बलिहारी है, उसकी इस मूर्ति (स्वरूप) की ।

५१

सखियो, हमहुँ भई बलमासी ।
आयो जोबन बिरह सतायो, अब मैं ज्ञान गली अठिलाती ।
ज्ञान-गलीमे खबर मिल गये, हमे मिली पियाकी पाती ।
वा पातीमे अगम सँदेसा, अब हम मरनेको न डराती ।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, बर पाये अविनासी । (१–१२९)

५२

साईं बिन दरद करेजे होय ।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, कासे कहूँ दुख होय ।
आधी रतियाँ पिछले पहरवा, साईं बिना तरस रही सोय ।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, साईं मिले सुख होय ।। (१–१३०)

५३

कान मुरली-शब्द सुन आनन्द भयौ
जोत बरे बिन बाती ।
बिना मूलके कमल प्रगट भयौ ।
फुलवा फुलत भाँति भाँति ।
जैसे चकोर चन्द्रमा चितवै
जैसे चातृक स्वाँती ।
तैसे सन्त सुरतके होके
हो गये जनम सँघाती ।। (१–१२२)

---

५१ भई बलमासी=बालमको पानेकी उत्कट अभिलाषावाली हो गई ।

५४

सुनता नहीं धुनकी खबर, अनहदका बाजा बाजता ।
रस मद मंदिर बाजता, बाहर सुने तो क्या हुआ ।
इक प्रेम-रस चाखा नहीं, अमली हुआ तो क्या हुआ ॥
काजी किताबें खोजता, करता नसीहत औरको ।
महरम नहीं उस हालसे, काजी हुआ तो क्या हुआ ॥
जोगी दिगंबर सेवडा, कपडा रंगे रंग लालसे ।
वाकिफ नहीं उस रंगसे, कपडा रँगेसे क्या हुआ ॥
मन्दिर झरोखा-रावटी, गुल चमनमें रहते सदा ।
कहते कबीरा है सही हर-दममें साहिब रम रहा ॥ (१-११२)

५५

भक्तिका मारग झीना रे ।
नहिं अचाह नहिं चाहना, चरनन लौ लीना रे ।
साधनके रस-धारमें, रहे निस दिन भीना रे ।
रागमें स्रुत ऐसे बसे, जैसे जल मीना रे ।
साँई सेवनमें देत सिर, कुछ बिलम न कीना रे ।
कहैं कबीर मत भक्तिका, परगट कर दीना रे । (१-७३)

५६

भाई, कोई सतगुरु सन्त कहावै ।
नैनन अलख लखावै ॥
प्राण पूज्य किरियाते न्यारा, सहज समाध सिखावै ।
द्वार न रूँधै पवन न रोकै, नहिं भवखण्ड तजावै ।

---

५४ अमली=नशा सेवन करनेका अभ्यस्त । महरम=परिचित । सेवडा=श्वेतपट, श्वेताम्बर जैन साधु ।

यह मन जाय यहाँ लग जब ही परमातम दरसावै।
करम करै नि करम रहै जो, ऐसी जुगत लखावै।
सदा विलास त्रास नहि तनमे, भोगमे जोग जगावै,
धरती-पानी आकाश-पवनमें अधर मँडैया छावै।
सुन्न सिखरके सार सिलापर, आसन अचल जमावै।
भीतर रहा सौ बाहर देखै, दूजा दृष्टि न आवै। (१–६८)

५७

साधो, शब्द-साधना कीजै।
जे ही शब्दते प्रगट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै॥
शब्द गुरु शब्द सुन सिख भये, शब्द सो बिरला बूझै।
सोई शिष्य सोई गुरु महातम, जेहि अन्तर-गति सूझै।
शब्दै वेद-पुरान कहत है, शब्दै सब ठहरावै।
शब्दै सुर-मुनि-सन्त कहत है, शब्द-भेद नहि पावै॥
शब्दै सुन सुन भेष धरत है, शब्दै कहै अनुरागी।
षट्-दर्शन सब शब्द कहत हैं, शब्द कहे बैरागी॥
शब्दै काया जग उतपानी, शब्दै केरि पसारा।
कहै कबीर जहँ शब्द होत है, भवन भेद है न्यारा॥ (१–६६)

५८

पीले प्याला हो मतवाला
प्याला नाम अमीरसका रे।
कहै कबीर सुनो-साधो
नख सिख पूर रहा विषका रे। (१–६३)

---

५८ मनुष्यका शरीर नखसे शिखातक विषयरूपी विषसे भरा है। उसमें रक्षा पानेका साधन नामरूपी अमृत-रसका पान करना ही है।

५९

खसम न चीन्है बावरी, का करत बडाई।
बातन लगन न होयँगे, छोडो चतुराई।
साखी शब्द सदेश पढि, मत भूलो भाई।
सार-प्रेम कछु और है, खोजा सो पाई॥ (१-५२)

६०

सुखसिंधकी सैरका स्वाद तब पाइ हे,
चाहका चौतरा भूल जावै।
बीजके माहि ज्यो बीज-विस्तार यो
चाहके माहि सब रोग आवै॥ (१-५६)

६१

सुखसागरमे आयके मत जारे प्यासा।
अजहु समझ नर बावरे, जम करत निरासा॥
निर्मल नीर भरे तेरे आगे, पी ले स्वाँसो स्वाँसा।
मृगतृस्ना-जल छाँड बावरे, करो सुधारस-आसा॥
ध्रू प्रह्लाद-शुकदेव पिया, और पिया रैदासा।
प्रेमहि सत सदा मतवाला, एक प्रेमकी आसा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, मिट गई भयकी बासा। (१-४८)

६२

सतीको कौन सिखावता है,
सँग स्वामीके तन जारना जी।
प्रेमको कौन सिखावता है,
त्यागमाँहि भोगका पावना जी। (१-३५)

---

५९ खसम=पति, परमात्मा।
६० चाहके माहि=इच्छाके भीतर।
६१ सुधारस=भगवान्से प्रेम। मृगतृष्णा=विषय सुख।

६३

अरे मन धीरज काहे न धरे ।
पसु-पछी जीव कीट-पतगा सबकी सुद्ध करै ।
गर्भ-वासमे खबर लेतु है बाहर क्यो बिसरै ।
मन तू हसनसे साहेबके भटकत काहे फिरै ।
प्रीतम छॉड और को धारे, कारज इक न सरे ॥ (१-३९)

६४

साईसे लगन कठिन है भाई ।
जैसे पपीहा प्यासा बूँदका, पिया पिया रट लाई ।
प्यासे प्राण तडफै दिन-राती, और नीर ना भाई ।
जैसे मिरगा शब्द-सनेही, शब्द सुननको आई ।
शब्द सुनै और प्रानदान दे, तनिको नाहिं डराई ।
जैसे सती चढी सत-ऊपर, पियाकी राह मन भाई ।
पावक देख डरे वह नाहीं, हँसत बैठे सदा माई ।
छोडो तन अपनेकी आसा, निर्भय ह्वै गुन गाई ।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, नाहिं तो-जनम नसाई ॥(१-११७)

---

६३ हसनसे साहेबके=सुन्दर प्रभुके रहते हुए ।

६४ साई, प्रिय, बालम आदि शब्दोंसे कबीरदासका मतलब परमात्मासे है। ये पद समासोक्ति पद्धतिपर लिखे गए हैं। एक दो विशेषणोंसे ही इन पदोके वाच्यार्थके साथ ही साथ अप्रस्तुत अर्थ उपस्थित हो जाता है। श्लेष इनमें नहीं है। इसी लिये प्रत्येक पदके दो दो अर्थ खोजना ठीक नहीं होता। ये रूपक भी नहीं है, इस लिये प्रत्येक पदमें किसका आरोप किया है, यह

६५

जब मै भूला रे भाई,
मेरे सतगुरू जुगत लखाई ।
किरिया-करम-अचार छॉडा, छॉडा तीरथका न्हाना ।
सगरी दुनिया भइ सयानी, मै ही इक बौराना ।
ना मै जानूॅ सेवा-बदगी, ना मै घटा बजाई ।
ना मै मूरत धरी सिघासन, ना मै पुहुप चढाई ।
ना हरि रीझै जप तप कीन्हे, ना कायाके जारे ।
ना हरि रीझे धोती छॉडे, ना पॉचोके मारे ।
दया राखि धरमको पाले, जगसो रहे उदासी ।
अपना-सा जिव सबको जाने, ताहि मिले अविनासी ।
सहै कुशब्द बादको त्यागै, छॉडै गर्व-गुमाना ।
सत्त नाम ताहीको मिलिहै कहै कबीर सुजाना ॥ (१–२१)

६६

मन ना रॅगाये रॅंगाये जोगी कपडा ।
आसन मारि मदिरमे वैठे
ब्रह्म-छाडि पूजन लागे पथरा ॥
कनवा फडाय जटवा बढोले
दाढी बढाय जोगी होइ गैले बकरा ।

प्रश्न भी ठीक नही है । ये सीधे प्रेम व्यापक पद हैं जिनमें कुछ विशेषणोंका प्रयोग इस प्रकार किया गया है जिससे अप्रस्तुत भगवत्प्रेम प्रधान होकर स्वय उपस्थित हो जाता है । ७३, ८५, ८८, ९५, ९८, आदि पद ऐसे ही है ।

६६ कनवा फड़ाय=कनफटे योगी कान चीरकर कुण्डल धारण करते हैं । धुनिया रमौले=धूनी रमाई । लबरा=झूठा । बढौले=बढाया । गैले=गया ।

जगल जाय जोगी धुनिया रमौले
  काम जराय जोगी होय गैले हिजरा ॥
मथवा मुँडाय जोगी कपडा रगौले,
  गीता बॉचके होय गैले लबरा ।
कहहि कबीर सुनो भाई साधो,
  जम दरवजवा बॉधल जैबे पकडा ॥ (१-२०)

६७

ना जानै साहब कैसा है ।
मुल्ला होकर बाग जो देवे,
  क्या तेरा साहब बहरा है ।
कीडीके पग नेवर बाजे
  सो भी साहब सुनता है ।
माला फेरी तिलक लगाया,
  लबी जटा बढाता है ।
अन्तर तेरे कुफर-कटारी,
  यो नहिं साहब मिलता है । (१-९)

६८

हमसो रहा न जाय मुरलियाकै धुन सुनके ।
बिना बसन्त फूल इक फूलै भॅवर सदा बोलाय ।

---

६८ मुरलियाके धुन=ब्रह्माण्डमे व्याप्त अनाहत नाद जिसे साधक लोग भगवान्‌की पुकार कहा करते हैं । इस पदकी व्याख्या समाधिके पक्षमें हो सकती है । बिना वसन्तका फूलनेवाला फूल शून्यका सहस्रार चक्र है । भॅवरका लक्ष्यार्थ मन है । मेघ बरसाने=समाधिकी पूर्णताकी हालतमें ' धर्म मेघ ' की धारासार वृष्टि होती है । उस समय योगी समस्त क्लेशों और कर्मोंसे निवृत्त हो जाता है (पातंजल सूत्र ४ । २९) । यहाँ उसीसे मतलब है । तारी लगना=समाधि लगना ।

गगन गरजै बिजुली चमकै, उठती हिये हिलोर।
बिगसत कँवल मेघ बरसाने चितवत प्रभुकी ओर।
तारी लागी तहाँ मन पहुँचा, गैब धुजा फहराय।
कहै कबीर आज प्रान हमारा, जीवत ही मर जाय ॥ (३-१०२)

६९

जो खोदाय मसजीद बसतु हैं और मुलुक केहि केरा।
तीरथ-मूरत राम-निवासी बाहर करे को हेरा।
पूरब दिसा हरीको बासा पच्छिम अलह मुकामा।
दिलमे खोज दिलहिमे खोजौ इहैं करीमा-रामा।
जेते औरत-मरद उपानी सो सब रूप तुम्हारा।
कबीर पोंगडा अलह-रामका सो गुरु पीर हमारा। (३-२)

७०

सील-सन्तोप सदा समदृष्टि, रहनि गहनिमे पूरा।
ताके दरस-परस भय भाजै, होइ कलेस सब दूरा॥
निसि-बासर चरचा चित-चंदन, आन कथा न सोहावै।
करनी धरनी संगीत गावै, प्रेम रंग उडावै॥
राग सरूप अखंडित अबिचल, निर्भय बेपरवाई।
कहै कबीर ताहि पग परसो, घट घट सब सुखदाई॥ (३-९)

७१

साध-संगत पीतम उहाँ चल जाइये।
भाव-भक्ति-उपदेस तहाँते पाइये॥
संगत ही जरि जाव न चरचा नामकी।
दूलह बिना बरात कहो किस कामकी॥

६९ पोंगडा (पौगड)=बालक।

दुबिधाको कर दूर पीतमको ध्याइये ।
आन देवकी सेव न चित्त लगाइये ॥
आन देवकी सेव भली नहि जीवको ।
कहैं कबीर विचार न पावै पीवको ॥ (३–१२)

७२

तोर हीरा हिराइल बा किचडेमे ।
कोई ढूँढै पूरब कोई ढूँढै पच्छिम
कोई ढूँढै पानी-पथरेमे ।
दास कबीर ये हीराको परखै
बाँध लिहलै जीयराके अँचरेमें । (३–२६)

७३

आयो दिन गौनेके हो, मन होत हुलास ।
डोलिया उठावे बीजा बनवाँ हो, जहँ कोई न हमार ॥
पइयाँ तोरी लागौं कहरवा हो, डोली धर छिन बार ।
मिल लेवै सखिया सहेलर हो, मिलौ कुल परिवार ॥
दास कबीर गावैं निरगुन हो, साधो करि ले बिचार ।
नरम-गरम सौदा करि ले हो, आगे हाट ना बाजार ॥ (३–२६)

७४

अरे दिल,
प्रेमनगरका अन्त न पाया, ज्यों आया त्यो जावैगा ।
सुन मेरे साजन सुन मेरे मीता, या जीवनमे क्या क्या बीता ॥
सिर-पाहनको बोझा लीता, आगे कौन छुडावैगा ।

---

७२ हिराइल बा=खो गया है । बाध लिहिल=बाध लिया ।

७४ परली पार=उस पार । टूटी नावका लक्ष्यार्थ गलत साधना मार्ग है ।

परली पार मेरा मीता खडिया, उस मिलनेका ध्यान न धरिया।
टूटी नाव उपर जो बैठा, गाफिल गोता खावैगा॥
दास कबीर कहैं समुझाई, अन्तकाल तेरा कौन सहाई।
चला अकेला सग न कोई, किया आपना पावैगा॥ (३-३०)

७५

बेद कहे सरगुनके आगे निरगुनका बिसराम।
सरगुन-निरगुन तजहु सोहागिन, देख सबहि निज धाम।
सुख दुख वहाँ कछु नहिं व्यापे, दरसन आठो जाम।
नूरै ओढन नूर डासन, नूरका सिरहान।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नूर तमाम। (३-५५)

७६

(१) तू सूरत नैन निहार वह अडमे सारा है।
तू हिरदे सोच बिचार यह देश हमारा है।
सतगुरु दरस होय जब भाई,
वह दे तुमको प्रेम चिताई,
सुरत-निरतके भेद बताई,
तब देखे अण्डके पारा है॥

सकल जगतमे सतकी नगरी,
चित्त भुलावे बाकी डगरी,

---

७५ वेद केवल सगुणके आगे निर्गुण ब्रह्मको बताकर कहता है कि वहीं विश्राम मिलता है। पर यह भी ठीक नही। वह निर्गुण सगुणसे परे है। निर्गुणके भी आगे जीव सत्यपुरुषको पाता है, वही उसका अपना धाम है। (ऊपर दे० अनु० ४)। नूरै=प्रकाश ही। नूर तमाम=परिपूर्ण ज्योति।

सो पहुँचे चाले बिन पग री,
ऐसा खेल अपारा है ॥

(२) लीला सुक्ख अनन्त वहाँकी
जहाँ रास विलास अपारा है,
गहन-तजन छूटे यह पाई
फिर नहि पाना सताना है ॥ ३ ॥

पद निरबान है अनन्त अपारा
सुरति मूरति लोक पसारा,
सत्तपुरुप नूतन तन धारा
साहिब सकल रूप सारा है ॥ ४ ॥

बाग-बगीचे खिली फुलवारी
अमृत-लहरैं हो रहीं जारी
हसा केल करत तहँ भारी
जहँ अनहद घूरै अपारा है ॥ ५ ॥

तामध अधर सिहासन गाजै
पुरुप महा तहँ अधिक विराजै
कोटिन सूर रोम इक लाजै
ऐसा पुरुष दीदारा है ॥ ६ ॥

पथ बिना सतराग उचारैं
जो बेधत हिये मँझारा है।
जन्म जन्मका अमृत धारा
जहँ अधर-अमृत फुहारा है ॥ ७ ॥

---

(१) अड=ब्रह्माण्ड। सुरति-निरति (दे० पद १७ की टिप्पणी) (२) गहन-तजन=ग्रहण और त्याग।

सतसे सत्त सुन्न कहलाई,
सत्त भँडार याहीके माँहीं,
नि तत रचना ताहि रचाई
जो सबहिनते न्यारा है ॥ ८ ॥
अहद लोक वहाँ है भाई,
पुरुप अनामी अकह कहाई ।
जो पहुँचे जानेगे वाही
कहन सुननते न्यारा है ॥ ९ ॥
रूप-सरूप कछू वहँ नाहीं,
ठौर-ठाँव कछु दीसै नाहीं ।
अजर-तूल कछु दृष्टि न आई
कैसे कहूँ सुँमारा है ॥ १० ॥
जापर किरपा करिहै साँई
अनहद मारग पावै ताही ।
उद्भव परलय पावत नाहीं
जब पावै दीदारा हो ॥ ११ ॥
कहै कबीर मुख कहा न जाई
ना कागदपर अंक चढाई ।
मानो गूँगे सम गुड खाई
कैसे बचन उचारा हो ॥ १२ ॥ (३-४८)

७७

चल हंसा वा देस जहँ पिया बसै चितचोर ।
सुरत सोहागिन है पनिहारिन, भरै ठाढ बिन डोर ॥

---

७७ सुरत . डोर=सुरतिरूपी सुहागिन जहाँ विना डोरीके ही पानी भरती

वहि देसवाँ बादर ना उमडै रिमझिम बरसे मेह ।
चौबारेमे बैठ रहो ना, जा भीजहु निर्देह ॥
वहि देसवामें नित्त पूर्निमा, कबहुँ न होय अँधेर ।
एक सुरजकै कवन बतावै, कोटिन सुरज उँजेर ॥ (३–६०)

७८

कहै कबीर सुनो हो साधो, अमृत-बचन हमार ।
जो भल चाहो आपनो, परखो करो विचार ॥
जे करतातै ऊपजै, तासो परि गयो बीच ।
अपनी बुद्धि विवेक-बिन, सहज बिसाही मीच ॥
यहिमेते सब मत चलै, यही चल्यौ उपदेस ।
निश्चय गहि निर्भय रहो, सुन परम तत्त सदेस ॥

है । डोरी यहाँ ध्यानके लिये व्यवहृत है । (तु० धागा टुटिगा गगन बिनसिगा) भाव यह है कि वहाँ सहज ही भगवानके प्रति प्रीति बनी रहती है । मोह= आनदवर्षा, समाधिके पक्षमें धर्ममेध (दे० ६८ पदकी टिप्पणी) । चौबारे निर्देह=यहाँ ओसारेमें बैठ रहनेकी जरूरत नहीं है, वहाँ बिना देहके ही उस आनन्दवृष्टिमें भीगना उचित है । क्योंकि देह वहाँ होती ही नहीं ।

७८ परखो=परीक्षा करो । पारख पदके लिये दे० अनु० ७ जे...मीच=जिस कर्त्तासे उत्पन्न हुए उससे अज्ञानके कारण तुम भिन्न हो गए हो । अपनी ही या विवेकशून्य बुद्धिके कारण तुमने अनायास ही मृत्यु विसाही है (विसाहना= खरीदना) । यहिमेंते सन्देस=इसी बुद्धिमेसे सब मत और सब उपदेश निकले हैं (जो सब अज्ञानसे उत्पन्न होनेके कारण भ्रान्त हैं) । तुम निश्चय करो और (सत्यको ग्रहण करके) निर्भय रहो और परम सत्यका सन्देश सुनो । धमार= गानविशेष, हुड़दंग । दूरहि करता. .आस=कर्त्ताको दूर रख कर उससे विरुद्ध दूरकी बातकी आशा लगाते हो । विसूर=पछताकर, दुःख करके ।

केहि गाओ केहि ध्यावहू, छोडो सकल धमार ।
यह हिरदे सबको बसे, क्यों सेवो सुन्न-उजाड ॥
दूरहि करता थापिकै, करी दूरकी आस ।
जो करता दूरै हुते, तो को जग सिरजै पास ॥
जो जानो यहँ है नही, तो तुम धाओ दूर ।
दूरसे दूर भ्रमि भ्रमि, निष्फल मरो विसूर ॥
दुरलभ दरसन दूरके, नियर सदा सुख-बास ।
कहँ कबीर मोहि व्यापिया, मत दुख पावै दास ॥
आप अपनपौ चीन्हहू, नख-सिख सहित कबीर ।
आनद-मगल गावहू, होहि अपनपौ थीर ॥ (३-६३)

७९

ना मै धर्मी नाही अधर्मी, ना मै जती न कामी हो ।
ना मै कहता ना मै सुनता, ना मैं सेवक-स्वामी हो ।
ना मै बधा ना मैं मुक्ता, ना मै बिरत न रंगी हो ।
ना काहूसे न्यारा हूआ, ना काहूके सगी हो ।
ना हम नरक-लोकको जाते, ना हम सुर्ग सिधारे हो ।
सब ही कर्म हमारा कीया, हम कर्मनते न्यारे हो ।
या मतको कोई बिरलै बूझै, सो अटर ह्वो बैठे हो ।
मत कबीर काहूको थापै, मत काहूको मेटे हो ॥ (३-६६)

८०

सत्त नाम है सबतैं न्यारा ।
निर्गुन-सर्गुन शब्द-पसारा ॥
निर्गुन बीज सर्गुन फल-फूला ।
साखा ज्ञान नाम है मूला ॥

---

७९ अटर=अटल ।

मूल गहेते सब सुख पावै।
डाल-पातमे मूल गँवावै ॥
साईं मिलानी सुख दिलानी।
निर्गुन-सर्गुन भेट मिटानी ॥ (३–६९)

८१

प्रथम एक जो आपै आप। निरकर निर्गुन निर्जाप ॥
नहिं तब आदि-अन्त-मध-तारा। नहिं तब अध-धुध उजियारा ॥
नहिं तब भूमि पवन-आकासा। नहिं तब पावक-नीर-निवासा ॥
नहिं तब सरसुति-जमुना-गगा। नहिं तब सागर-समुद-तरंगा ॥
नहिं तब पाप-पुन्न नाहिं वेद-पुराना। नाहिं तब भये कतेब-कुराना ॥
कहै कबीर विचारिकै, तब कुछ किरपा नाहिं।
परम पुरुप तहँ आपही, अगम-अगोचर माहिं ॥
करता कछु खावै नहिं पीवै। करता कबहूँ मरै न जीयै ॥
करताके कुछ रूप न रेखा। करताके कछु बरन न भेखा ॥
जाके जात-गोत कछु नाहीं। महिमा बरनि न जाय मो पाहीं।
रूप-अरूप नहीं तेरा नॉव। बर्न-अबर्न नही तेहि ठॉव ॥ (३–७४)

८२

कहैं कबीर विचारिके, जाकै बर्न न गॉव।
निराकार और निर्गुना, है पूरन सब ठाँव ॥
करता आनद खेल लाई, ओकारते सृष्टि उपाई ॥
आनन्द धरती आनन्द आकास। आनन्द चद-सूर परकास ॥
आनन्द आदि-अत-मध-तारा। आनन्द अन्धकूप उजियारा ॥

---

८२ करता. .=कर्तानि आनन्दसे ही सब कुछ उत्पन्न किया है और सब कुछ आनन्द ही है। खेल=लीला।

आनद सागर-समुद्र-तरगा । आनद सरसुति जमुना-गगा ॥
करता एक और सब खेल । मरन-जनम विरह मेल ॥
खेल जल थल-सकल जहाना । खेल जानौ जमी असमाना ॥
खेलका यह सकल पसारा । खेल माँहि रहै ससारा ॥
कहैं कबीर सब खेलनमाही । खेलनहारको चीन्हैं नाहीं ॥ (३-७६)

८३

झी झी जतर बाजै ।
कर चरन बिहूना नाचै ।
कर बिनु बाजै सुनै श्रवन बिनु
श्रवन श्रोता सोई ।
पाट न सुबास सगा बिनु अवसर
बूझौ मुनि-जन सोई ॥ (३-८४)

८४

मोर फकिरवा मागि जाय,
मे तो देखहू न पौल्यौं ।
मगनसे क्या मागिये,
बिन मागे जो देय ।
कहै कबीर मे हौं वाही को,
होनी होय सो होय ॥ (३-८९)

---

८३ कर चरन बिहूना=बिना हाथ पैरके। पाट न सुवास=न कोई पाट है न सुवास है। पाट=राज-सिंहासन। सुवास=प्रजाके बसानेका काम। सभा बिनु अवसर=कोई सभा नहीं है (जो नाच देखे)) किन्तु अवसर (सर्वावसर= आम दरबार) है। पाँचवी पंक्तिका पाठ "पाट बिनु वास, सभा बिनु अवसर" ठीक जान पड़ता है। अवसर=दरबार। भाव यह कि राज-पाट तो उसके नहीं है पर उसने सबको बास दिया है और सभा अर्थात् दरबारी बैठक-घर तो उसके पास नहीं है पर उसका खुला दरबार लगा हुआ है।

८४ मेरा फकीर मुझसे कुछ माँग गया और मैं उसे देख भी नहीं पाया।

८५

नैहरसे जियरा फाट रे।
नैहर नगरी जिनके बिगडी, उसका क्या घर-बाट रे।
तनिक जियरवा मोर न लागै, तन मन बहुत उचाट रे।
या नगरीमें लख दरवाजा, बीच समुदर घाट रे।
कैसेकै पार उतरिहै सजनी, अगम पथका पाट रे।
अजब तरहका बना तबूरा, तार लगै मन मात रे।
खूँटी टूटी तार बिलगाना, कोउ न पूछत बात रे।
हँस हँस पूछै मातुपितासो, भोरें सासुर जाब रे।
जो चाहै सो वो ही करिहै, पत वाहीके हाथ रे।
न्हाय धोय दुल्हिन होय बैठी, जोहै पियकी बाट रे।
तनिक घुघटवा दिखाव सखीरी, आज सोहागकी रात रे
कहै कबीर सुनो भाई साधो, पिया-मिलनकी आस रे।
भोर होत बदे याद करोगे, नीद न आवे खाट रे। (३–९९)

८६

जीव महलमे सिव पहुनवॉ, कहॉ करत उनमाद रे।
पहुछा देवा करिलै सेवा, रैन चली आवत रे।
जुगन जुगन करै पतीछन, साहबका दिल लाग रे।
सूझत नाहिं परम सुख सागर, बिना प्रेम बैराग रे।

हाय मैं स्वयं भिखारी हूॅ, मगनसे क्या मॉगना! फिर उस मगनसे मॉगनेका तो कोई प्रश्न ही नही उठता जो बिना मॉगे ही अपना सर्वस्व दे दे। फकीर कहते हैं कि मैं तो उसीका हूॅ, अब जो होना हो सो होवे।

८५ तम्बूरासे शरीरका लक्ष्य है (दे० पद ३९ की टिप्पणी)। खूॅटी-तार इन्द्रिय और अन्त करणकी ओर इशारा करते हैं। नैहरसे इस दुनियाका और सासुरसे परलोकका अर्थ लक्षित है।

सरवन सुर बुझि साहेबसे, पूरन प्रगट भाग रे।
कहै कबीर सुनो भाग हमारा, पाया अचल सोहाग रे ॥
(३-९६)

८७

गगनघटा घहरानी साधो गगनघटा घहरानी।
पूरब दिससे उठी है बदरिया, रिमझिम बरसत पानी।
आपन आपन मेड सम्हारो, बह्यौ जात यह पानी।
सुरत-निरतका बेल नहायन, करै खेत निर्वानी।
धान काट मार घर आवै, सोई कुसल किसानी।
दोनो थार बराबर परसैं, जेवै मुनि और ज्ञानी ॥ (१-७१)

८८

आज दिनके मैं जाउँ बलिहारी।
पीतम साहेब आये मेरे पहुना, घर-आगन लगे सुहौना ॥
सब प्यास लगे मगल गायन, भये मगन लखि छवि मनभावन ॥
चरन पखारूँ बदन निहारूँ, तन-मन-धन सब साँईपै वारूँ ॥
जा दिन पाये पिया धन सोई, होत अनद परम सुख होई ॥
सुरत लगी सत नामकी आसा, कहे कबीर दासनके दासा ॥ (३-११८)

---

८६ पहुनवाँ=अतिथि। सिव=परमात्मा। सरवन से=जो शब्द कानोसे सुना था उसे साहबसे समझ लो।

८७ गगन घटा (समाधि पक्षमें) समाधि कालकी धर्म मेघकी वृष्टि। पूरब दिससे=पूर्व जन्मके पुण्यसे। मेड सँभालनेसे सयम नियमकी ओर इशारा है। धान काटना परम पुरुषार्थको पाना। दोनों थार=सुरति-निरतिकी थालियाँ।

८९

कोई सुनता है ज्ञानी राग गगनमें, अवाज होती पीनी।
सब घट पूरन पूर रहा है, सब सुरनके खानी।
जो तन पाया खड देखाया, तृस्ना नहीं बुझानी।
अमृत छोड खडरस चाखा, तृस्ना ताप तपानी॥
ओ अग सो अग बाजा बाजे, सुरत-निरत समानी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यही आदकी बानी॥ (१-१००)

९०

मै कासो कहो आपन पियकी बात री।
कहैं कबीर बिछुड नाहिं मिलिहौ
ज्यों तरवर छोड बनधाम री॥ (१-१०८)

९१

संसकिरत भापा पढि लीन्हा, ज्ञानी लोक कहो री।
आसा तृस्नामें बहि गयो सजनी, कामके ताप सहो री॥
मान-मनीकी मटुकी सिरपर, नाहक बोझ मरो री।
मटुकी पटक मिलो पीतमसे, साहेब कबीर कहो री॥ (३-१२)

---

८९ पानी=तीव्र, गभीर। छपी पोथियाम 'झीनी' पाठ है। जो तन तपानी=जिसने शरीर पाकर भी अपने आपको खण्ड सत्य ही दिखाया उसकी तृष्णा कभी शान्त नहीं हुई। क्योंकि उसने सम्पूर्ण सत्यके अमृत रसको छोडकर खण्ड रसका ही आस्वादन किया। ओं अग सी अग=' वे ही यह है और यही वे हैं' (क्षि० मो० से०)। छपी पोथियोंमें 'ओहं सोह' पाठ है और पूरा पद योगमूलक है। कबीर सम्प्रदायमें तीन ध्वनियोंकी चर्चा है—ओहं, सोह और झकार। इन तीनोंकी बिरति होनेपर शुद्ध शब्द सुनाई देता है और उसमें सुरति और निरतिका लय हो जाता है।

९१ मान-मनी=मानना-मनाना।

९२

चरखा चलै सुरत बिरहिनका।
काया नगरी बनी अति सुदर, महल बना चेतनका।
सुरत भाँवरी होत गगनमे, पीढा ज्ञान-रतनका।
मिहीन सूत बिरहिन कातै, माँझा प्रेम भगतिका।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, माला गूथो दिन रैनका।
पिया मोर ऐंहै पगा रखिहै, आँसू भेट देहौ नैनका (३-११०)

९३

कोटिन भानु-चन्द्र-तारा-गन छत्रकी छाँह रहाई।
मनमें मन नैननमे नैना, मन नैना इक हो जाई।
सुरत सोहागिन मिलन पियाको, तनकै नयन बुझाई।
कहैं कबीर मिलै प्रेम-पूरा, पितामें सुरत मिलाई ॥ (३-१११)

९४

अवधू बेगम देस हमारा।
राजा-रक-फकीर-बादसा, सबसे कहौ पुकारा।
जो तुम चाहो परम पदको, बसिहो देस हमारा ॥
जो तुम आये झीने होके, तजो मनकी भारा।

---

९२ सुरतिरूपी बिरहिनीका चरखा चल रहा है। सुरत भॉवरी=प्रेमकी भाँवर जो ब्याहके समय वर-कन्या देते हैं। मॉझा=वर कन्याके वे पीले वस्त्र जो हल्दी चढ़नेपर पहने जाते है। माला गूँथों =दिन और रातकी माला (वरमाला) गूँथू (उन्हीं महीन सूतोंसे)। पगा रखि हैं=चरण रखेंगे, पधारेंगे। ऑसू =ऑखोंका ऑसू उपहार दूँगा।

९४ बेगम देस=बिना गमका देश, समासोक्तिसे बेगम (रानी) का देश जिसके लिये बादशाह और राजा व्याकुल रहते हैं। मनकी भारा=मनकी

धरन-अकास-गगन कछु नाहीं, नहीं चन्द्र नहिं तारा ।
सत्त-धर्मकी हैं महताबें, साहेबके दरबारा ।
कहैं कबीर सुनो हो प्यारे, सत्त-धर्म है सारा ॥ (१-९२)

९५

साँईके सग सासुर आई ।
सग ना रही स्वाद ना जान्यो, बयो जोबन सुपनेकी नाई ।
सखी-सहेली मगल गावे, सुखदुख माथे हरदी चढाई ।
भयौ विवाह चली बिन दूलह, बाट जात समधी समझाई ।
कहैं कबीर हम गौने जैबे, तरब कन्त लै तूर बजाई । (१-१०९)

९६

समुझ देख मन मीत पियरवा,
आसिक होकर सोना क्या रे ।
पाया हो तो दे ले प्यारे,
पाय पाय फिर खोना क्या रे ।
जब अँखियनमे नींद घनेरी,
तकिया और बिछौना क्या रे ।
कहैं कबीर प्रेमका मारग,
सिर देना तो रोना क्या रे । (१-७९)

९७

साहेब हममे साहेब तुममें, जैसे प्राना बीजमें ।
मत कर बन्दा गुमान दिलमे, खोज देख ले तनमें ।
कोटि सूर जहँ करते झिलमिल, नील सिंध सोहै गगनमें ।

कल्पनामा बोझ । जो तुम =तुम यदि सूक्ष्म रूपम आए हो तो मानसिक कल्पनाओंके भारको छोड दो । महताबें=ज्योतियाँ ।

सब ताप मिट जॉय देहीकै, निर्मल होय वैठी जगमे ।
अनहद घटा बजै मृदगा, तन सुख लेहि पियारमे ।
विन पानी लागी जहँ वरषा, मोती देख नदीनमे ।
एक प्रेम ब्रह्माण्ड छाय रह्यो है, समझे विरले पूरा ।
अध भेदी कहा समझैगे, ज्ञानके घरतें दूरा ।
वडे भाग अलमस्त रगमे, कबिरा बोलै घटमें ।
हम-उवारन दु ख-निवारन, आवा-गमन मिटै छनमें । (२०९)

९८

रितु फागुन नियरानी, कोई पियासे मिलावे ।
पियाको रूप कहाँ लग वरनू, रूपहि माँहि समानी ।
जो रगरगे सकल छवि छाके, तन-मन सभी भुलानी ।
यो मत जाने यहि रे फाग है, यह कुछ अकह-कहानी ।
कहैं कवीर सुनो भई साधो, यह गत बिरले जानी ॥ (२-९८)

९९

नारद, प्यार सो अन्तर नाहीं ।
प्यार जागै तौही जागूँ प्यार सोवै तब सोऊँ ॥
जो कोई मेरे प्यार दुखावै जडा-मूलसो खोऊँ ॥
जहाँ मेरा प्यार जस गावै तहाँ करौ मैं बासा ।
प्यार चले आगे उठ धाऊँ मोहि प्यारकी आसा ॥
बेहद्द तीरथ प्यारके चरननि कोट भक्त समाय ।
कहै कवीर प्रेमकी महिमा प्यार देत बुझाय ॥ (२-१११)

---

९९ जो कोइ =जो कोई मेरे प्यारेको कष्ट देता है उसे जड मूलसे वञ्चित कर देता हूँ । बेहद्द . चरननि=प्रियके चरणोंमें अनेक तीर्थ बसते है । कोट... समाय=वहाँ (चरण-तलमे) करोडों भक्त समा जाते हैं ।

१००

कोई प्रेमकी पेंग झुलावै।
भुजके खंभ और प्रेमके रससे,
तन-मन आजु झुलाव रे।
नैनन बादरकी झर लाओ,
श्याम घटा उर छाव रे।
आवत आवत श्रुतकी राहपर,
फिकर पियाको सुनाव रे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
पियाको ध्यान चित लाव रे।

(२-१२२)

१०१

मैं बुनि करि सिरांनां हो राम, नालि करम नहीं ऊबरे।
दखिन कूंट जब सुनहा भूँका, तब हम सुगन बिचारा।
लरके परके सब जागत हैं, हम घरि चोर पसारा हो राम ॥
तांनां लींन्हां बांनां लीन्हां, लीन्हें गोडके पऊवा।
इत-उत चितवत कठवत लीन्हां, माँड चलवनां डऊवा हो राम ॥

---

१०० भुजके खम्भ...रे=दोनों भुजाओंके खम्भेपर प्रेमके रससे तन और मनको झुलाओ। आवत...रे=कानके पास आ आकर प्रियको व्याकुलताकी बात सुनाओ।

१०१ हे राम, मैं बुनकर थक गया हूँ पर यह नालका काम खतम नहीं होता। (नाली=नाल, जुलाहोंकी नली, छूँछा)। दक्षिणी खूँट (किनारे) पर जब सुनहा (=कुत्ता) भोंका तब मैंने सगुन विचारा। (मुझे मालूम हुआ कि यद्यपि) लड़के-फड़के (बाल-बच्चे) सभी जगे हुए हैं तथापि मेरे घरमें चोर पैठ गया है (मृत्युका प्रवेश हो गया है)। ताना=कपड़ा बुननेके

एक पग दोइ पग त्रेपग, सधे सधि मिलाई ।
करि परपच मोट बॅधि आयो, किलिकिलि सबै मिटाई हो राम ।।
ताना तनि करि बाना बुनि करि, छाक परी मोहि ध्यान ।
कहै कबीर मै बुनिकै सिराना, जानत है भगवाना हो राम ।।

१०२

को बीनै प्रेम लागो री माई को बीनै ।
राम-रसाइण-माते री माई को बीनै ।
पाई पाई तूॅ पतिहाई, पाईकी तुरियॉ बेचि खाई
री माई को बीनै ।।
एसे पाई पर बिथुराई, त्यूॅ रस आनि बनायौ
री माई को बीनै ।।

लिये लराइमें तना हुआ सूत । बाना=चाइाईमे बुना जानेवाला सूत । गोड=टेढी बॅधी हुई दो कमठी या लकडियॉ जो तानेको दोनो तरफमे थामे रहती है । पउवा=' गोड ' का आधारकाष्ठ, कठवत=कठोती, काठका बर्तन । इसे जुलाहे मॉडी साननेके लिये व्यवहार करते है । डउवा=डौआ, काठकी करछुल । एक पग =एक पग दो पग तीन पग बुनता हुआ, मैने सधिमे सधि मिलाई, जोड बैठाया परन्तु सब प्रपच करनेपर मोट बॅध आया (कपड़ा बन नहीं सका) तब मैंने सब टटा मिटा दिया । (अब) ताना तान लेनेके बाद और बाना बुन लेनेके बाद मुझे मस्ती (छाक, छकनेका भाव) का ध्यान आया है । हे राम, अब तो मै बुनकर हार गया, भगवान् ही जानत हैं ।

विशेष—जुलाहेसे मतलब चपल वृत्तिवाले मनुष्यसे है । कपड़ा बुनना—सासारिक प्रपचमें पड़ना । चोर—मृत्यु । छाक—सासारिक प्रपचोंसे हाथ खीचकर भगवद्भजनमे निमग्न होना । दे० पद १०४ ।

१०२ कौन बुने यह कपडा ! माईरी, मुझे प्रेमका चस्का लग गया है, मै राम-रसायन पीकर मतवाली बन गई हूँ । (पाई=सूतको सुलझाकर कूॅचेसे साफ करनेकी क्रिया । पतिहाई=पतिया गई, विश्वास कर लिया । तुरिया=तुरी, कूॅचा)

नाचै ताना नाचै बाना, नाचै कूँच पुराना
 री माई को बीनै ॥
करगहि बैठि कबीरा नाचै चूहै काट्या ताना
री माई को बीनै ॥

१०३

अमृत बरिसै हीरा निपजै,
घटा पडै टकसाल ।
कबीर जुलाहा भया पारषू
अनभै उतरया पार ॥ १ ॥
कबीर हरि-रस यों पिया,
बाकी रही न थाकि

पाई खाई=मैंने कूँचेसे सूता साफ करनेकी क्रिया पा ली है, यह बात तूने विश्वास कर ली, लेकिन मैं तो पाईकी तुरिया भी बेचकर खा गई ! उस क्रियाका साधन भी हजम कर गई । माई री कौन बुने ! ऐसैं इस प्रकार (इस प्रेमका) कुछ ऐसा रस बन आया कि मने पाईपर यह सारा रस फैला दिया है, कौन बुने यह कपड़ा ! (इस रससे मत्त होनेके कारण मुझे दिख रहा है कि) ताना नाच रहा है, बाना नाच रहा है, कूँचा और भरना (तानाको भरनेवाला सूत) भी नाच रहे हैं और करिगह (बुननेके स्थान) में बैठा हुआ कबीर भी नाच रहा है। माईरी, इस तानेको चूहा काट गया है (यह कपड़ा बुननेके काम लायक रहा ही नहीं), कौन बुने भला इसे !

१०३ भगवानका साक्षात्कार होनेपर जीव अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हो हो जाता है। उस समय अमृतकी धारासार वर्षा होती है। उस वर्षामें हीरा (सबसे बहुमूल्य उज्ज्वल और अटूट होनेके कारण हीरा परम पदका सूचक है) उपजता है, उसकी प्रामाणिकता सूचित करनेके लिये टकसालका घंटा बजता रहता है (गुरुकी सार वाणीकी ध्वनि सुनाई देती है)। कबीर जुलाहा इसी प्रकार पारखी हुआ है (दे० परिशिष्ट १, अनु० ७) और अनुभवसे ही पार उतर गया है ॥ १ ॥ थाकि=स्थिति; कबीरने हरिरस इस

पाका कलस कुम्हारका,
बहुरि न चढई चाकि ॥ २ ॥

१०४

जोलहा बीनहु हो हरिनामा, जाके सुर-नर-मुनि धरे ध्याना ।
ताना तिनको अहुँठा लीन्हो, चरखी चारिहुँ बेदा ॥
सर-खूटी एक रामनरायन, पूरन प्रगटे कामा ॥
भवसागर एक कठवत कीन्हो, तामहँ माँडी साना ॥
माँडीके तन माडि रहा है माँडी विरले जाना ॥
चाँद-सुरज दुई गोडा कीन्हो, माँझ-दीप कियो माँझा ।
त्रिभुवननाथ जो माँजन लागे, स्याम मुररिया दीन्हा ॥

प्रकार पिया है कि अब कोई जीने मरनेकी स्थिति उसके लिये नहीं रह गई है। वह कुम्हारके उस पक्के कलशके समान हो गया है जो फिरसे चाकपर नहीं चढता। (वह आवागमनके चक्करसे मुक्त हो गया है।)

१०४ यह बीजकका प्रसिद्ध पद (शब्द ६४) है। टीकाकारोंने इसके विस्तृत अर्थ दिए हैं।

अहुँठा=वस्त्र मापनेका गज, यहाँ साढे तीन हाथ मापका शरीर। चरखी, वह यन्त्र है जिसपर सूत लपेटा जाता है। सर-खूँटी=सरकण्डेकी लकडियाँ जो तानेको अलग अलग किये रहती हैं। राम=चैतन्य, नारायण=चैतन्यका अधिष्ठान जड। माँडी=कपडेमें कलप देनेका मसाला विशेष। चाँद सूर्य=इडा और पिंगला नाडियाँ। माँझ-दीप=मध्यवर्ती द्वीप, सुषुम्ना। त्रिभुवननाथ=मन। मुररिया= (१) माँजते समय सूत टूट जानेपर जब उसे बाँधते है तो 'मुरेरा' देना कहते हैं, (२) मुरलीको स्मरण दिलाता है। पाई=सूत साफ करनेकी क्रिया। भरना= कमठियोंके बीचसे सूता निकालकर ताना भरा जाता है। बै बाँधे=तानाके आधे आधे सूत नीचे ऊपर ले जानेके लिये राछकी कमचियोंके छेदोंसे एक एक तागा निकालकर बाँधते हैं, उसे बै बाँधना कहते हैं। माझा=सूतको माँजकर साफ करना। तिहुँलोक=तीन फेरी करके सूतको गाँस देते हैं उसे

पाई करि जब भरना कीन्हौ, बै बाँधे को रामा।
बै भरा तिहुँ लोकहिं बाँधै, कोइ न रहत उबाना॥
तीनि लोक एक करिगह कीन्हौ, दिगमग कीन्हौ ताना।
आदि पुरुप बैठावन बैठे, कबिरा जोति समाना॥

तिलोक कहते है (विश्व०) उबान=कपडेमें जो सूत बाहर रह जाता है उसे उबान कहते हैं। करिगह=कपडा बुननेका स्थान। दिगमग=जहाँ तहाँ डाल देना (विश्व०), दूसरे टीकाकार 'डगमग' अर्थात् चचल अर्थ करते है। बैठावन=कपडेको समेटकर जुलाहा सूतोंको बैठावन बैठाता है अर्थात् जमाता है। पदका भाव यह है कि ऐ चपल वृत्तिवाले मनुष्य (जुलाहा), हरि-नामका कपड़ा बुनो जिसका देवता, मनुष्य और मुनि ध्यान करते है। इस शरीरके भीतर अगुष्ठमात्र जीवको मापनेका गज बनाओ, उन चारों वेदोंको चरखी बनाओ जिनमे सद्-विचारके सूत लिपटे हुए हैं, चेतन (राम) और अचेतन (नारायण) को सर और खूँटी बनाओ, भवसागरको कठौता बनाओ और उस कठौतेम इस त्रिगुणात्मक शरीरको ही माँडी समझो। कोइ विरला ही इसे जानता है, क्योंकि यद्यपि यह कपडेकी माँडाकी भाँति फलस्वरूप है तो भी कपडेकी माडीके समान ही माँजनेपर निर्मल बना देनेका साधन भी है। जुलाहे कपडेमें माँडी देकर माँजते है जिससे कपडेकी मैल कट जाती है। यहाँ मन ही माँजनेवाला है। इस कपडेके तानको इड़ा और पिंगला नाडियोंके गोडेसे फैलाओ और मनके द्वारा उनकी मध्यवर्ती नाडी सुषुम्नाका शोधन करो (माँजो)। माँजते समय यदि सूत टूट जाय तो श्याम नामकी गाँठ बाँध दो जो श्यामकी मुरलीके समान तुम्हारा ध्यान अपनी ओर खींचे रहेगा। कूँचेसे सूता साफ करके जब इस हरिनामके वस्त्रका भरना भरो तो 'राम' नामके दो अक्षरोंका बै बाध लो। जिस प्रकार जुलाहे ब भरनेके बाद तिलोका बाँधते है उसी प्रकार तुम भी त्रलोक्यको इस नाममें बाँध लो, तब तो कहीं कोई वस्तु उबान न रह जायगा। तीनों लोकको ही करिगह बनाओ, फिर तानाको उठाकर अलग रखो और आदि पुरुषका वैठावन बैठाओ अर्थात् इस हरिनामके वस्त्रके प्रत्येक सूतको इस प्रकार जमाकर बठाओ कि आदिपुरुषमय हो जाय और तुम्हे अपना सच्चा रूप सूझ जाय। कबीरदास कहते हैं कि इसी प्रकारका कपडा बुनकर वे ज्योतिमें समा गए हैं।

१०५

जहिया किरतम ना हता, धरती हती न नीर।
उतपति परलय ना हता, तबकी कहै कबीर॥

१०६

हौं तो सबहीकी कहो, मोको कोउ न जान।
तबौ भला अब भी भला, जुग जुग होउँ न आन॥ १॥
कलि खोटा, जग आँधरा, सब्द न मानै कोय।
जाहि कहौ हित आपुना, सो उठि बैरी होय॥ २॥
मसि कागज छूयो नहि, कलम गही नहिं हात।
चारिउ जुगको महातम मुखहि जनाई बात॥ ३॥
बोली हमरी पूर्वकी, हमे लखै नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै, धुर पूरबका होय॥ ४॥

१०७

आसन-पवन किये दृढ रहु रे। मनका मैल छाँडि दे बौरे।
क्या सींगी-मुद्रा चमकाये, क्या बिभूति सब अग लगायें।
सो हिंदू सो मुसलमान, जिसका दुरुस रहै ईमान।
सो ब्राह्मन जो कथै ब्रह्मगियान, काजी सो जानै रहेमान।
कहै कबीर कछु आन न कीजै, राम-नाम जपि लाहा लीजै॥

---

१०५ जहिया=जिस दिन। किरतम=करनेवाला, कर्ता। किया किसी टीकाकारने कृत्रिम अर्थ किया है और किसीने कार्य। परन्तु करनेवाला ही ठीक अर्थ जान पड़ता है। (तु० ऊपर २९ वाँ पद)। हती=थी।

१०६ पूर्वकी=(१) पूर्व दिशाकी (२) प्राचीन युगकी।

१०७ लाहा=लाभ। सींगी मुद्रा आदिके लिये दे० पृ० २८।

१०८

अवधू मेरा मन मतिवारा ।
उन्मुनि चढा गगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा ।
गुड करि ज्ञान ध्यान करि महुवा, भव-भाठीं करि भारा ।
सुषमन-नारी सहजि समानीं, पीवै पीवनहारा ।
दोई पुड जोडि चिगाई, भाठी चुआ महारस भारी ।
काम-क्रोध-दुई किया पलीता, छूटि गई ससारी ।
सुनि मडलमें मँदला बाज, तहँ मेरा मन नाचै ।
गुरुप्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमना काछै ।
पूरा मिल्या तबै सुख उपज्यो तपकी तपनि बुझानी ।
कहै कबीर भव बन्धन छूटै, जोति हि जोति समानी ॥

१०८ उन्मुनि=समाधि । गगनरस=शून्यचक्रमें प्राप्य आनद, भावाभाव-विनिर्मुक्ता अवस्था (दे० पृ० ७६) । गुड़ करि ससारी= (मदिरा रूपक है) ज्ञानके गुड़ और ध्यानके महुआसे ससाररूपी भट्टीमे महारस (आनन्द) की मदिरा चुआई । दोनों लोकमें दो पुटोंको जोड़कर यह रस चुआया गया है । भट्टीको जलानेके लिये काम और क्रोधके दो पलीते बनाए हैं । सुषुम्ना नाड़ी रूपी नारी सहजमे समाकर इस रसको पिला रही है और पीनेवाला छक कर पी रहा है । इस महारसके पानसे ससारके बंधन—सकोच, झिझक, लज्जा—छूट गए हैं । सुनि -शून्य चक्रमें मादल बज रहा है और वहाँ मेरा मन नाच रहा है । गुरुप्रसादि काछै=गुरुके प्रसादसे सहज ही सुषुम्नाके पास मैंने अमृत-रस पा लिया । काययोगके द्वारा जो रस मिलता है वह क्षणिक होता है किन्तु जब तक सहज समाधिकी अवस्था प्राप्त नहीं होती, जब तक ज्ञान और ध्यानका बना हुआ महारस नहीं पी लिया जाता तब तक पूर्ण मिलन नहीं होता । पूरेके मिलनेसे ही वास्तविक आनंद मिलता है । तप अर्थात् कृच्छ्र साधनाका ताप दूर होता, भव-बन्धन छूट जाता है और ज्योतिमे ज्योति मिल जाती है ।

इस पदमें बताया गया है कि मदिरा (पचमकारका एक प्रधान उपादान) से मत्त बनना कोई बड़ी बात नहीं है । ज्ञान और ध्यानके द्वारा सहज ही

१०९

अवधू, भजन भेद है न्यारा ।
क्या गाये क्या लिखि बतलाये, क्या भर्मे ससारा ।
क्या सध्या-तर्पनके कीन्हे, जो नहिं तत्त बिचारा ।
मूँड मुडाये सिर जटा रखाये, क्या तन लाये छारा ।
क्या पूजा पाहनकी कीन्हें, क्या फल किये अहारा ।
बिन परिचे साहिब हो बैठे, विषय करै ब्यौपारा ।
ग्यान ध्यानका मर्म न जानै, बाद करै अहँकारा ।
अगम अथाह महा अति गहिरा, बीज न खेत निवारा ।
महा सो ध्यान मगन है बैठे, काट करमकी छारा ।
जिनके सदा अहार अतरमें केवल तत्त बिचारा ।
कहै कबीर सुनो हो गोरख तारौ सहित परिवारा ।

११०

रस गगन गुफामे अजर झरै ।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै ।

भगवानका जो परिचय मिलता है वही वास्तविक सुखका कारण होता है । कृच्छ्र-तपोंसे केवल ताप ही बढता है । अन्तरके ज्ञानसे ही भगवत्प्राप्तिका परिपूर्ण आनन्द मिलता है और परम ज्योतिमे आत्मज्योति मिल जाती है ।

१०९ बिन-परिचे . ब्यौपारा=बिना परिचयके ही तुम साहेब (मालिक) हो बैठे और विषयोंका व्यापार करने लगे। बाद करै=व्यर्थ ही अहङ्कार करते हो । अगम छारा=इन दंभी भेषोंने "भजनभेदरूपी बीजको जो अगम अथाह और महा गहिरा है अपने हृदयरूपी खेतमें नहीं बोया, जिन सच्चे भक्तोंने उसे महा अर्थात् मथा वह कर्मकी मैलको काटकर ध्यानमें मगन हो बैठे ।" (शब्दा० पृ० ४९) जिनके. .बिचारा=आहार सदा केवल अन्तरका तत्त्वविचार ही है ।

११० गगन गुफा=पिण्डका सर्वोच्च स्थान, सत्यलोक (दे० पृ० ५९ आ०)

बिना ताल जहँ कँवल फुलाने, तेहि चढि हसा केलि करै।
बिन चदा उँजियारी दरसै, जहँ-तहँ हसा नजर परै।
दसवें द्वारे तारी लागी, अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
काल कराल विकट नहि आवै, काम-क्रोध-मद लोभ जरै।
जुगन जुगनकी तृषा बुझानी, कर्म-भर्म-अघ-व्याधि टरै।
कहैं कबीर सुनो भाइ साधो, अमर होय कबहूँ न मरै।

१११

चुवत अमीरस भरत ताल जहँ, शब्द उठै असमानी हो।
सरिता उमड सिंधुको सोखै, नहिं कछु जात बखानी हो॥
चाँद-सुरज-तारागण नहि वहँ, नहिं वहँ बिहानी हो।
बाजे बजें सितार-बाँसुरी, ररकार मृदु बानी हो॥
कोट झिलमिली जहँ वह झलकै, बिन जल बरसत पानी हो।

अजर=जराहीन, नित्य नवीन। दसवे धर=दसवे द्वारपर समाधि लगी, तब वह अलख पुरुष दिखा जिसका (योगी लोग) ध्यान करते हे (दे० पृ० ६३) बिना ताल परै=बिना सरोवरके कमल, कमलके बिना फूल, चन्द्रके बिना ज्योत्स्ना आदिसे कबीरका तात्पर्य यह है कि प्रफुल्लता या आह्लादकता प्रभृति धर्म लोकमें बिना ठोस गुणमय आधारके नहीं दिखते, किन्तु जिस आनन्दलोककी बात वे बता रहे हैं वहाँ प्रफुल्लता आदि धर्म तो है पर उनके ठोस आधार पुष्पकी आकृति आदि नहीं है और न उनके ठोस गुणमय हेतु सरोवर आदि हैं वहाँ। प्रफुल्लता आह्लादकता आदि अनवच्छिन्न (एब्स ट्रेक्ट) धर्मकी विभुति मात्र होती है।

१११ अमीरस=अमृत रस। असमानी शब्द=अनाहत नाद। सरिता..., सोखै=नदी उमड़कर समुद्रको सुखा लेती है अर्थात् भक्ति भवसागरको सुखा देती है, संसारिक ताप दूर कर देती है। ररकार=ध्वनिविशेष। कबीरसम्प्रदायमे तीन ध्वनियोंके सुनाई देनेकी चर्चा आती है—सोहं सोहं (ॐ) और ररकार।

शिव-अज-बिस्नु-सुरेश-सारदा, निज निज मति अनुमानी हो ॥
दस अवतार एक तत राजै, असतुति सहज सयानी हो ।
कहै कबीर भेदकी बातै, बिरला कोइ पहिचानी हो ॥
कर पहचानि फेर नहिं आवै, जम जुलमीकी खानी हो ॥ १२ ॥

११२

अवधू, कुदरतिकी गति न्यारी ।
रंक निवाज करै वह राजा, भूपति करै भिखारी ॥
ये तें लवगहिं फल नहिं लागे, चदन फूल न फूलै ।
मच्छ शिकारी रमै जगलमें, सिंह समुद्रहि झूलै ॥
रेंडा रूख भया मलयागिर, चहुँ दिसि फूटी बासा ।
तीन लोक ब्रह्मांड खंडमें देखै अध तमासा ॥
पगुल मेरु सुमेर उलघै त्रिभुवन मुक्ता डोलै ।
गूँगा ज्ञान-विज्ञान प्रकासै अनहद बानी बोलै ॥
बाँधि अकास पताल पठावै सेस सरगपर राजै ।
कहै कबीर राम है राजा जो कछु करै सो छाजै ॥

कोट =पानी—करोड़ो बिजलीकी झिलमिलाहट वहाँ झलकती रहती है और दिन रात (आनद-वारिकी) वर्षा होती रहती है । एक तत राजै=एक समान विराजते हैं ।

११२ सीधा अर्थ यह जान पड़ता है कि रामकी माया, चाहे तो रंकको राजा कर दे, राजाको रंक, लौंगमें फल लगा दे, चदनमें फूल, रेंडको मलयागिरि बना दे और उससे सुगधी निकलने लगे, अधा तीन लोक ब्रह्माण्ड खडमें तमासा देखने लगे, पगु (लँगड़ा) मेरु सुमेरु लाँघने लगे और मुक्त (निर्वाध) होकर ससारमें डोलता फिरे, गूगा ज्ञान विज्ञान प्रकाशित करता फिरे और अनहद बानी बोलने लगे, आकाशको बाँधकर पातालमें पठा दे और शेष नागको स्वर्गमें भेज दे । कबीर कहते हैं कि राम ही राजा है । जो कुछ करे वही उन्हे शोभता है । साम्प्रदायिक व्याख्याओंके लिए दे० शब्द २३, पर त्रिज्या और विरत० ।

११३

अगिनी जु लागी नीरमे, कदू जलिया झारि ।
उतर-दखिनके पडिता, रहे बिचारि बिचारि ॥ १ ॥

गुरु दाझा चेला जला, बिरहा लागी आगि ।
तिणका बपुरा ऊबरया, गलि पूरेके लागि ॥ २ ॥

अहेडी दौ लाइया, मिरग पुकारे रोइ ।
जा बनमें क्रीडा करी, दाझत है बन सोइ ॥ ३ ॥

पाणीं माहैं परजली भई अप्रबल आगि ।
बहती सलिता रह गई, मच्छ रहे जल त्यागि ॥ ४ ॥

समँदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोयला भई ।
देखि कबीरा जागि, मच्छी रूखा चढि गई ॥ ५ ॥

---

११३ (१) पानीमें आग लगी और कदू=भड़भूजा, आग लगानेवाला, जल गया। आग भगवद्विरह, पानी भव-सागर और कंदू मनकी कल्पना है। टीकाओंमें 'कंदू' का अर्थ कीचड़ दिया हुआ है (कर्दम कदर कदू)। उस अर्थको माननेपर भाव यह होगा कि पानी कीचड़ तक जल गया उसका कोई अवशेष नहीं बचा। उतर-दखिनके पडिता=उत्तरके ज्ञानमार्गी योगी, दक्षिणके वैष्णवमार्गी आचार्य नहीं समझ सके। (२) गुरु (भगवान्) ने आग लगाई। चेला= जीवका अहंकार भाव अर्थात अपनेको पृथक् माननेका अभिमान। आग= विरहाग्नि। तिनका=इस शब्दके दो भाव हैं, एक तृण और दूसरा उनका। (तदीय जन) अर्थात् भक्त। तिनका अर्थ हुआ निरभिमान भक्त। गलि पूरेके लागि=पूरेके गले लगकर, पूर्णसे मिलकर (भक्त बच गया)। (३) अहेड़ी= अहेरी (गुरु)। दौं=दावाग्नि (विरहाग्नि)। दाझत है=जलता है। मिरग=मृग (मन) (४) पाणी.. परजली=पानीमें प्रज्वलित हुई। अप्रबल=बलवान्। सलिता=नदी। (५) समुद्र (भवसागर), नदियाँ=प्रवृत्तियाँ। मच्छ=जीव। रूखाँ=ऊर्ध्व ब्रह्माण्डमें।

११४

कासों कहो को सुने को पतियाय, फुलवाके छुवेके भँवर मरि जाय।
गगन-मँडल महँ फूल एक फूला, तरि भा डार उपर भा मूला।
जोतिये न बोइये सिंचिये न सोय, बिनु डार बिनु पात फूल एक होय।
फूल भल फूलल मालिनि भल गाथल, फुलवा बिनसि गैल भँवरा निरासल॥
कहँहिं कबीर सुनहु संतो भाई, पंडित-जन फूल रहत लुभाई।

११५

चंद-सूर दोई खंभवा, बंक नालिकी डोरि।
झूल पंच पियरियाँ तहँ झूलै पिय मोर॥ १॥
द्वादस गमके अंतरा, तहँ अमृतकौ ग्रास।
जिनि यहु अंमृत चाषिया, सो ठाकुर हम दास॥ २॥
सहज सुनिकौ नैहरौ, गगन-मँडल सिरि मौर।
दोऊ कुल हम आगरी, जौ हम झूलैं हिंडौल॥ ३॥
अरध-ऊरधकी गंगा जमुना, मूल कँवलकौ घाट।
षट चक्रकी गागरी, त्रिबेणी-संगम बाट॥ ४॥

---

११४ फुलवा=कमल। भँवरा=जीवात्मा। भँवर-गुफामें १२ दलके श्वेत कमलकी बात बताई जाती है। इसीको 'निजपद' कहते हैं। यहाँ पहुँचनेपर जीवका अहंभाव नष्ट हो जाता है। परन्तु यहाँ भी उसे सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त होता। जब इस गुफासे ऊपर उठता है तब उसे निरकार देशमें सत्य पुरुषका साक्षात्कार होता है। फिर वह समस्त आशा आकांक्षाओं और राग-विरागके ऊपर चला जाता है। फूलके छूनेसे मरनेवाला जीवका अहंभाव है और फूलके नष्ट होनेसे निराश होना उसी परमपदको सूचित करता है। कमलोंकी माला गूँथनेवाली कुण्डलिनी है।

११५ (१) चन्द्र सूर=इड़ा और पिंगला। बंक नालि=कुण्डलिनी। पाँच पियरिया=पाँच ज्ञानेन्द्रिय। पिय=मन।

नाद-बिंदकी नाव री, रामनाम कनिहार।
कहै कबीर गुण गाइले, गुर गमि उतरौ पार ॥ ५ ॥

११६

उलटि जात-कुल दोऊ बिसारी। सुन्न सहज महि बुनत हमारी।
हमरा झगरा रहा न कोऊ। पंडित-मुल्ला छाँडे दोऊ।
बुनि बुनि आप आप पहिरावो। जहँ नहीं आप तहाँ है गावो।
पंडित-मुल्ला जो लिखि दीया। छाँडि चले हम कछू न लीया।
रिदै खलासु निरखि ले मीरा। आजु खोजि खोजि मिलै कबीरा ॥

---

(२) द्वादस गम=बारह अन्तराल। ५ कर्मेन्द्रिय, ५ ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि (तुल०—इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मन, मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः)। अमृत चाखिया=अमृत चखा, निजरूपको समझ सका।

(३) सहज शून्य मेरा नैहर है, गगन-मंडलकी ओर मेरे सिरपर है अर्थात् गगन-मण्डल मेरा सासुरा है। हम दोनों कुलका गुन आगरी हैं। तभी हम दोनो हिंडोरा झूल रही हैं। मेरे लिये सहज और समाधि दोनों समान रूपसे आवश्यक हैं।

(४) गंगा=इड़ा, यमुना=पिंगला, त्रिवेणी=ब्रह्मरन्ध्र (दे० पृ० ४५)।

(५) नाद बिंद=नाद और बिंदु। कनिहार=कर्णधार, पतवार पकड़नेवाला। गुरगमि=गुरुके बताए मार्गसे।

११६ उलटि . हमारी=मैंने जाति और कुल दोनोंको बिसार दिया है। शून्य और सहजमें ही मैं अपना कपड़ा बुनता हूँ। बुनि बुनि आप. =स्वय ही बुनता हूँ और स्वयं अपने आपको पहनाता हूँ। जहँ गावों=जहाँ अपने आपको नही पाता वहीं जाकर गान गाता हूँ। (गानके द्वारा अपने आपको पानेका प्रयत्न करता हूँ।) रिदै =ऐ मीर, देख ले मेरा हृदय खलास है। इसमें पंडितों और मुल्लाओंकी कोई बात नही रह गई है।

११७

धरती-गगन-पवन नाहि होता, नाहिं तोया नहिं तारा।
तब हरि हरिके जन होते, कहै कबीर विचारा ॥
जा दिन कृत्तम ना हुता, होता हट न पट।
हुता कबीरा राम-जन, जिन देखे अवघट घट ॥

११८

बूझहु पंडित, करहु बिचारी, पुरुष अहै की नारी।
बाम्हनके घर बाम्हनि होती, योगीके घर चेली।
कलमा पढ़ि पढ़ि भई तुरुकिनी, कलिमें रही अकेली।
बर नहिं बरै ब्याह नहिं करई, पुत्र-जन्म-होनिहारी।
कारे-मूडे एक नहिं छोडे, अब ही आदिकुँवारी ॥
रहै न मैके जाइ न ससुरे साईके सँग सोवै।
कह कबीर वह जुग जुग जीवै जाति-पाँति-कुल खोवै ॥

११९

अवधू, ऐसा ग्यान विचार।
भेरे चढे सु अधधर डूबे, निराधार भये पार ॥

---

११७ एक सौ पांचवें पद्यके समान भाव है।

११८ मायाका वर्णन है। कारे=काले केशवाले, गृहस्थ। युवा। मूडे=मुंडित केशवाले, संन्यासी। रहै न मैके...=न मैके रहती है न सासुरे जाती है, फिर भी पतिके साथ सोती है। माया अनादि है इसलिये उसके मैकेका प्रश्न ही नहीं उठता, उसका पतिगृह समस्त जगत है अतएव सासुरे जानेका सवाल नहीं उठता। वह मायापति अपर ब्रह्मके साथ नित्य बनी रहती है।

११९ भेरे=बेडेपर, छोटी नावपर। पेडपत्तोंको काटकर उतराकर बहने लायक भेला बनाया जाता है। यहाँ जड शरीरसे मतलब है। जो लोग इस जड शरीर-

अधर चले सो नगरि पहूँते बाट चले ते लूटे ।
एक जेवडी सब लपटॉने के बॉधेके छूटे ॥
मन्दिर पैसि चहूँ दिसि भीगे, बाहरि रहे ते सूपा ।
सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा ॥
बिन नैननके सब जग देखै, लोचन अछते अंधा ।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यह जग देख्या धंधा ॥

१२०

राम गुन बेलडी रे, अवधू गोरषनाथि जाणी ।
नाति सरूप न छाया जाकै, बिरध करै बिन पाणी ॥
बेलडिया द्वै अणीं पहूँती, गगन पहूँती सैली ।
सहज बेलि जब फूलण लागी, डाली कूपल मेल्ही ॥
मन-कुंजर जाइ बाडी बिलम्या, सतगुर बाही बेली ।
पंच सखी मिलि पवन पयप्या, बाडी पांणी मेल्ही ॥
काटत बेली कूपले मेल्ही, सींचताडीं कुमिलांणीं ।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरन्तर जांणी ॥

रूपी भेलेको ही सब कुछ समझकर इसीपर भरोसा करके भव-सागरमें चल पड़े वे अधधर (आधी धारमें) डूब गए । निराधार=शरीरको सब कुछ न समझकर इसके भीतरवाले चैतन्यको आधार करनेवाले । अधर चले=जो लोक अधर मार्गसे या शून्य मार्गसे चले वे नगरमें अर्थात् अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच गए । बाट= रास्ता, बाह्याचार, मदिर=घर । चहू दिसि भीगे=जो लोग विषय-वासनाके मंदिरमें घुसे वे भीग गए, पर जो बाहर रहे वे सूखे रहे । सरि=चितापर, भगवद्विरहकी आगसे मतलब है । दूषा=दु खी रहे । बिन नैनन=बाहरी ऑखोंके अभावमें और ज्ञान-चक्षुसे । लोचन अछते=बाहरी ऑखोंके रहते हुए ।

१२० भक्तिरूपी राम गुनकी बेल (लता) को अवधूत गोरखनाथने जाना था । न उसकी जाति (नाति) है, न रूप है, न छाया है । बिना पानीके वृद्धि पाती है । बेलके दो सिरे हैं जिनमे एक अवनीमें और दूसरी गगनमें फैली हुई

१२१

सावज न होय भाई सावज न होइ,
वाकी मासु भखैं सब कोइ ।
सावज एक सकल संसारा अविगत वाकी बाता ।
पेट फारि जो देखिय रे भाई, आहि करेज न आँता ।

है । यह सहज बेल जब फूलने लगी अपनी डालियों और कोपलोंको फैलाकर—तब मनरूपी हाथीने इसके थालेको बरबाद कर दिया फिर तो सतगुरुने इस बेलिको सहारा दिया । पाँच सखियोंने मिलकर (पाँच ज्ञानेन्द्रियोंने) इस रामगुनकी बेलको हवाकी ओर वाडीम पानी डालकर सींचा (विषय रससे सींचा) । परन्तु आश्चर्य यह है कि इस बेलको जब काटा जाता है तब तो इसमें नये नये कोंपल आते हैं और जब सींचा जाता है तो कुम्हला जाती है (क्योंकि काटनेका मतलब है रामगुणरूपी बेलीको नीचेसे काटकर ऊपरकी ओर ले जाना और सींचनेसे मतलब है विषय रससे सिक्त करना) । कोई विरला ही योगी इस निरन्तर सहज लताको जानता है ।

इस पदसे मिलता-जुलता एक गोरखबानी (पृ० १०६–१०८) में छपा है । इस पदमें 'तत बेली' अर्थात् तत्त्वरूप लताकी चर्चा है । कबीरवाले पदमें जिस स्थानपर "बेलडिया" आदि पंक्तियाँ हैं वहाँ गोरखबानीवाले पदका पाठ इस प्रकार है—

> बेलड़िया दौं लागी अवधू, गगन पहूंती झाला ।
> जिम जिम बेली दाझबा लागी, तब मेल्हे कूपल डाला ॥

अंतिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं ।

> काटत बेली कूपले मेल्हीं सींचतड़ा कुमलाये ।
> मछिन्द्रप्रसादें जती गोरख बोल्या नित नवेलड़ी थाये ॥

१२१ सावज=शिकार (अर्थात् मायाद्वारा कल्पित यह मिथ्या जगत्), मांसु भखैं=मास खाते हैं, भोग करते हैं । सावज ... बाता=यह सारा संसार एक शिकार है जिसकी बात समझमें नहीं आती । आहि ... आँता=न कलेजा है, न आँत है क्योंकि वह संपूर्ण मिथ्या है । हाड—पवारै=विवेकी लोग उसका हाड

ऐसी वाकी मांसु रे भाई, पल पल मासु बिकाई ।
हाड-गोड ले घूर पँवारै, आगि-धूआँ नहि खाई ।
सीर-सींग किछु वो नहिं वाके, पूँछ कहाँ तै पावै ।
सभ पडित मिलि धंधे परिया, कबीर बनोरी गावै ॥

१२२

सतो यह अचरज भो भाई, कहौं तो को पतिआई ॥
एकै पुरुख एक है नारी, ताकर करहु बिचारा ।
एकै अड सकल चौरासी, मार्ग भूल ससारा ॥
एकै नारी जाल पसारा, जगमे भया अँदेसा ।
खोजत काहू अत न पाया, ब्रह्मा-बिस्तु महेसा ॥
नाग-फाँस लीन्हे घट भीतर, मूसि सकल जग खाई ।
ज्ञान खड्ग बिन सब जग जूझै, पकरि काह नहिं पाई ॥
आपहि मूल फूल-फुलवारी, आपहि चुनि चुनि खाई ।
कह कबीर तेई जन उबरे, जेहि गुरु लिये जगाई ॥

१२३

संतो, धागा टूटा गगन विनसि गया,
सबद जु कहाँ समाई ।
ए संसा मोहि निस-दिन ब्यापै,
कोइ न कहै समझाई ॥

और गोड (पैर) सब घूरेपर फेंक देते हैं, अर्थात उसे पूर्ण रूपसे त्याग देते हैं। सीर=सिर। सभ ,गावै=सभी पडित इसे देखकर गोरख धंधेमें पड़ गये हैं और कबीरदास कहते हैं कि वे लोग 'बनोरी' (अपने मनसे बनाई हुई, बनावटी बाते) गा रहे हैं।

१२२ मायाका वर्णन है। मूसि=ठगकर।

१२३ धागा=सूत, ध्यानका सूत्र। हे सन्तो, अनेक हठयोगी क्रियाओंके बाद

नहीं ब्रह्मड प्यड पुनि नाही,
पञ्च तत्त भी नाहीं ।
इला-प्यगला-सुषमन नाहीं,
ए गुण कहाँ समाहीं ॥
नही ग्रिह-द्वार कछू नहीं तहियाँ,
रचनहार पुनि नाहीं ।
जोवनहार अतीत सदा सँगि,
ये गुण तहाँ समाहीं ॥
टूटै बँधै बँधै पुनि टूटै,
जब तब होइ बिनासा ।
तबको ठाकुर अबको सेवग,
को काके बिसवासा ॥
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै,
जो धागा उनमाना ।
सीखे-सुने-पढे का होई,
जौ नहिं पदहि समाना ॥

जो ध्यानरूपी सूत्र तयार हुआ वह जब टूटा तो गगनवास या शून्य-समाधि भी नष्ट हो गई और जो अनाहत ध्वनि सुनाई देती रही वह भी न जाने कहाँ चली गई । मुझे यह सदेह बराबर बना हुआ है पर कोई समझाके नहीं कहता (दे० खसमपर विचार)। वस्तुतः जो परमपद है वहाँ पिण्ड, ब्रह्माण्ड, पचतत्त्व, इडा पिंगला आदि नाड़ियाँ यह सब कुछ है ही नहीं (अतएव इन्हीके आश्रयसे जिस स्थानतक गया है वह इन्हींके समान नाशमान है)। जोवनहार =देखनेवाला आत्मा तो इनके अतीत है और सदा उसके साथ है, ये सब गुण उसीमे समा जाते हैं। तबको बिसबासा=उस समयका मालिक अब सेवक हो जाता है अर्थात् मनुष्यका वह अहभाव जो इन क्रियाओंके समय मालिक बना रहता है, परमपुरुषके साक्षात्कार होनेके बाद निरहकार होकर दास हो जाता है। अहभाव इस निरहंकारपर विश्वास नहीं करता और

१२४

कर पल्लवके बल खेल नारि ।
पंडित जो होय सो ले बिचारि ॥
कपरा नहिं पहिरै रहै उघारि ।
निरजीवै सो धन अति पियारि ॥
उलटी-पलटी बाजै सो तार ।
काहुहि मारै काहुहि उबार ॥
कह कबीर दासनके दास ।
काहुहि सुख दे काहुहि उदास ॥

१२५

ए गुनवन्ती बेलरी, तव गुन बरनि न जाय ।
जहँ काटे तहँ हरियरी, सींचे ते कुम्हिलाय ॥

यह उसपर नहीं । कहै =कबीर कहते हैं कि इस सेवक भावका जो धागा है (निरीह भक्तका जो ध्यान सूत्र है । वह मेरी समझमें ऐसा है जिससे कभी भी समाधि नहीं टूटती (क्योंकि वह सहज हो जाती है) । जो उस परमपदमें एकमेक होकर समा नहीं गए उन्हें सीखने सुनने और पढ़नेसे क्या होता है ।

१२४ नारि=वाणी । कपरा . =कपड़ा नही पहनती, नगी ही रहती है । ससारको भरमानेवाले तथाकथित पंडितोंकी वाणी केवल हाथसे लिखी हुई है (समझी हुई नही है) । अतएव कर पल्लवके बलसे ही खेलती है । उसके अर्थ गूढ नही होते इस लिये वह मानों ऐसी है जो कपड़ा नही पहनती, उघाडी फिरती है । इस धन (धन्या=घरकी दुलारी) को निर्जीव वस्तुएँ ही प्यारी हैं । इसकी वीणा उलटी सुलटी बजती रहती है, किसीको मारती है, किसीको उबारती है । परन्तु जो भगवानके भक्त है उनपर इसकी प्रभुता नहीं चलती । वह उनकी दासी हो जाती है । इस प्रकार वह किसीको सुख देती है किसीको दु ख ।

१२५ गुनवन्ती बेलरी=भक्ति (तुल० पद १२०) । करनाई बेलि=माया । सिद्ध नाम=भगवान्के नामकी सिद्धि ।

ए करुवाई बेलरी, है करुवा फल तोय ।
सिद्ध नाम जब पाइये, बेलि बिछोहा होय ॥

१२६

राम तेरी माया दुद मचावै ।
गति-मति वाकी समझि परै नहि, सुर-नर मुनिहि नचावै ।
का सेमरके साखा बढये, फूल अनूपम बानी ।
केतिक चातक लागि रहे है, चाखत सुवा उडानी ॥
कहा खजूर बडाई तेरी, फल कोई नहीं पावै ।
ग्रीखम रित अब आइ तुलानी, छाया काम न आवै ॥
अपना चतुर औरको सिखवै, कामिनि-कनक सयानी ।
कहैं कबीर सुनो हो सन्तो, राम-चरण रति माना ॥

१२७

ई माया रघुनाथकी बौरी, खेलन चली अहेरा हो ।
चतुर चिकनिया चुनि चुनि मारे, काहु न राखे नेरा हो ।
मौनी-वीर-दिगबर मारे, ध्यान धरते जोगी हो ।
जगलमेके जगम मारे, माया किन्हहुँ न भोगी हो ।

---

१२६ दुद=द्वद्व, बखेडा । बानी=बानेका, ढँगका वर्ण बान । चातक=अभिलाषी पक्षी । भला सेमरकी शाखा बढानेसे और अनुपम ढँगका सुदर फूल खिलानेसे क्या फायदा जिसमें अनेक फलाभिलाषी पक्षी लगे रहते है, पर फल चखते ही सूआ (तोता) उडनेको बाध्य होता है । खजूरकी बड़ाई (लबाई) से क्या लाभ जब ग्रीष्म ऋतुमे उसकी छाया किसी काम नही आती । ऐसी निरर्थक बाते तुम्हारी मायाने खडी कर रखी हैं । वह अपनी चातुरी औरोंको सिखा देती है और वे भी इसी प्रकार निष्फल सौंदर्यसे दूसरोंको धोखा देते हैं । कामिनी (स्त्री) और सोनेमें यही सयानापन है । कबीर कहते हैं कि हे सन्तो, (यह सब देखकर) हमने रामचरणमें ही प्रीति मानी है ।

बेद पढते बेदुआ मारे, पुजा करंते सामी हो ।
अरथ विचारत पडित मारे, बाँधेउ सकल लगामी हो ।
सिंगी रिषि बन भीतर मारे, सिर ब्रह्माका फोरी हो ।
नाथ मछदर चले पीठि दै, सिंहलहूमें बोरी हो ।
साकटके घर करता-धरता हरि-भगतनकी चेरी हो ।
कहहि कबीर सुनहु हो सन्तो, जौ यावै तौ फेरी हो ।।

१२८

अब हम जाना हो हरि बाजीको खेल ।
डक बजाय देखाय तमाशा, बहुरि सो लेत सकेल ।
हरि बाजी सुर-नर-सुनि जहँडे, माया चेटक लाया ।
घरमें डारि सबन भरमाया, हिरदय ज्ञान न आया ।।
बाजी झूँठ बाजीगर साँचा, साधुनकी मति ऐसी ।
कह कबीर जिन जैसी समझी, ताकी गति भइ तैसी ।

१२९

बागड देस लूवनका घर है, तहँ जिनि जाइ दाझनका डर है ।
सब जग देखौ कोइ न धीरा, परत धूरि सिर कहत अबीरा ।।
न तहाँ सरवर न तहाँ पाणी, न तहाँ सतगुरु साधू-वाणी ।।
न तहाँ कोकिल न तहाँ सवा, ऊँचे चढि चढि हसा मूवा ।।

---

१२७ बीर=शैव-विशेष । दिगबर=जनियोका सप्रदायविशेष और नागा संन्यासी । जगम=जगम साधु । सामी=स्वामी, सन्यासी । बाँधेउ.. हो=सबको लगामसे बाँध रखा है । शृङ्गी ऋषि=वनमे तप करते थे फिर भी स्त्रीपर आसक्त हुए थे । ब्रह्माका सिर फोड दिया=मति भ्रष्ट कर दी । मछदरनाथ सिहलकी स्त्रियोंके प्रेममें आसक्त हो गए थे, गोरखनाथने उनका उस जालसे, उद्धार किया था । साकट=शाक्त, वाममार्गी ।

१२८ हरि...खेल=भगवान्की बाजीगरी का खेल, मायाकी लीला ।

देस मालवा गहर गँभीर, डग डग रोटी पग पग नीर ॥
कहै कबीर धरती मन माना, गूगेका गुड गूगे का जाणा ॥

१३०

रहना नहिं देस बिराना है ।
यह संसार कागदकी पुड़िया, बूँद पडे घुल जाना है ।
यह ससार कॉटकी बाडी, उलझ-पुलझ मरि जाना है ।
यह ससार झाड औ झॉखर, आग लगे बरि जाना है ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है ।

१३१

(बुढ़िया) हँसि बोले मैं नितही बारि, मोसो कहु तरुनी कवनि नारि
दॉत गयल मोर पान खात, केस गयल मोर गग न्हात ।
नयन गयल मोर कजरा देत, बयस गयल पर-पुरुप लेत ।
जान पुरुषवा मोर अहार, अनजानेका करो सिगार ।
(कहहिं) कबीर बुढिया आनँद गाय, पूत भतारहि बठी खाय ।

१३२

सुवटा डरपत रहु भाई, तोहि डराई देत बिलाई ॥
तीनि बार रूधै इक दिनमै, कबहुँक खता खवाई ॥

---

१२९ बागड़ देस=बागर देश, नदीहीन प्रदेश । लूवन=लूकी लपट । दाझन=जलना । यह ससारकी विषयवासना ही बॉगर देश है । मालवा=मालभूमि, उपजाऊ जमीन ।

१३० देस विराना=(१) वीरान देश, मरुभूमि, (२) दूसरेका देश, (३) अज्ञात देश ।

१३१ बुढिया=माया । बारि=बाला, युवती । गयल=गया । जान पुरुषवा=चतुर पुरुष जो अपनेको ज्ञानी समझते हैं । अनजानेका=अज्ञात ब्रह्मके लिये ।

१३२ सुवटा=सुग्गा । बिलाई=बिल्ली । यहाँ जीव और मायासे मतलब है ।

या मजारी मुगध न माँनै, सब दुनियाँ डहकाई ।
राणाँ-राव रककौ व्यापै, करि करि प्रीति सवाई ॥
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा, उबरै हरि सरनाई ।
लाषौ माँहिं तै लेत अचानक, काहू न देत दिखाई ॥

१३३

" तुम्ह घरि जाहु हमारी बहना, विष लागै तिहारे नैना ॥
अजन छाडि निरजन राते, ना किसहींका दैना ।
बलि जाऊँ ताकी जिनि तुम्ह पठई, एक भाई एक बहना ॥ "
" राती खाँडी देखि हमारा सिंगारो ।
सरग-लोकथै हम चलि आई, करन कबीर भरतारी ॥ "
" सरगलोकमे क्या दुख पडिया, तुम्ह आई कलिमाँहीं ।
जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहुँ पतीजौ नाहीं ॥
तहाँ जाहु जहाँ पाट-पटबर, अगर चदन घसि लीना ।
आइ हमारै कहा करौगी, हम तौ जाति कमीना ॥
जिनि हम साजे साज्य निवाजे, बाँधे काचै धागे ।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, पाणी आगि न लागै ॥
साहिब मेरा लेखा माँगै, लेखा क्यू करि दीजै ।
जे तुम्ह जतन करो बहुतेरा, तो पाहण नीर न भीजै ॥
जाकी मै मछी सो मेरा मछा सो मेरा रखवाल्हू ।
टुक एक तुम्हारै हाथ लगाऊँ तौ राजाराम रिसाल्हू ॥

तीनि खवाई=कभी तो खना खा जायगा, धोखा खा जायगा, इस आशासे दिनमें तीन वार राह रोककर खडी होती है । मजारी=विल्ली । मुगध=मूर्ख । डहकाई=दुख दे रही है । लापौ दिखाई=लाखोंकी भीड़में भी अचानक घर दबोचती है, किसीको दिखाई नही देता ।

१३३ कबीर और मायाका सवाद है । " ऐ मेरी बहन माया, तुम अपने घर जाओ, तुम्हारी आँखोंमें विष लगा है । हम तो अजनरूप ससारको छोडकर

जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौ उपासी ।
आसि-पासि तुम्ह फिरि फिरि बसौ एक माउ एक मासी ॥"

१३४

माया महा ठगनी हम जानी ।
तिरगुन फाँसि लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी ॥
केसवके कमला होइ बैठी, सिवके भवन भवानी ।
पंडाके मूरत होइ बैठी, तीरथहूमें पानी ।
जोगीके जोगिन होइ बैठी, राजाके घर रानी ।
काहूके हीरा होइ बैठी, काहूके कौडी कानी ।
भक्तनके भक्तिन होइ बैठी, ब्रह्माके ब्रह्मानी ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी ।

१३५

अब मोहि ले चलु ननदके बीर अपने देसा ।
इन पचन मिलि लूटी हूँ, सग-सग, आहि बिदेसा ।
गगतीर मोरी खेती-बारी, जमुनतीर खरिहाना ।
सातो बिरवी मेरे नीपजै, पाचू मोर किसाना ।
कहै कबीर यह अकथ कथा है, कहना कही न जाई ॥
सहज भाइ जिहि ऊपजै, ते रमि रहै समाई ॥

निरंजनमें माते हैं, हमें किसीसे क्या लेना देना। बलिहारी है उनकी जिन्होंने तुम्हें भजा है। हम एक भाई और एक बहन ह।" इसपर माया कहती है—"ऐ कबीर इस लाल तलवार (मदमत्त नथनो) को देखो, यह मेरा शृंगार देखो। मैं स्वर्गलोकसे कबीरको पति बनानेके लिये आई हू।"

इसके बाद कबीरका उत्तर है। पतीजौ=प्रतीति। जाकी =मै जिसकी मछली हूँ वही मेरा मछुआ है और वही मेरा रखवाला भी है (तुम मुझे नही पकड सकतीं)। रिसाव=खीजेंगे, अप्रसन्न होंगे।

१३५ ननदके बीर=ननदके भाई, पति। पंचन=पॉच इंद्रिय। सग

१३६

लावौ बाबा आगि जलावो घरा रे।
ता कारनि मन धंधे परा रे।
इक डाइनि मेरे मनमे बसे रे,
नित उठि मेरे जियको डॅसे रे।
ता डाइनिके लरिका पॉच रे।
निसि-दिन मोहि नचावै नाच रे।
कहै कबीर हूॅ ताकौ दास,
डाइनिके सॅग रहै उदास ॥

१३७

बहुरि नहिं आवना या देस।
जो जो गये बहुरि नहिं आये, पठवत नाहि सॅदेस।
सुर-नर-मुनि और पीर औलिया, देवी-देव-गनेस।
धरि धरि जनम सबै भरमे हैं, ब्रह्मा-बिस्नु-महेस।
जोगी जगम और सन्यासी, दीगम्बर दरबेस।
चुडित-मुडित-पडित लोई, सुर्ग रसातल सेस।
ग्यानी गुनी चतुर औ कविना, राजा रंक-नरेस।
कोइ रहीम कोइ राम बखानै, कोई कहै आदेस।
नाना भेप बनाय सबै मिलि, ढूॅढि फिरे चहुँ देस।
कहै कबीर अत ना पैहौ, बिन सतगुरु उपदेस।

विदेसा=ये विदेशमें साथ साथ है। गगतीर किसान=इड़ाके तटपर मेरी खेती होती है और पिंगलाके किनारे खलिहान है। सातो बीज मेरे खेतमें पैदा होते हैं। सातो बीज सात धातुऍ—चर्म, रुधिर, मास, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य हैं। पॉच मेरे किसान हैं। ये पॉचों ज्ञानेंद्रिय हैं।

१३६ आगि=भगवद्विरहकी अग्नि। घरा=मोह-मायाकी दुनिया। डाइनि=ममता। लरिका पॉच=पॉच इन्द्रियोंके विषय।

१३८

कहूँ रे जे कहिबेकी होइ ।
ना को जानै ना को मानै, ताथैं अचिरज मोहि ॥
अपने अपने रगके राजा, मानत नाहीं कोइ ॥
अति अभिमान लोभके घाले, चले अपनपौ खोइ ॥
मै मेरी करि यहु तन खोयौ, समझत नहीं गॅवार ॥
भौजलि अधफर थाकि रहे हैं, बूडे बहुत अपार ॥
मोहि आग्या दई दयाल दयाकरि, काहूकू समझाइ ॥
कहैं कबीर मै कहि कहि हारयो, अब मोहि दोस न लाइ ॥

१३९

भारी कहौ तो बहु डरौ, हलका कहौं तो झूठा ।
मै का जाणो रामकूँ, नैनू कबहुँ न दीठा ॥ १ ॥
ऐसा अद्भुत जिनि कथै, अद्भुत राखि लुकाइ ।
बेद कुरानौं गमि नहीं, कह्या न को पतिआइ ॥ २ ॥
करताकी गति अगम है, तू चल अपणै उनमान ।
धीरैं धीरैं पाव दे, पहुँचैंगे परवान ॥ ३ ॥

१४०

ऐसा भेद बिगूचन भारी ॥
वेद-कतेब दीन अरु दुनिया, कौन पुरिष कौन नारी ॥
एक बूँद एकै मल-मूतर, एक चाम एक गूदा ॥
एक जोतिथैं सब उत्पन्ना, को बाम्हन को सूदा ।

---

१३७ आदेस=गोरखपथी लोग 'आदेश' 'आदेश' कहते है ।

१३८ तायैं=उससे । भौजलि . अपार=भव जलमें कुछ आवे सूवे लोग तैरते तैरते थक गए हैं और न जाने कितने डूब गए ।

१३९ जाणों=जानूँ । दीठ=दिखाई दिया । गमि=पहुँच । कह्या=कहने पर । आपणै उनमान=अपने अनुमानसे । परवान=परिणाममें, अन्तमें ।

रज-गुन ब्रह्मा तम-गुन संकर, सत-गुन हरि है सोई ॥
कहै कबीर एक नाम जपहु रे, हिंदू तुरक न कोई ॥
माटीका प्यंड सहजि उतपना, नाद रु ब्यंद समांना ।
बिनसि गया थै का नाव धरिहौ, पढ़ि गुनि भ्रम जाना ॥

१४१

साधो एक रूप सबमाहीं ।
अपने मनहि बिचारि कै देखो और दूसरो नाहीं ॥
एकै त्वचा रुधिर पुनि एकै विप्र सूद्रके माहीं ।
कहीं नारि कहीं नर होइ बोलै गैब पुरुष वह नाहीं ॥
सब्द पुकारि सत्त मै भाखौं अन्तर राखौं नाहीं ।
कहै कबीर ज्ञान जेहि निरमल बिरलै ताहि लखाहीं ॥

१४२

मै कासे बूझों अपने पियाकी बात री ।
जान सुजान प्रान-प्रिय पिय बिन, सबै बटाऊ जात री ।
आसा नदी अगाध कुमति बहै, रोकि काहू पै न जात री ।
काम-क्रोध दोउ भये करारे, पडे विषय-रस मात री ।
ये पाँचो अपमानके संगी, सुमिरनको अलसात री ।
कहै कबीर बिछुरि नाहि मिलिहौ, ज्यौं तरवर बिन पात री ।

१४३

या करीम बलि हिकमति तेरी,
खाक एक सूरति बहुतेरी ॥

---

१४० विगूचन=उलझन । [illegible], कुरान । सूद्रा=शूद्र । ब्यद=बिंदु । विनसि =जो नष्ट हो गया उसका क्या नाम है ?
१४१ गैब पुरुष=कोई दूसरा अद्भुत पुरुष ।
१४२ बटाऊ=राही ।

अर्ध गगन मैं नीर जमाया,
बहुत भाँति करि नूरनि पाया ॥
अवलिय-आदम-पीर-मुलाना
तेरी सिफति करि भये दिवाना ॥
कहै कबीर यहु हेतु बिचारा
या रब या रब यार हमारा ॥

१४४

(जाके) बारह-मास वसत होय, (ताके) परमारथ बूझै बिरला कोय।
बरिसै अगिनि अखड धार, हरियर भौ-बन (अ) ठारह भार।
पनिया आदर धरी न लोय, पवन गहे कस मलिन धोय।
बिनु तरिवर फूलै आकास, सिव-विरंचि तहँ लेहिं बास।
सनकादिक भूलै भँवर बोय, लख-चोरासी जोइनि जोय।
जो तोहि सतगुरु सत्त लखाव, ताते न छूटे चरन भाव।
अमर लोक फल लावै चाव, कहँहिं कबीर बूझै सो पाव।

१४५

डँडिया फदाय धन चलु रे, मिलि लेहु सहेली।
दिना चारिको सग है, फिर अत अकेली।

---

१४३ करीम=दयालु। खाक एक बहुतेरा=एक ही मिट्टीसे अनेक रूप उत्पन्न किए हे। अर्ध नीर=मेघका पानी। नूर=प्रकाश। अवलिय=औलिया, सन्त, महात्मा। सिफति करि=गुणगान करके। रब=पालनकर्ता।

१४४ परम पदका वर्णन है। जाके जोय=जहा बारह महीने नित्य वसन्त रहता है। यद्यपि अग्नि (तेज) अखण्ड धारा बरसती रहती है तो भी वन अट्ठारह भार (सपूर्ण) हरयाली धारण किये रहता है। पानीके प्रति लोग आदर नही रखते तो भला पवनमे मेल धोई जा सकती है। पानी=भक्ति। पवन=हठ-योग। वहाँ बिना वृक्षके ही आकाश पुष्पोसे भरा रहता है, शिव और ब्रह्मा उन फूलोंकी महकका रस लेते है, सनकादिक मुनि अमर होकर भूले हुए हैं और चौरासी लाख योनियोको देखते रहते है।

दिन दस नैहर खेलि ले, सासुर निज भरना ।
बहियाँ पकरि पिय ले चले, तब उजर न करना ।
इक अँधियारी कोठरी, दूजे दिया न बाती ।
लेहि उतारि ताही धरों, जहँ सगि न साथी ।
इक अँधियारी कुइयाँ, दूजे लेजुर टूटी ।
नैन हमारे अस ढुरै, मानो गागर फूटी
दास कबीरा यो कहै, जग नाहिन रहना .
सगी हमरे चलि गये, हमहूँको चलना ।

१४६

अमरपुर ले चलु हो सजना ।
अमरपुरीकी सँकरी गलियाँ, अडबड है चढना ।
ठोकर लगी गुरु-ज्ञान शब्दकी, उघर गये झपना ।
वोहि रे अमरपुर लागि बजरिया, सौदा है करना ।
वोहि रे अमरपुर सत बसतु है, दरसन है लहना ।
सत समाज सभा जहँ बैठी, वहीं पुरुष अपना ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, भवसागर है तरना ।

१४७

बाबा अगम-अगोचर कैसा, तातें कहि समझाओ ऐसा ।
जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा न जाई ।
सैना-बैना कहि समझाओ, गूगेका गुड भाई ।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, बिनसै नाहि नियारा ।
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे, पडित करो बिचारा ।

---

१४५ डँडिया=डण्डेमे लगी हुई एक तरहकी पालकीनुमा सवारी । धन=धन्या, दुलहिन । लेजुर=रज्जु, रस्सी ।

१४७ दृष्टि आवै=न ऑखोंसे दिखाई देता है न मुट्ठीमें पकड़ा जाता है, अदृश्य और अग्राह्य ।

१४८

रेख-रूप जेहि है नहीं, अधर धरो नहि देह ।
गगन-मँडलके मध्यें, रहता पुरुष विदेह ॥ १ ॥
सॉई मेरा एक तू और न दूजा कोइ ।
जो साहब दूजा कहै, दूजा कुलको होइ ॥ २ ॥
सर्गुणकी सेवा करौ, निर्गुणका करु ज्ञान ।
निर्गुण सर्गुणके परे, तहैं हमारा ध्यान ॥ ३ ॥

१४९

साईं मोर बसत अगम पुरवा जहँ गमन हमारा ।
आठ कुँआ नव बावडी सोरह हैं पनिहार ।
महल घयलवा थरकि गयल रे धन ठाढी मन मार ।
छोट मोट डॅडिया चदनकै हो, छोट चार कहार ।
जाय उतरिहैं वाही देसवॉ हो, जहॉ कोई ना हमार ।
ऊँची महलिया साहेबकै हो, लगी बिखमी बजार ।
पाप-पुन्न दोऊ बनिया हो, हीरा लाल अपार ।
कह कबीर सुन साइयॉ मोर यॉहिय देस ।
जो गये सो बहुरे ना को कहत सदेस ॥

---

१४९ आठ कुऑ नौ बावड़ी=आठ दिशाऍ और नवखड अर्थात् समूचा जगत । कूप और बावडी इस लिये कहा जाता है कि इससे जाव अपना जीवन-रस सग्रह करता है । जीवनका एक अर्थ जल भी है (तु० जीवानां भरणाधारो जगदेतज्जलाशय) । सोरह पनिहार=पॉच ज्ञानद्रिय, पॉच कर्मेन्द्रिय, पॉच प्राण और मन । घइलवा=घडा अर्थात् यह शरीररूपी घट । धन=दुलहिन, जीव । घडा ढरक गया अर्थात् जीवनी-शक्ति समाप्त हो गई । चार कहारा=शव वहन करनेवाले आदमी ।

१५०

पाँडे बूझि पियहु तुम पानी ।
जिहि मिटियाके घरमँह बैठे, तामँह सिस्ट समानी ।
छपन कोटि जादव जहँ भींजे, मुनिजन सहस अठासी ।
पैग पैग पैगबर गाडे, सो सब सरि भौ माँटी ।
तेहि मिटियाके भाँडे पाँडे, बूझि पियहु तुम पानी ॥
मच्छ-कच्छ घरियार बियाने, रुधिर-नीर जल भरिया ।
नदिया नीर नरक बहि आवै, पसु मानुस सब सरिया ॥
हाड झरी झरि गूद गरी गरि, दूध कहाँते आया ।
सो लै पाँडे जेवन बैठे, मटियहिं छूति लगाया ॥
बेद किलेब छाँडि देउ पाँडे, ई सब मनके भरमा ।
कहहि कबीर सुनहु हो पाँडे, ई तुम्हरे है करमा ॥

१५१

साधो, पाँडे निपुन कसाई ।
बकरी मारि भेडिको धाये, दिलमे दरद न आई ।
करि अस्नान तिलक दै बैठे, बिधिसो देवि पुजाई ।
आतम मारि पलकमे बिनसे, रुधिरकी नदी बहाई ।
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभामाहि अधिकाई ।
इनसे दिच्छा सब कोई माँगे, हँसि आवै मोहि भाई ।
पाप-कटनको कथा सुनावै, करम करावै नीचा ।
बूडत दोउ परस्पर दीखे, गहे बाँहि जम खींचा ।
गाय बधै सो तुरक कहावै, यह क्या इनसे छोटे ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, कलिमे बाम्हन खोटे ॥

१५२

जो पै बीजरूप भगवाना,
तो पंडितका कथिसि गियाना ॥
नहिं तन नहि मन नहि अहँकारा
नहिं सत-रज-तम तीनि प्रकारा ॥
विष-अमृत-फल फले अनेक,
बेद रु बोधक है तरु एक ॥
कहै कबीर इहै मन माना,
केहिधू छूट कवन उरझाना ॥

१५३

पंडित बाद बदन्ते झूठा।
रामा कह्या दुनिया गति पावै,
खाँड कह्या मुख मीठा ॥
पावक कह्या पाव जे दाझै,
जल कहि त्रिपा बुझाई।
भोजन कह्या भूख जे भाजै,
तो सब कोइ तिरि जाई ॥

---

१५२ यदि भगवान् बीजरूप हैं तब तो सब उन्हींका परिणाम है फिर तन मन अहंकार तथा सत्त्व-रज तम आदि गुणोंकी पृथक् सत्ता कहाँ रही? वेद और वेदके बोधक ये दोनों ही वृक्ष हुए, जिनमें विष और अमृत नाना फल लगे हुए हैं। कबीर कहते हैं कि यह सारा प्रपंच मनका कल्पित है, इसमें भला किससे छूटा जाय और किससे उलझा जाय। यह पद कुछ पाठान्तरके साथ बीजकमें आता है। कुछ टीकाकार लोग इसे परिणामवादके खण्डनमें लिखा हुआ बताते हैं।

१५३ पंडित झूठा वाद वदता है। राम कहने मात्रसे यदि दुनिया गति पाती तो खांड (चीनी) कहनेसे मुँह मीठा हो जाता। आग कहनेसे दाह

नरके साथि सूवा हरि बोले,
हरि परताप न जानै ।
जो कबहूँ उडि जाइ जँगलमे,
बहुरि न सुरतैं आनै ॥
सॉची प्रीति विषै मायासू,
हरि भगतनि सूँ दासी ।
कहै कबीर प्रेम नहिं उपज्यौ,
बाध्यौ जमपुरि जासी ॥

१५४

पॉडे न करसी बाद-बिबाद ।
या देही बिन सबद न स्वाद ।
अड ब्रह्मड खड भी माटी,
माटी नवनिधि काया ।
माटी खोजत सतगुरु भेट्या,
तिन कछु अलख लखाया ।
जीवत माटी मूवा भी माटी
देखौ ग्यान बिचारी ।
अति काली माटीमे वासा
लैटै पॉव पसारी ॥

होता और पानी कहनेसे प्यास बुझती, इत्यादि । नरकै.. जानै=आदमीके साथ जब तक तोता रहता है तब तक हरिनाम लेना है । पर जब कभी जंगलमें उड़ जाता है तो याद भी नही करता ।

१५४ पंडित, बाद=विवाद न कर । यह सब कुछ मिट्टी ही है । थभा=खंभा । व्यंद=बिंदु । भानै=तोड़ता है । घडै=गढता है ।

माटीका चित्र पवनका थभा
न्यद सजोगि उहाया ।
भाँनै घडै सवाँरै सोई,
यहु गोव्यदकी माया ।
माटीका मदिर ग्यानका दीपक
पवन बाति उजियारा ॥
तिहि उजियारै सब जग सूझै,
कबीर ग्यान विचारा ॥

१५५

तुम बूझहु पडित कवन नारि । कोइ नाहिं बिआइल रह कुमारि ॥
येहि सब देवन मिलि हरिहि दीन्ह । तेहि चारहुँ युग हरि संग लीन्ह ॥
यह प्रथमहिं पद्मिनि रूप पाय । है साँपिनि सब जग खेदि खाय ॥
ई बर युवतीके बार नाह । अति रे तेज तिया रै निताह ॥
कह कबीर सब जग पियारि । यह अपने बलकवै रहै मारि ॥

---

१५५ बिआइल= प्रसव किया । नारि=माया । किसीने मायाको जन्म नहीं दिया । अर्थात् वह अनादि है । रह कुमारि=वह किसीकी विधिपूर्वक पत्नी नहीं हुई । यह खाय=इसने पहले पद्मिनीका रूप पाया । पद्मिनी, सुलक्षणा स्त्री । बादमें सर्पिणीकी भाँति सारे ससारको खा गई । ई नाह=इस नवयुवतीके नाह (पति) इसके सामने अभी बच्चे ही हैं क्या कि शिव विश्व आदि जिन देवताओको 'मायापति' समझा जाता है वे वस्तुतः मायाद्वारा कल्पित उपाधियोंके कारण ही पृथक् पृथक् नामवाले देवता बने हुए हैं । माया अनादि है देवगण सादि । इसी लिये यह स्त्री नित्य ही उनके सामने तेज बनी रहती है ॥ निताह=नित्य ही । कह मारि=कबीर कहते हैं कि यह माया समस्त जगत्‌को प्रिय लगती है किन्तु अपने बालकोंको ही मार कर जी रही है । क्यों कि जन्म-मृत्युके भवचक्रमें पड़े हुए जीव वस्तुत मायाके कारण ही नश्वर शरीर आदिको आत्मा मानकर नाना प्रकारका क्लेश पाते हैं और बार बार जन्म मरणके चक्रमें पड़ते हैं । इस प्रकार यह माया अपने ही बालकोंको मार रही है ।

१५६

चलन चलन सबको कहत है,
नॉ जानौ बैकुठ कहॉ है।
जोजन एक प्रमिति नहिं जानै,
बातनि ही बैकुठ बखानैं ॥
जब लग है बैकुठकी आसा,
तब लग नहिं हरिचरननिवासा ॥
कहे सुने कैसै पतिअइये,
जब लग तहॉं आप नहिं जइये ॥
कहै कबीर यहु कहिये काहि,
साधा सगति बैकुठहिं आहि ॥

१५७

कर पकरै अंगुरी गिनैं, मन धावै चहुँ ओर।
जाहि फिरायॉ वो मिलै, सो भया काठकी ठौर ॥ १ ॥
केसॉ कहा बिगाडिया, जो मूडै सौ बार।
मनकौ काहे न मूडिए, जामै विषै-विकार ॥ २ ॥
बैस्नौ भया तो क्या भया, बूझा नहीं विवेक।
छापा-तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक ॥ ३ ॥

१५८

क्या है तेरे न्हाई-धोई, आतमराय न चीन्हा सोई।
क्या घट ऊपरि मजन कीयै, भीतरि मैल अपारा।
राम-नाम बिन नरक न छूटै, जो धोवै सौ बारा।

का नट भेखै भगवा बस्तर, भसम लगावै लोई ।
ज्यूँ दादुर सुरसरि-जल भीतरि, हरि बिन मुकति न होई ॥
परिहरि काम राम कहि बौरे, सुनि सिख बधू मोरी ॥
हरिको नाँव अभेदपददाता, कहै कबीरा कोरी ॥

१५९

मन बनियाँ बनिज न छोडै ।
जनम जनमका मारा बनियाँ, अजहूँ पूर न तौले ।
पासँग कै अधिकारी लैले, भूला भूला डोलै ।
घरमें दुबिधा कुमति बनी है, पल पलमे चित तोरै ।
कुनबा वाके सकल हरामी, अमृतमे विप घोलै ।
तुमहीं जलमें तुमहीं थलमे, तुमही घट घट बोलै ।
कहै कबीर वा सिषको डरिये, हिरदे गाँठि न खोलै ॥

१६०

लोका मतिके भोरा रे ।
जो कासी तन तजै कबीरा,
तौ रामहिं कहा निहोरा रे ।
तब हम वैसे अब हम ऐसे,
इहै जनमका लाहा रे ।
राम-भगति-परि जाकौ हित चित
ताकौ अचिरज काहा रे ।
गुर-परसाद साधकी सगति,
जन जीतें जाइ जुलाहा रे ।

कहै कबीर सुनहु रे सन्तो,
भ्रमि परै जिनि कोई रे।
जस कासी तस मगहर ऊसर
हिरदै राम सति होई रे।

१६१

पूजा-सेवा-नेम-व्रत, गुडियनका-सा खेल।
जब लग पिउ परसै नहीं, तब लग ससय मेल॥

१६२

जाति न पूछो साधकी, पूछि लीजिये ज्ञान।
मोल करो तरवारका, पडा रहन दो म्यान।
हस्ती चढिए ज्ञानको, सहज दुलीचा डारि।
स्वान-रूप ससार है, भूँकन दे झक मारि॥

१६३

मेरा-तेरा मनुआँ कैसे इक होई रे।
मै कहता हौ आँखिन देखी, तू कहता कागदकी देखी।
मै कहता सुरझावनहारी, तू राख्यौ उरझाई रे।
म कहता तू जागत रहियो, तू रहता है सोई रे।
मे कहता निर्मोही रहियो, तू जाता है मोही रे।
जुगन जुगन समुझावत हारा, कही न मानत कोई रे।
तू तो रडी फिरै बिहडी, सब धन डारे खोई रे।
सतगुरु धारा निर्मल बाहै, वामै काया धोई रे।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, तब ही वैसा होई रे॥

१६४

दुलहिन अँगिया काहे न धोवाई ।
बालपनेकी मैली अँगिया विषय दाग परि जाई ।
बिन धोये पिय रीझत नाहीं, सेजसे देत गिराई ।
सुमिरन ध्यानकै साबुन करि ले सत्तनाम दरियाई ।
दुबिधाके भेद खोल बहुरिया मनकै मैल धोवाई ।
चेत करो तीनो पन बीते, अब तो गवन नगिचाई ।
पालनहार द्वार है ठाढ़े अब काहे पछिताई ।
कहत कबीर सुनो री बहुरिया चित अजन दे आई ॥

१६५

मोरी चुनरीमे परि गयो दाग पिया ।
पाँच तत्तकी बनी चुनरिया, सोरहसै बँद लागे जिया ।
यह चुनरी मोरे मैकेते आई, ससुरेमें मनुवाँ खोय दिया ।
मलि मलि धोई दाग न छूटे, ज्ञानको साबुन लाय पिया ।
कहै कबीर दाग कब छुटि है, जब साहब अपनाय लिया ।

१६६

तेरा जन एक आध है कोई ।
काम क्रोध अरु लोभ बिवर्जित, हरिपद चीन्है सोई ॥
राजस-तामस-सातिग तीन्यूँ, ये सब तेरी माया ।
चौथे पदकौं जे जन चीन्हैं, तिनहि परम पद पाया ॥

---

१६४ अगिया = यहाँ शरीरसे मतलब है । दुलहिन जीवात्मा है ।
१६६ सातिग = सात्त्विक ।

असतुति-निंदा-आसा छाँड़ै, तजै मान अभिमाना।
लोहा-कंचन समि करि देखै, ते मूरति भगवाना॥
च्यंतै तो माधौ च्यंतामणि हरिपद रमैं उदासा।
त्रिसनां अरु अभिमान रहित है कहै कबीर सो दासा॥

१६७

अबुझा लोग कहाँलौ बूझै बूझनहार बिचारो॥
केते रामचंद्र तपसीसे जिन जग यह भरमाया।
केते कान्ह भये मुरलीधर तिन भी अन्त न पाया॥
मच्छ-कच्छ-बाराहसरूपी वामन नाम धराया।
केते बौध भये निकलंकी तिन भी अन्त न पाया॥
केतिक सिध-साधक-संन्यासी जिन बन बास बसाया।
केते मुनिजन गोरख कहिये तिन भी अन्त न पाया॥
जाकी गति ब्रह्मै नहिं पाये सिव-सनकादिक हारे।
ताके गुन नर कैसे पैहौ खड़ा कबीर पुकारे॥

१६८

साधो, देखो जग बौराना।
साँची कहौ तौ मारन धावै झूँठे जग पतियाना।
हिन्दू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना।
आपसमें दोउ लड़े मरतु हैं मरम कोइ नहिं जाना।
बहुत मिले मोहिं नेमी धर्मी प्रात करैं असनाना।
आतम-छोड़ि पषानैं पूजैं तिनका थोथा ज्ञाना।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे मनमें बहुत गुमाना।
पीपर-पाथर पूजन लागे तीरथ-बर्त भुलाना।

१६८ डिंभ धरि बैठे = दंभ धारण करके बैठे हैं। मेहर = दया।

माला पहिरे टोपी पहिरे छाप-तिलक अनुमाना ।
साखी सब्दै गावत भूले आतम खबर न जाना ।
घर घर मत्र जो देन फिरत है मायाके अभिमाना ।
गुरुवा सहित सिष्य सब बूडे अतकाल पछिताना ।
बहुतक देखे पीर-औलिया पढै किताब-कुराना ।
करै मुरीद कबर बतलावैं उनहूँ खुदा न जाना ।
हिन्दूकी दया मेहर तुरकनकी दोनो घरसे भागी ।
वह करै जिबह वॉ झटका मारे आग दोऊ घर लागी ।
या बिधि हँसत चलत हैं हमको आप कहावै स्याना ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, इनमें कौन दिवाना ॥

१६९

मीयाँ तुम्हसौ बोल्याँ बणि नहीं आवै ।
हम मसकीन खुदाई बन्दे तुम्हरा जस मनि भावै ॥
अलह अवलि दीनका साहिब, जोर नहीं फुरमाया ।
मुरिसद-पीर तुम्हारे है को, कहौ कहाँथै आया ॥
रोजा करै निवाज गुजारै कलमै भिसत न होई ।
सत्तरि काबे इक दिल भीतरि जे करि जानै कोई ।
खसम पिछॉनि तरस करि जियमै, माल मती करि फीकी ।
आया जॉनि सॉईकू जॉनै, तब है भिस्त सरीकी ।
माटी एक भेष धरि नॉनाँ सबमे ब्रह्म समानाँ ।
कहै कबीर भिस्त छिटकाई दोजग ही मनमानॉ ॥

---

१६९ मीयॉ=मियॉ, तुमसे बोलते नहीं बनता । मसकीन=गरीब दीन । खुदाई बदे=भगवानके सेवक । तुम्हारा भावे=तुम्हें चाहे जैसा मनमे भावे । मुरसिद=गुरु । निवाज=नमाज । भिसत=बहिश्त, स्वर्ग । दोजग दोजख=नरक । खसम . फीकी=प्रियको पहचानो, जरा तरस करो, मालमताको फीका समझो ।

१७०

वे क्यूँ कासी तजै मुरारी। तेरी सेवा-चोर भये बनवारी ॥
जोगी-जती-तपी सन्यासी। मठ देवल बसि परसै कासी।
तीन बार जे नित प्रति न्हावै। काया भीतरि खबरि न पावै ॥
देवल देवल फेरी देहीं। नाव निरंजन कबहुँ न लेहीं ॥
चरन-बिरद-कासी कौ न देहू। कहै कबीर भल नरकहि जेहूँ ॥

१७१

बहुविध चित्र बनायकै, हरि रच्यौ क्रीडा-रास।
जेहि न इच्छा झूलिबेकी, ऐसी बुधि केहि पास ॥
झुलत झुलत बहु कलप बीते, मन न छोडे आस ॥
रचि हिंडोला अहो-निसि हो चारि जुग चौमास ॥
कबहु ऊँचसे नीच कबहूँ, सरग-भूमि ले जाय।
अति भ्रमत हिंडोलवा हो, नेकु नहिं ठहराय ॥
डरत हौं यह झूलबेको, राखु जादवराय।
कहै कबीर गोपाल बिनती, सरन हरि तुअ पास ॥

आया.. सरीकी=स्वामीको पास आया हुआ जानो। जो ऐसा जानते है वे ही स्वामीको जानते हैं, तब वे बहिश्तमें शरीक होते हे।

१७० हे भगवान्, वे लोग काशीको क्यो छोडें? वे तो सेवा चोर हो गए हे, तेरी सेवासे जी चुराने लगे हैं। ये जोगी जती तपस्वी सन्यासी मठो और देवालयोंमें बैठे हुए काशीको स्पर्श कर रहे ह। जो लोग तीन बार स्नान करते हैं और कायाके भीतर (कितनी मैल है) इसकी खबर भी नही जानते, देवालयसे देवालयतक फेरी देते रहते हे और निरञ्जनका नाम कभी नहीं लेते—(वे लोग यदि मुक्तिके लिये काशीपर भरोसा करें) मैं तुम्हारे चरणोंमें आश्रय पानेका यश काशीको नहीं दूगा (अर्थात् यदि तरूँगा तो तुम्हारे चरणोंके प्रतापसे, व्यर्थ ही काशीमें मरकर यह यश काशीको नहीं मिलने दूँगा) भले ही नरक ही क्यों न जाऊँ।

१७२

चली मैं खोजमें पियकी । मिटी नहि सोच यह जियकी ॥
रहे नित पास ही मेरे । न पाऊँ यारको हेरे ॥
बिकल चहुँ ओरको धाऊँ । तबहुँ नहि कतको पाऊँ ॥
धरो केहि भाँतिसो धीरा । गयौ गिर हाथसे हीरा ॥
फटी जब नैनकी झाई । लख्यौं तब गगनमें साईं ॥
कबीर शब्द कहि त्रासा । नयनमें यारको बासा ॥

१७३

तलफ बिन बालम मोर जिया ।
दिन नहि चैन रात नहिं निंदिया,
तलफ तलफके भोर किया ॥
तन मन मोर रहट-अस डोल,
सून सेजपर जनम छिया ।
नैन थकित भये पथ न सूझै,
साँई बेदरदी सुध न लिया ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
हरो पीर दुख जोर किया ॥

१७४

अबिनासी दुलहा कब मिलिहौ, भक्तनके रछपाल ।
जल उपजी जल ही सो नेहा, रटत पियास पियास ।

---

१७२ फटी झाँई=जब आँखोंमें पड़ा हुई छाया हट गई अर्थात अज्ञानका आवरण हट गया ।

१७४ जल उपजी पियास पियास=यह विरहिणी उस मछलीके समान

मैं ठाढ़ी बिरहन मग जोऊँ, प्रियतम तुमरी आस ।
छोडे गेह नेह लगि तुम-सों, भई चरन लवलीन ।
ताला-बेलि होति घर भीतर, जैसे जल बिन मीन ।
दिवस न भूख रैन नहि निद्रा, घर अगना न सुहाय ।
सेजरिया बैरिन भइ हमको, जागत रैन बिहाय ।
हम तो तुमरी दासी सजना, तुम हमरे भरतार ।
दीन दयाल दया करि आओ, समरथ सिरजनहार ।
कै हम प्रान तजति है प्यारे, कै अपनी कर लेव ।
दास कबीर बिरहा अति बाढेव, हमको दरसन देव ।

१७५

नैना अतरि आव तूँ, ज्यू हौ नैन झँपेउँ ।
ना हौं देखौ औरकूँ, ना तुझ देखन देऊँ ॥ १ ॥
कबीर रेख सिन्दूरकी, काजल दिया न जाई ।
नैनूँ रमइया रमि रह्या, दूजा कहॉ समाइ ॥ २ ॥
मन परतीति न प्रेम-रस, ना इस तनमे ढग ।
क्या जाणौं उरा पीवसूँ, कैसै रहसी रंग ॥ ३ ॥

१७६

नैनोकी करि कोठरी, पुतरी पलँग बिछाय ।
फल्कोकी चिक डारिकै, पियाको लिया रिझाय ॥ १ ॥
प्रीतमको पतिया लिखूँ, जो कहुँ होय बिदेस ।
तनमे मनमे नैनमें, ताकौ कहा सँदेस ॥ २ ॥

है जो जलमे ही उपजी और जलसे ही उसका प्रेम है और फिर भी प्यास प्यास चिल्ला रही है । भगवान्मे ही उत्पन्न और भगवान्से ही सहज प्रेम होते हुए भी जीव भगवान्को नहीं पा रहा है । ताला बेलि=तिलमिलाहट, छटपटाहट ।

१७७

अँखियाँ तो झाईं परी, पंथ निहारि निहारि ।
जीहड़ियाँ छाला पड्या, नाम पुकारि पुकारि ॥ १ ॥
बिरह कमंडल कर लिये, बैरागी दो नैन ।
माँगै दरस मधूकरी, छके रहैं दिन-रैन ॥ २ ॥
सब रग ताँत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त ॥ ३ ॥

१७८

पछा पछीके कारनै, सब जग रहा भुलान ।
निरपछ ह्वैके हरि भजै, सोई सन्त सुजान ॥ १ ॥
अमृत केरी मोटरी, सिरसे धरी उतार ।
जाहि कहौ मै एक है, मोहि कहै दो-चार ॥ २ ॥

१७९

दुलहिनि तोहि पियके घर जाना ।
काहे रोवो काहे गावो, काहे करत बहाना ॥
काहे पहिरयौ हरि हरि चुरियाँ, पहिरयौ प्रेमकै बाना ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, बिन पिया नाहि ठिकाना ॥

१८०

सूतल रहलूँ मै नीद भरि हो, पिया दिहलै जगाय ।
चरन-कँवलके अंजन हो नैना ले लूँ लगाय ॥

---

१७७ जीहड़ियाँ = जीभमें ।

१८० सूतल रहले = सोई हुई थी । दिहलें = दिया ।

जासो निदिया न आवै हो नहि तन अलसाय ।
पियाके बचन प्रेम सागर हो चलू चली हो नहाय ॥
जनम जनमके पापवा छिनमे डारब धोवाय ।
यहि तनके जग दीप कियौ प्रीत बतिया लगाय ॥
पॉच तत्तके तेल चुआए ब्रह्म अगिनि जगाय ।
प्रेम-पियाला पियाइके हो पिया पिया बौराय ॥
बिरह अगिनि तन तलफै हो जिय कछु न सोहाय ॥
ऊँच अटरिया चढि बैठ हूॅ हो जहॅ काल न जाय ।
कहै कबीर बिचारिके हो जम देख डराय ॥

१८१

अब तोंहि जान न देहूॅ राम पियारे,
ज्यूॅ भावै त्यूॅ होह हमारे ।
बहुत दिननके बिछुरे हरि पाये,
भाग बडे घर बैठै आये ।
चरननि लागि करौ बरियाई,
प्रेम-प्रीति राखो उरझाई ।
इत मन-मदिर रहौ नित चोषै,
कहै कबीर परहु मति धोषै ॥

१८२

तन-मन-धन बाजी लागी हो ।
चौपड खेलूँ पीवसे रे, तन-मन बाजी लगाया ।

---

१८२ जुग्ग=चौसरके खेलमें दो गोटियोका एक ही कोठेमें इक्ट्ठा होना । नर्द=चौसरकी गोटी । पौ=जीतका दॉव विशेष ।

हारी तो पियकी भई रे, जीती तो पिय मोर हो।
चौसरियाके खेलमें रे, जुग्ग मिलनकी आस।
नर्द अकेली रह गई रे, नहिं जीवनकी आस हो।
चार बरन घर एक है रे, भाँति भाँतिके लोग।
मनसा-बाचा-कर्मना कोइ, प्रीति निबाहो ओर हो।
लख चौरासी भरमत भरमत, पौपै अटकी आय।
जो अबके पौ ना पडी रे, फिर चौरासी जाय हो।
कहैं कबीर धर्मदाससे रे, जीती बाजी मत हार।
अबके सुरत चढाय दे रे, सोई सुहागिन नार हो।

१८३

नाम-अमल उतरै ना भाई।
और अमल छिन छिन चढि उतरै, नाम-अमल दिन बढै सवाई॥
देखत चढै सुनत हिय लागै, सुरत किये तन देत घुमाई।
पियत पियाला भये मतवाला, पायो नाम मिटी दुचिताई।
जो जन नाम अमल रस चाखा, तर गई गनिका सदन कसाई।
कह कबीर गूँगे गुड खाया, बिन रसना का करै बडाई॥

१८४

हमरी ननँद निगोड़िन जागे।
कुमति लकुटिया निसि-दिन ब्यापै, सुमति देखि नहि भावे।
निसि-दिन लेत नाम साहबको, रहत रहत रँग लागै।
निसिदिन खेलत रही सखियन-सँग, मोहि बडो डर लागै।
मोरे साहबकी ऊँची अटरिया, चढतमें जियरा काँपै।

---

१८३ अमल=नशा।

जो सुख चहै तो लज्जा त्यागै, पियसे हिलि-मिलि लागै ।
घूँघट खोल अंग-भर भेटै, नैन आरती साजै ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, चतुर होय सो जानै ।
निज प्रीतमकी आस नहीं है, नाहक काजर पारै ।

१८५

कैसे दिन कटिहैं जतन बताये जइयो,
एहि पार गगा ओहि पार जमुना,
बिचवाँ मडइया हमकों छवाये जइयो ।
अँचरा फारिके कागज बनाइन,
अपनी सुरतिया हियरे लिखाये जइयो ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो
बहियाँ पकरिके रहिया बताये जइयो ।

१८६

कैसे जीवेगी विरहिनी पिया बिन, कीजे कौन उपाय ।
दिवस न भूख रैन नहिं सुख है, जैसे करि जुग जाम ।
खेलत फाग छाँडि चलु सुदर, तज चलु धन औ धाम ।
बन खँड जाय नाम लौ लावो, मिलि पियसे सुख पाय ।
तलफत मीन बिना जल जैसे, दरसन लीजे धाय ।
बिना अकार रूप नहि रेखा, कौन मिलेगी आय ।
आपन पुरुष समझि ले सुदरि, देखो तन निरताय ।
सब्द सरूपी जिव पिव बूझो, छाँडो भ्रमकी टेक ।
कहैं कबीर और नहि दूजा, जुग जुग हम-तुम एक ॥

१८७

भींजै चुनरिया प्रेम-रस बूँदन।
आरत साजके चली है सुहागिन पिय अपनेको ढूँढ़न।
काहेकी तोरी बनी है चुनरिया काहेके लगे चारो फुँदन।
पाँच तत्तकी बनी है चुनरिया नामके लागे फुँदन।
चढ़िगे महल खुल गई रे किबरिया दास कबीर लागे झूलन॥

१८८

मैं अपने साहब सग चली।
हाथमें नरियल मुखमे बीडा, मोतियन माँग भरी।
लिल्ली घोडी जरद बछेडी, तापै चढ़िके चली।
नदी किनारे सतगुर भेटे, तुरत जनम सुधरी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, दोउ कुल तारि चली।

१८९

गुरु मोहिं घुँटिया अजर पियाई।
गुरु मोहिं घुँटिया पियाई, भई सुचित भेटी दुचिताई।
नाम-औषधी अधर कटोरी, पियत अघाय कुमति गई मोरी,
ब्रह्मा-विस्नु पिये नहीं पाये, खोजत सभू जन्म गँवाये।
सुरत निरत करि पियै जो कोई, कहैं कबीर अमर होय सोई॥

१९०

कबीर भाटी कलालकी, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपे सोई पिवै, नहीं तो पिया न जाइ॥ १॥

---

१९० मैमता=मदमाता।

हरि-रस पीया जाणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार ।
मैमता घूँमत रहे, नाहीं तनकी सार ॥ २ ॥
सबै रसायण मैं किया, हरि-सा और न कोइ ।
तिल इक घटमैं सचरै, तो सब कचन होइ ॥ ३ ॥

१९१

पीछे लागा जाइ था, लोक बेदके साथि ।
आगेथैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥ १ ॥
दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट ।
पूरा किया बिसाहुणा, बहुरि न आवौं हट्ट ॥ २ ॥
कबीर गुरु गरवा मिल्या, रलि गया आटै लूँण ।
जाति पाँति-कुल सब मिटै, नाँव धरोगे कौण ॥ ३ ॥
सतगुरु हमसूँ रीझि करि, एक कह्या परसंग ।
बरस्या बादल प्रेमका, भीजि गया सब अग ॥ ४ ॥

१९२

वे दिन कब आवैंगे भाइ ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ
हौं जानू जे हिल-मिलि खेलूँ, तन मन प्रान समाइ ॥
या कामना करौ परपूरन, समरथ हौ राम राइ ॥

१९१ अघट्ट=कभी न घटनेवाली, अक्षय । शरीर दीपक है, आयु तेल है और आत्मा अक्षय बत्ती है । बिसाहुणा=खरीदना । गुरु गरवा मिल्या=गुरु गले मिले । लूण=नमक ।

१९२ स्यंघ=सिंह ।

माहि उदासी माधौ चाहै,
चितवत रैनि बिहाइ ॥
सेज हमारी स्यघ भई है,
जब सोऊँ तब खाइ ॥
यहु अरदास दासकी सुनिये,
तनकी तपनि बुझाइ ॥
कहै कबीर मिलै जे साईं,
मिलि करि मगल गाइ ॥

१९३

मेरी अखियॉ जान सुजान भई।
देवर ननद सुसर सग तजि करि, हरि पीव तहॉ गई ॥
बालपनैंके करम हमारे, काटे जानि दई ।
बॉह पकरि करि किरपा कीन्हीं, आप समीप लई ॥
पानींकी बूँदथे जिनि प्यंड साज्या, ता सगि अधिक रई ॥
दास कबीर पल प्रेम न घटई, दिन दिन प्रीति नई ॥

१९४

इहि बिधि रामसू ल्यौ लाइ ॥
चरन पाषै निरति करि, जिभ्या बिना गुण गाइ ।
जहॉ स्वॉतिबूँद न सीप साइर, सहजि मोती होइ ।
उन मोतियन मैं नीर पोयौ, पवन अम्बर धोइ ।

---

१९३ रई=रत हुइ ।

१९४ चरण पाषें निरति करि=चरणोंके पखपर नृत्य करो। जिभ्या बिना=जीभसे उच्चारण किए बिना, सहज भावसे। जहॉ.. धोइ=स्वातिका बूँद, सीपी और सागरके बिना भी एक सहज मोती तुम्हारे पास है। इस सहज मोतीक

जहाँ धरनि बरषै गगन भीजै, चन्द-सूरज मेल ।
दोइ मिलि तहाँ जुडन लागे, करत हंसा केलि ।
एक बिरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ ।
पंच सुवटा आइ बैठे, उदै भई बनराइ ।
जहाँ बिछुटयौ तहाँ लाग्यौ, गगन बैठो जाइ ।
जन कबीर बटाऊवा, जिनि मारग लियौ चाइ ।

१९५

करो जतन सखी साँई मिलनकी ।
गुड़िया गुडवा सुपलिया,
तजि दे बुधि लरिकैयाँ खेलनकी ।
देवता पित्तर भुइयाँ भवानी
यह मारग चौरसी चलनकी ।
ऊँचा महल अजब रँग बँगला,
साँईकी सेह वहाँ लगी फूलनकी ।

पानीसे आकाश और हवाको धो दो । यह मोती विरहके अश्रु हैं । जहाँ ... केलि=एक ऐसा स्थान है जहाँ पृथ्वीसे पानी बरसता है और आकाश भीजता रहता है (मूलाधारके रससे सहस्रार सिक्त होता है), जहाँ सूर्य (नाभिके ऊपरका मूलाधार पद्म) और चन्द्र (ब्रह्मरन्ध्र) मिल गए होते हैं और हंस केलि करता है । एक . बनराइ=एक वृक्ष (शरीर है) जिसमें नदी (कुण्डलिनी) बह रही है जो कनककलश (सहस्रार) में गिरी है और पाँच सुग्गे (प्राण) उस वृक्षपर बैठे हैं और इनके कारण सारी बनराजि प्रसन्न हुई है । जहाँ ... चाइ=जहाँसे बिछुड़े थे वहीं जाकर लगे, शून्यमें जाकर बैठा, कबीर बटोहीने रास्ता देख लिया है ।

१०५ गुड़िया ... सुपलिया=बच्चोंके खिलौने (गृहस्थीके द्योतक हैं ।)

तन मन धन सब अपनि कर वहाँ,
        सुरत सम्हार परु पइयाँ सजनकी ।
कहै कबीर निर्भय होय हसा,
        कुजी बता यो ताला खुलनकी ॥

१९६

        मोरे लगि गये बान सुरंगी हो ।
धन सतगुरु उपदेश दियो है, होइ गयो चित्त भिरगी हो ।
ध्यान पुरुपकी बनी हैं तिरिया, घायल पॉचो सगी हो ॥
घायलकी गति घायल जाने, की जानै जात पतगी हो ।
कहे कबीर सुनो भाई साधो, निसि दिन प्रेम उमगी हो ॥

१९७

गुरु बडे भृगी हमारे गुरु बडे भृगी ।
कीटसो ले भृग कीन्हा आपसो रगी ।
पॉव औरै कोई सब भये भृगी पख औरै ओर रँग रगी ।
जाति कुल ना लखें कोई सब भये भृगी ।
नदी-नाले मिले गगै कहलावै गगी ।
दरियाव-दरिया जा समाने सगमे सगी ।
चलत मनसा अचल कीन्ही मन हुआ पगी ।
तत्तमे नि.तत्त दरसा सगमे सगी ।
बधतें निर्बंध कीन्हा तोड सब तगी ।
कहैं कबीर किया अगम गम नाम रँग रगी ॥

१९६ पाचों सगी=पॉचि प्राण ।

१९८

पिया मेरा जागे मै कैसे सोई री ।
पॉच सखी मेरे संगकी सहेली,
उन रॅग रॅगी पिया रंग न मिली री ॥
सास सयानी ननद देवरानी,
उन डर डरी पिय सार न जानी री।
द्वादस ऊपर सेज बिछानी,
चढ न सकौ मारी लाज लजानी री ।
रात दिवस मोहिं कूका मारे,
मे न सुनी रचि नहि सॅग जानी री ।
कहै कबीर सुनु सखी सयानी,
बिन सतगुरु पिया मिले न मिलानी री ।

१९९

बहुत दिननकी जोवती, बाट तुम्हारी राम ।
जिव तरसै तुझ मिलनकूँ, मनि नाही बिसराम ॥ १ ॥
बिरहिनि ऊठै भी पडे, दरसन कारनि राम ।
मूवा पीछे देहुगे, सो दरसन केहि काम ॥ २ ॥
मूवा पीछे जिनि मिलै, कहै कबीरा राम ।
पाथर-घाटा-लोह सब, पारस कौणैं काम ॥ ३ ॥
बासरि सुख ना रैणि सुख, ना सुख सुपिनै माहि ।
कबीर बिछुट्या रामसूं, ना सुख धूप न छॉहि ॥ ४ ॥

---

१९८ द्वादस ऊपर=१० इंद्रिय, मन और बुद्धि इन बारहोंसे परे। रात दिवस. .जानी री=रातदिन मेरे हृदयमें विरह-वेदना उमडती रहती है, पर मैंने उसकी आवाज नही सुनी और न उसके सहवासको ही जान सकी ।

२२०

परबति परबति मै फिरया, नैन गँवाए रोइ ।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जातै जीवन होइ ॥ १ ॥
नैन हमारे जलि गए, छिन छिन लोडै तुज्झ ।
ना तू मिलै न मै खुसी, ऐसी बेदन मुज्झ ॥ २ ॥
सुखिया सब ससार है, खाये अरु सोवै ।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोवै ॥ ३ ॥

२०१

आइ न सकौ, तुज्झपै सकूँ न तुज्झ बुलाइ ।
जियरा यौही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ ॥ १ ॥
यहु तन जालौ मसि करूँ, ज्यूँ धूवा जाइ सरग्गि ।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि ॥ २ ॥
यहु तन जालौं मसि करौ, लिखौ रामका नाऊँ ।
लेखणि करूँ करककी, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥ ३ ॥
इस तनका दीवा करौं, बाती मेल्हूँ जीव ।
लोही सींचौ तेल ज्यूँ, कब मुख देखौ पीव ॥ ४ ॥
कै बिरहिनकूँ मीच दे, कै आपा दिखलाइ ।
आठ पहरका दाझणा, मोपै सहा न जाइ ॥ ५ ॥

२०१—वह राम दया मत करे। मे यह शरीर जलाऊँगी, जलाकार राख कर दूँगी ताकि धुआँ आकाशमे जाय (और बादल बन कर वही) इस आगको बरसकर बुझा दे। विरहकी आगसे ही वह रस पैदा होगा जो इस तापको बुझा सकेगा।

करक= ठठरी। लोही=लहू, रक्त।

२०२

कबिरा प्याला प्रेमका, अंतर दिया लगाय।
रोम रोममें रमि रह्या, और अमल क्या खाय ॥ १ ॥
राता-माता नामका, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदारका, मॉगै मुक्ति बलाय ॥ २ ॥

२०३

ऐ कबीर, ते उतरि रहु, राबल परो न साथ।
मबल घटे न पगु थके, जीव बिराने हाथ ॥ १ ॥
कबीरका घर सिखरपर, जहाँ सिलहली गैल।
पॉव न टिकै पिपीलिका, खलकन लादे बैल ॥ २ ॥

२०४

काल खडा सिर ऊपरे, जागु बिराने मीत।
जाका घर है गैलमे, सो कस सोय निचीत।

२०५

छाकि परयौ आतम मतवारा।
पीवत रामरस करत बिचारा ॥
बहुत मोलि मंहगै गुड पावा।
लै कसाब रस राम चुवावा।
तन पाटन मैं कीन्ह पसारा।
मॉगि मॉगि रस पीवै बिचारा ॥
कहै कबीर फाबी मतवारी।
पीवत रामरस लगी खुमारी ॥

---

२०३ सिलहली=चिक्कल, फिसलने लायक। गैल=रास्ता। खलकन=दुनिया।
२०५ कसाब=कषाय रस। पाटन=पट्टण, शहर।

२०६

राम दुनी सयानी मैं बौरा ।
हम बिगरे बिगरौ जनि औरा ।
मैं नहिं बौरा राम कियो बौरा,
सतगुरु जार गयो भ्रम मोरा ।
विद्या न पढ़ूँ वाद नहिं जॉनूं,
हरि गुन कथत-सुनत बौरॉनूं ॥
काम-क्रोध दोऊ भये विकारा,
आपहि आप जेर ससारा ॥
मीठो कहा जाहि जो भावै
दास कबीर राम गुन गावै ॥

२०७

नैहरमें दाग लगाय आइ चुनरी ।
ऊ रँगरेजवाके मरम न जानै,
नाहिं मिलै धोबिया कौन करै उजरी ।
तनके कूडी ज्ञानकै सौदन
साबुन महॅग बिचाय या नगरी ।
पहिरि-ओढिके चली ससुररिया,
गौवॉके लोग कहैं बडी फुहरी ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
बिन सतगुरु कबहूँ नहि सुधरी ।

२०८

सील-सतोखने सब्द जा मुख बसै, सतजन जौहरी सॉच मानी ।
बदन बिकसित रहै ख्याल आनदमें, अधरमें मधुर मुसकात बानी ।

सॉच गेलै नही झूठ बोलै नहीं, सुरतमै सुमति सोइ स्रेष्ठ ज्ञानी ।
कहत हौ ज्ञान पुकारि कै सबनसो, देत उपदेस दिल दर्द जानी ।
ज्ञानको पूर है रहनिको सूर है, दयाकी भक्ति दिलमाहिं ठानी ।
ओरते छोर लौं एक रस रहत है, ऐस जन जगतमै बिरले प्रानी ।
ठग बटपार ससारमे भरि रहे, हसकी चाल कहँ काग जानी ।
चपल और चतुर हैं बने बहु चीकने, बातमै ठीक पै कपट ठानी ।
कहा तिनसो कहो दया जिनके नही, घात बहुतै करै बकुलध्यानी ।
दुर्मती जीवकी दुबिध छूटै नहीं, जन्म जन्मान्त पड नर्क खानी ।
काग कूबुद्धि सूबुद्धि पावै कहॉ, कठिन कट्ठोर बिकराल बानी ।
अगिनके पुज है सितलता तन नहीं, अमृत ओ विष दोऊ एक मानी ।
कहा साखी कहे सुमति जागा नही, सॉचकी चाल बिन धूर धानी ।
सुकृति औ सत्तकी चाल सॉची सही, काग बक अधमकी कौन खानी ।
कहै कब्बीर कोउ सुघर जन जौहरी, सदा सवधान पिये नीर छानी ।

२०९

अपनपौ आप ही बिसरो ।
जैसे सोनहा कॉच मंदिरमै भरमत भूँकि मरो ।
जो केहरि बपु निरखि कूप-जल प्रतिमा देखि परो ।
ऐसेहिं मदगज फटिक शिलापर दसननि आनि अरो ।
मरकट मुठी स्वाद ना बिसरै घर घर नटत फिरो ।
कह कबीर ललनीकै सुवना तोहि कौने पकरो ॥

२०९ सोनहा=कुत्ता। काचके मंदिरमें कुत्ता अपने ही अनेक प्रतिबिंबोंको देखकर भौंका करता है, वैसे ही जीव भी जगत्‌में अपने ही प्रतिबिंबोंको

२१०

दरस दिवाना बावरा अलमस्त फकीरा ।
एक अकेला ह्वै रहा अस मतका धीरा ।।
हिरदेमे महबूब है हर दमका प्याला ।
पीयेगा कोई जौहरी गुरु मुख मतवाला ।।
पियत पियाला प्रेमका सुघरे सब साथी ।
आठपहर झूमत रहैं जस मैगल हाथी ।।
बवन काटे मोहके बैठा निरसका ।
वाके नजर न आवता क्या राजा रंका ।।
धरतीका आसन किया तबू असमाना ।
चोला पहिरा खाकका रह पाक समाना ।।
सेवकको सतगुरु मिले कछु रहि न तबाही ।
कह कबीर निज घर चलो जह काल न जाही ।।

२११

गगनकी ओट निसाना है ।
दहिने सूर चद्रमा बायें, तिनके बीच छिपाना है ।
तनकी कमान सुरतका रोदा, सब्द-बान ले ताना है ।
मारत बान वेधा तन ही तन, सतगुरुका परवाना है ।
मार्यौ बान घाव नहि तनमे, जिन लागा तिन जाना है ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, जिन जाना तिन माना है ।।

अपनेसे भिन्न समझकर लडता फिरता है। केहरि वपु=सिंह कुएँमे अपनी परछाहीं देखकर कूद पडा था, ऐसी कहानी है । स्फटिक शिलामे अपनी परछाहीं देख हाथी अपने दाँतोसे लडनेको अड जाय । ललनीके सुवना (सुग्गा)=जीव (जो मायाके बधनमें है) ।

२१० मैगल=मदमस्त ।

२१२

मन मस्त हुआ तब क्यो बोले।
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार बार वाको क्यो खोले।
हलकी थी जब चढी तराजू, पूरी भई तब क्यो तोले।
सुरत कलारी भइ मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल-तलैया क्यो डोले।
तेरा साहब है घटमाँही, बाहर नैना क्यो खोले।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिलि गये तिल ओले॥

२१३

सोच-समुझ अभिमानी, चादर भई है पुरानी।
टुकडे टुकडे जोडि जगत-सो, सीके अँग लिपटनी।
कर डारी मैली पापन-सो, लोभ मोहमे सानी।
ना यहि लगो ज्ञानकै साबुन, ना धोई भल पानी।
सारी उमिर ओढते बीती, भली बुरी नहि जानी।
सका मान जान जिय अपने, यह है चीज बिरानी।
कहत कबीर धरि राखु जतनसे, फेर हाथ नहि आनी॥

२१४

जियरा मेरा फिरै रे उदास।
राम बिन निकसि न जाई सास,
अजहूँ कौन आस।
जहाँ जहाँ जाऊँ राम मिलावै न कोई।
कहौ संतो कैसे जीवन होई॥

---

२१२ मदवा. तोले=बिना तोलेसे अपरमित मद पी गई। ओले=ओटमें।

जर सरीर यहु तन कोई न बुझावै।
अनल दहे निस नींद न आवै ॥
चदन घसि घसि अग लगाऊँ।
राम बिना दारुन दुख पाऊँ ॥
सत-सगति मति मन करि धीरा।
सहज जानि भजै राम कबीरा ॥

२१५

इब न रहू माटीके घर मैं,
इब मै जाइ रहू मिलि हरि मैं ॥
छिनहर घर अरु झिरहर टाटी
घन गरजन कंपै मेरी छाती ॥
दसवे दारि लागि गई तारी
दूरि गवन आवन भयौ भारी ॥
चहुँ दिसी बैठे चारि पहरिया
जागत मूसि गये मोर नगरिया ॥
कहै कबीर सुनहु रे लोई,
भॉनड घडण सवारण सोई ॥

२१६

सेजै रहू नैन नहीं देखौं,
बहु दुख कासौं कहू हो दयाल ॥
सासुकी दुखी सुसरकी प्यारी
जेठकै तरसि डरौ रे।

---

२१५ इब=अब। माटीका घर=भौतिक शरीर। छिनहर=टूटा फूटा। झरहर=जर्जर। दसवें द्वारि=दसवे मुकामपर। चार पहरिया=चार पाहरू (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार)। भॉनण घडण=तोड़ना और गढना।

ननद सुहेली गरब गहेली
देवरकै विरह जरो हो दयाल ॥
बाप सबनकौ करै लराई,
माया सोउ मतवाली ॥
सगौ भईया लै सलि चढि हूँ
तब ह्वै हूँ पीयहि पियारी ॥
सोचि बिचारि देखौ मन मॉही
औसर आइ बन्यू रे
कहै कबीर सुनहु मति सुदरि
राजा राम रम् रे ॥

२१७

पीले प्याला हो मतवाला, प्याला नाम अमीरसका रे ।
बालपना सब खेलि गॅवाया, तरुन भया नारी बसका रे ।
बिरध भया कफ-बायने घेरा, खाट पडा न जाय खसका रे ।
नाभि-कँवल बिच है कस्तूरी, जैसे मिरग फिरे बनका रे ।
बिन सतगुरु इतना दुख पाया, बैद मिला नहिं इस तनका रे ।
माता पिता बधु सुत तिरिया, राग नहीं कोइ जाय सका रे ।
जब लग जीवै गुरु गुन लेगा, धन जोबन है दिन दसका रे ।
चौरासी जो उबरा चाहे, छोड कामिनाका चसका रे ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, नख-सिख पूर रहा बिसका रे ।

---

२१६ सलि=चितापर, माया=माता ।

जसा कि पहले ही बताया गया है ये पद रामासोक्ति पद्धतिपर लिखे गए हैं । प्रत्येक शब्दका लक्ष्यार्थ खोजना सब समय ठीक नहीं होता । सास ससुर जेठ आदि पद केवल नाना प्रकारके भय, मोह और लाजके निदर्शक हैं ।

२१८

खेल ले नैहरवा दिन चार।
पहिली पठोनी तीन जन आये, नौवा बाम्हन बारि।
बाबुलजी मै पैया तोरी लागौ, अबकी गवन दे टारि।
दुसरी पठोनी आपै आये, लेके डोलिया कहार।
धरि बहियाँ डोलिया बैठारिन, कोउ न लागे गोहार॥
ले डोलिया जाइ बनमे उतारिन, कोइ नहीं संगी हमार।
कहे, कबीर सुनो भाई साधो, इक घर है दस द्वार॥

२१९

मै भँवरा तोहि बरजिया, बन बन बास न लेय।
अटकेगा कहुँ बेलसे, तडपि तडपि जिय देय॥ १॥
बाडीके बिच भँवरा था, कलियाँ लेता बास।
सो तो भँवरा उडि गया, तजि बाडीकी आस॥ २॥

२२०

चलती चक्की देखिके, दिया कबीरा रोय।
दुइ पट भीतर आयके, साबित गया न कोय॥ १॥
भाई बीर बटाउआ, भरि भरि नैन न रोय।
जाका था सो ले लिया, दीन्हा था दिन दोय॥ २॥

२२१

देह धरेका दड है, सब काहूको होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि मूरख भुगते रोय॥ १॥

---

२१९ भँवरा= मुग्ध जीव। बाडी=संसार-वाटिका।

तकत तकावत तकि रहे, सके न बेझा मारि ।
सबै तीर खाली परे, चले कमानी डारि ।। १ ।।

२२२

सुपनेमे साईं मिले, सोवत लिया जगाय ।
ऑखि न खोलूँ डरपता, मत सुपना ह्वै जाय ।। १ ।।
साईकेरे बहुत गुन, लिखे जो हिरदे मॉहि ।
पिऊँ न पानी डरपता, मत वे धोये जॉहि ।। २ ।।

२२३

अनप्रापत वस्तुको कहा तजे, प्रापतको तजे सो त्यागी है ।
सु असील तुरग कहा फेरे, अफतर फेरे सो बागी है ।
जगभवका गावना क्या गावै, अनुभव गावै सो रागी है ।
बन गेहकी बासना नास करै, कब्बीर सोई बैरागी है ।।

२२४

तोको पीव मिलैगे घूँघटके पट खोल रे ।
घट घटमे वही साईं रमता, कटुक बचन मत बोल रे ।
धन जोबनको गरब न कीजै, झूठा पचरग चोल रे ।
सुन्न महलमें दियना बार ले, आसासो मत डोल रे ।
जोग जुगत सो रग महलमे, पिय पाई अनमोल रे ।
कहै कबीर आनद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे ।

---

२२३ अनप्रापत=जो मिला ही नहीं । असील तुरग=खानदानी घोड़ा । अफतर=बिगड़ैल । बागी=बाग पकड़नेवाला सवार । जगभव=ससारका अनुभव । बन.. करै=घरमें बना हुआ भी घरकी वासना जो त्याग करे, या वन और गृह दोनोंकी वासना जो त्याग करे ।

२२५

पायो सतनाम गरैके हरवा।
सॉकर खटोलना रहनि हमारी, दुबरे दुबरे पाँच कहँरवा।
ताला कुंजी हमैं गुरु दीन्ही, जब चाहौं तब खोलौं किवरवा।
प्रेम प्रीतिकी चुनरी हमारी, जब चाहौं तब नाचौं सहरवा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, बहुरि न ऐबै एही नगरवा॥ (९५)

२२६

मुरसिद नैनो बीच नबी है।
स्याह सपेद तिलो बिच तारा, अवगति अलख रवी है।
आँखी मद्धे पाँखी चमके, पाँखी मद्धे द्वारा।
तेहि द्वारे दुर्बीन लगावै, उतरै भवजल पारा।
सुन्न सहरमें बास हमारी, तहँ सरबगी जावै।
साहब कबीर सदाके संगी, सब्द महल ले आवै॥

२२७

पिया ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली।

---

२२५ सॉकर खटोलना=सकरा खटोला।

२२६ मुरसिद=मुरशिद उपदेशक। नबी=रसूल। रबी=रब, पालनकर्ता। भाव यह है कि ऐ मुरशिद, रसूल तुम्हारी आँखोंके भीतर है। ईश्वर इन आँखोंके स्याह सफेद हिस्सोंके बीचवाली ताराके पीछे अविगत अलक्ष्य होकर वर्तमान है—वही आँखोको देखनेकी शक्ति देता है। पाखी=पक्षी। आँखोंमें दूरदर्शक यंत्र लगाकर देखनेसे ही भवसागरके पार उतरना सभव है। मेरा वास उस शून्य शहरमें है जहाँ सर्वांगीण (सपूर्ण, अखण्ड) भावसे जाया जाता है।

ऊँची अटरिया जरद किनरिया, लगी नामकी डोरी ।
चाँद सुरज सम दियना बरतु है, ता बिच झूली डगरिया ।
पाँ पचीस तीन घर बनिया, मनुवाँ है चाधरिगा ।
मुन्सी है कुतवाल ग्यानको, चहुँ दिस लागी बजरिया ।
आठ मरातिब दस दर्वाजा, नौमे लगी किवरिया ।
खिरकी बैठ गोरी चितवन लागी, उपराँ झाँप झोपरिया ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, गुरुके चरन बलिहरिया ।
साध सत मिलि सौदा करि है, झाँखै मूरक अनरिया ॥

२२८

जहवाँसे आयो अमर वह देसवा ।
पानी न पान धरती अकसवा, चाँद न सूर न रैन दिवसवा ।
बाम्हन छत्री न सूद्र बैसवा, मुगल पठान न सैयद सेखवा ।
आदि जोति नाहिं गौर गनेसवा, ब्रह्मा बिस्नु महेस न सेसवा ।
जोगी न जगम मुनि दुरबेसवा, आदि न अन्त न काल कलेसवा ।
दास कबीर ले आये सँदेसवा, सार सब्द गहि चलौ वहि देसवा ।

२२९

साहेब है रँगरेज चुनरी मेरी रंग डारी
स्याही रग छुडायके रे दियो मजीठा रग ।
धोयसे छूटे नही रे दिन दिन होत सुरंग ॥

२२७ पाँच प्राण, पच्चीस तत्त्व, तीन गुण । आठ मरातिब=मरातिब महलके खडोंको कहते है । आठसे आठ धातुओंका तात्पर्य है । सात धातुओंके साथ केश मिलाकर आठ धातु होते हैं । (दे० ऊपर १३५ वे पदकी टिप्पणी) दस दरवाजा= दो नेत्र, दो कान, दो नासा छिद्र, मुख, मूत्रद्वार, मलद्वार और ब्रह्मरध्र । इनमें प्रथम नौमें किवाड लगे हैं, प्राणायामके द्वारा योगी इन्हें बद कर सकता है ।

भावके कुंड नेहके जलमें प्रेम रंग देइ बोर।
दुख देह मैल लुटाय दे रे खूब रंगी झकझोर ॥
साहिबने चुनरी रंगी रे पीतम चतुर सुजान।
सब कुछ उनपर वार दूँ रे तन मन धन और प्रान ॥
कहै कबीर रंगरेज पियारे मुझपर हुए दयाल।
सीतल चुनरी ओढ़िके रे भई हौं मगन निहाल ॥

२३०

हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध।
हद बेहद जोऊ तजे, ताकर मता अगाध ॥

२३१

गगन दमामा बाजिया, पड़त निसाने घाव।
खेत पुकारै सूरमा, अब लड़नेका दाँव ॥ १ ॥
जा मरनेसे जग डरै, सो मेरे आनंद।
कब मरिहौं, कब देखिहौं, पूरन परमानन्द ॥ २ ॥

२३२

अब गुरु दिलमें देखिया, गावनको कछु नाहिं।
कबिरा जब हम गावते, तब जाना गुरु नाहिं ॥ १ ॥
सुन्न मँडलमें घर किया, बाजै सब्द रसाल।
रोम रोम दीपक भया, प्रगटे दीन दयाल ॥ २ ॥
सुन्न सरोवर मीन मन, नीर तीर सब देव।
सुधा सिंधु सुख विलसही, विरला जाने भेव ॥ ३ ॥

२३३

लिखा लिखी की है नही, देखा देखी बात ।
दुलहा दुलहिनि मिलि गये, फीकी परी बरात ॥ १ ॥
कागद लिखै सो कागदी, की व्यवहारी जीव
आतम दृष्टि कहा लिखै, जित देखै तित पीव ॥ २ ॥

२३४

लाली मेरे लालकी, जित देखो तित लाल ।
लाली देखन मै गई , मै भी हो गइ लाल ॥ १ ॥
जिन पावन भुइँ बहु फिरे, घूमे देस बिदेस ।
पिया मिलन जब होइया, ऑगन भया बिदेस ॥ २ ॥

२३५

उलटि समाना आपमे, प्रगटी जोति अनत ।
साहेब सेवक एक सॅग, खेलै सदा बसत ॥ १ ॥
जोगी हुआ झलक लगी, मिटि गया ऐंचातान ।
उलटि समाना आपमे, हूआ ब्रह्म समान ॥ २ ॥

२३६

सखि, वह घर सबसे न्यारा, जहँ पूरन पुरुष हमारा ।
जहाँ न सुख-दुख सॉच-झूठ नहिं, पाप न पुन्न पसारा ॥
नहिं दिन रैन चद नहिं सूरज, बिना जोति उजियारा ॥
नहिं तहॅ ग्यान ध्यान नहिं जप-तप, बेद-कितेब न बानी ।
करनी, धरनी, रहनी, गहनी ये सब उहाँ हेरानी ॥

वर नहि अधर न बाहर-भीतर, पिंड-ब्रह्मांड कछु नाही ।
पाच तत्त गुन तीन नहीं तहँ, साखी सब्द न ताही ।
मूल न फूल बेल नहिं बीजा, बिना बृच्छ फल सोहै ।
ओह-सोह अध ऊरध नहि, स्वासा लेखन को है ।
नहि निरगुन नहिं अविगत भाई, नहिं सूछम-अस्थूल ।
नहिं अच्छर नाहि अविगत भाई, ये सब जगके मूल ॥
जहाँ पुरुप तहँवा कछु नाहीं, कह कबीर हम जाना ।
हमरी सैन लखे जो कोई, पावै पद निरवाना ॥ २३ ॥

२३७

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ ।
बूँद समानी समँदमें, सो कत हेरी जाइ ॥ १ ॥
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ ।
समँद समाना बूँदमें, सो कत हेरया जाइ ॥ २ ॥

२३८

हदे छाँडि बेहदि गया, हुआ निरंतर बास ।
कॅवल जु फूल्या फूल बिन, को निरषै निज दास ॥
कबीर मन मधुकर भया, भया निरंतर बास ।
कॅवल जु फूल्या जलह बिन, को देखै निज दास ॥ २ ॥
अतरि कँवल प्रकासिया, ब्रह्म-बास तहँ होइ ।
मन भँवरा तहँ लुबधिया, जाणैगा जन कोइ ॥ ३ ॥

२३९

हद छाँडि बेहद गया, किया सुन्नि असनान ।
मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया विस्राम ॥ १ ॥

---

२३६ ओहं=ओंकार ।

देखौ कर्म कबीरका, कछु पूरब-जनमका लेख ।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख ॥ २ ॥

२४०

नींव बिहूँणा देहरा, देह बिहूँणा देव ।
कबीर तहाँ बिलबिआ, करै अलखकी सेव ॥ १ ॥
देवलमाँहे देहुरी, तिल जे है बिसतार ।
माँहे पाती माँहि जल, माँहै पूजणहार ॥ २ ॥

२४१

तूँ तूँ करता तुझ गया, मुझमे रही न हूँ ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौ तित तूँ ॥ १ ॥
लबा मारग दूरि घर, विकट पथ बहु मार ।
कहो सतो क्यूँ पाइए, दुरलभ हरि-दीदार ॥ २ ॥

२४२

अगम अगोचर गमि नही, तहाँ जगमगै जोति ।
जहाँ कबीरा बदगी, पाप-पुन्न नहीं होति ॥ १ ॥

२४३

दौकी दाधी लाकडी, ठाढी करै पुकार ।
मति बसि पड़ौ लुहारके, जाले दूजी बार ॥ १ ॥
जो अग्या सो आँथवै, फूल्या सो कुम्हलाइ ।
जो चिणियाँ सो ढहि पडै, जो आया सो जाइ ॥ २ ॥

---

२३९ दोसत किया अलेख=अलख पुरुषको दोस्त बनाया ।

२४० नींव बिहूणा देहरा=विना नींवका देवालय । देहरी=देहली । माँहैं... जल= उसीमें पत्र पुष्प और उसीमें जल ।

२४१ हूँ=अहभाव ।

२४३ दौकी दाधी=दावाग्निकी जली हुई ।

२४३ आँथवै=अस्त होता है । चिणियाँ=जो चुना गया ।

२४४

दूर वे दूर वे दूर वे दूरमति, दूरकी बात तोहि बहुत भावै ।
अहै हज्जूर हाजीर साहब धनी, दूसरा कौन कहु काहि गावै ॥
छोड दे कलपना दूरको धावना, राज तजि खाक मुख काहि लावै ।
पेडके गहेते डार-पल्लव मिलै, डारके गहे नहि पेड पावै ॥
डार औ पेड और फूल-फल प्रगट है, मिलै जब गुरू इतनी लखावै ।
सपति-सुख-साहबी छोड जोगी भये, सून्यकी आस बनखड जावै ।
कहहि कब्बीर बनखडसे क्या मिलै, दिलहिको खोज दीदार पावै ।

२४५

मालन आवत देख करि, कलियॉ करी पुकार ।
फूले फूले चुनि लिए, कालिह हमारी बार ॥ १ ॥
फागुन आवत देखि करि, बन सूना मनमॉहिं ।
ऊॅची डाली पात हैं, दिन दिन पीले थॉहिं ॥ २ ॥
पात पडता यौं कहै, सुन तरवर बनराइ ।
अबके बिछुडे ना मिलै, कहिं दूर पडेगे जाइ ॥ ३ ॥

२४६

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहा न जाय ।
एक रहा दूजा गया, दरिया लहर समाय ॥ १ ॥
उनमुनिसो मन लागिया, गगनहि पहुँचा आय ।
चॉद-विहूना चॉदना, अलख निरजन राय ॥ २ ॥
गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गॅभीर ।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर ॥ ३ ॥

---

२४६ उनमुनि—समाधि । चादविहूना चॉदना=अखण्ड ज्योति । बादल=धर्ममेघ (द० पद ६८ की टिप्पणी)

२४७

अरे इन दोहुन राह न पाई ।
हिंदू अपनी करै बडाई गागर छुवन न देई ।
वेस्याके पायन-तर सोवै यह देखो हिंदुआई ।
मुसलमानके पीर-औलिया मुर्गी मुर्गा खाई ।
खाला केरी बेटी ब्याहै घरहिमे करै सगाई ।
बाहरसे इक मुर्दा लाये धोय-धाय चढवाई ।
सब सखियाँ मिलि जेवन बैठी घर-भर करै बडाई ।
हिंदुनकी हिंदुवाई देखी तुरकनकी तुरकाई ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो कौन राह है जाई ॥

२४८

साधो, एक आपु जगमाहीं ।
दूजा करम-भरम है किरतिम ज्यो दरपनमे छाही ॥
जल-तरग जिमि जलते उपजे फिर वामाहिं रहाई ।
काया झाई पाँच तत्तकी बिनसै कहाँ समाई ।
या विधि सदा देह गति सबको या बिधि मनहि बिचारो ।
आया होय न्याव करो न्यारो परम तत्त निरवारो ॥
सहजे रहै समाय सहजमें ना कहुँ आय न जावै ।
धरै न ध्यान करै नाहि जप-तप राम-रहीम न गावै ॥
तीरथ-बरत सकल परित्यागै सुन्न डोर नहिं लावै ।
यह धोखा जब समझि परै तब पूजे काहि पुजावै ॥
जोग-जुगतमे भरम न छूटै जब लग आप न सूझै ।
कह कबीर सोइ सतगुरु पूरा जो कोइ समझै बूझै ॥

२४९

(भाई रे) दुई जगदीस कहाँते आया, कहु कवने भरमाया ।
अल्लह-राम-करीमा केसो, (ही) हजरत नाम धराया ॥
गहना एक कनकते गढना, इनि महँ भाव न दूजा ।
कहन-सुननको दुर करि पापिन, इक निमाज इक पूजा ॥
वही महादेव वही महमद, ब्रह्मा-आदम कहिये ।
को हिन्दूको तुरुक कहावै, एक जिमींपर रहिये ॥
वेद-कितेब पढे वे कुतुबा, वे मोलना वे पाँडे ।
बेगरि बेगरि नाम धराये, एक मटियाके भाँडे ॥
कहँहि कबीर वे दूनौ भूले, रामहि किनँहु न पाया ।
वे खस्सी वे गाय कटावै, बादहि जन्म गँवाया ॥

२५०

सतो, राह दुनो हम डीठा ।
हिंदु-तुरुक हटा नहिं मानै, स्वाद सबन्हिको मीठा ॥
हिंदू बरत-एकादसि साधै, दूध-सिघारासेती ।
अनको त्यागै मनको न हटके, पारन करै सगोती ॥
तुरुक रोजा-नीमाज गुजारै, बिसमिल बाँग पुकारै ।
इनकी भिस्त कहाँतें होइहैं, साँझै मुरगी मारैं ॥
हिन्दुकी दया मेहर तुरुकनकी, दोनौ घटसो त्यागी ।
वे हलाल वे झटके मारै, आगि दुना घर लागी ॥
हिंदु-तुरुककी एक राह है, सतगुरु इहै बताई ।
कहँहि कबीर सुनहु हो संतो, राम न कहेउ खुदाई ॥

२५१

बन्दे तोहि बन्दिगीसो काम, हरि बिन जानि और हराम ।
दूरि चलणाँ कूँच बेगा इहाँ नहीं मुकाम ॥
इहाँ नहीं कोई यार दोस्त, गाँठि गरथ ना दाम ।
एक एकै संगि चलणा, बीचि नहीं बिश्राम ॥
संसार-सागर विषम तिरणा, सुमरि लै हरि-नाम ।
कहै कबीर तहाँ जाइ रहणा, नगर बसत निधान ॥

२५२

वेद-कतेब इफतरा भाई दिलका फिकर न जाई ।
टुक दम करारी जो करहु हाजिर हजूर खुदाई ॥
बंदे खोजु दिल हर रोज ना फिरि परेसानी माहिं ।
इह जु दुनिया सहरु मेला दस्तगीरी नाहिं ॥
दरोग पढि पढि खुसी होइ बेखबर बाद बकाहि ।
हक सच्चु खालक खलकम्याने स्याम मूरति नाहिं ॥
असमान म्याने लहँग दरिया गुसल करद न बूद ।
करि फिकरु दाइम लाइ चसमे जहँ तहाँ मौजूद ॥
अल्लह पाक पाक है सक करो जो दूसर होइ ।
कबीर कर्म करीमका उहु करै जानै सोइ ॥

---

२५१ कूँच बेगा=अपरिचित स्थानकी यात्रा ।

२५२ इफतरा=मिथ्या । दरोग=झूठ । हक=सत्य । खालिक=सृष्टिकर्ता । खलक=जगत्

२५३

मन, तुम नाहक दुद मचाये।
करि असमान छुवो नहिं काहू, पाती फूल चढाये।
मूरतिसे दुनिया फल माँगे, अपने हाथ बनाये।
यह जग पूजै देव-देहरा, तीरथ-वर्त-अन्हाये।
चलत फिरतमे पॉव थकित भे, यह दुख कहाँ समाये।
झूठी काया झूठी माया, झूठे झूठे झूठल खाये।
बाँझिन गाय दूध नहि देहै, माखन कहँसे पाये।
साँचेके सँग साँच बसत है, झूठे मारि हटाये।
कहै कबीर जहँ साँच वस्तु है, सहजै दरसन पाये॥

२५४

यह जग अधा मैं केहि समुझावों।
इक-दुई हो उन्हे समुझावो सब ही भुलाना पेटके धधा।
पानीके घोडा पवन असवरवा ढरकि परै जस ओसके बुदा।
गहरी नदिया अगम बहै धरवा खेवनहारा पडिगा फदा॥
घरकी वस्तु निकट नहिं आवत दियना बारिके ढूँढत अधा॥
लागी आग सकल बन जरिगा बिन गुरुग्यान भटकिया बंदा।
कहै कबीर सुनो भई साधो इक दिन जाय लगोटी झार बदा॥

---

२५४ पानीके घोड़ा=क्षणभगुर शरीर। पवन-असवरवा=प्राण। गहरी नदी=मायाप्रवाह। खेवनहारा=जीवात्मा। घर अधा=घरमें पड़ी हुई वस्तुके नजदीक तो जाता नही, यह अन्धा (मुग्ध मनुष्य) सारी दुनियामें उसे दिया जलाकर खोजता फिरता है। लागी आग=मोहकी आग लगी हुई है।

२५५

वाजन दे बाजतरी, कलि कुकुही जनि छेड़ ।
तुझे बिरानी का परी, अपनी आप निबेर ॥ १ ॥
देश-बिदेसन हौ फिरा, गॉव गॉवकी खोरि ।
ऐसा जियरा ना मिला, लेवे फटकि पिछोरि ॥ २ ॥

२५६

शून्य मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय ।
राम-सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय ॥

---

२५५ बाजतरी=यन्त्री, वीणा । कलि कुकुही=निकृष्ट वाद्य । टीकाकारोंका कहना है कि बाजतरीसे ससारके लोगोंकी नाना मतवाली वाणी और कलि कुकुहीसे वेदुआ शास्त्री पुराणिक, आदिका तात्पर्य है (त्रिज्या० पृ० ६४७) परन्तु सीधा अर्थ यह जान पड़ता है कि तेरे भीतर जो उत्तम आनन्द ध्वनि है उसे ही बजने दे, दुनियावी टण्टोंमें न पड़ । तुझे दूसरोंकी क्या पड़ी है अपनी ही सम्हाल । विश्व० में कलि-कुकुरी पाठ है और अर्थ यह किया गया है कि यह शरीर यन्त्र (वीणा) है और बजानेवालेके अधीन है । वह जैसा चाहेगा बजाएगा । तू मनको 'जो बैकल कुकुरियोंके समान है' मत छेड़, नहीं तो उसका विष तुझे भी बैकल कर देगा ।

२५६ रामके प्रति प्रेमभक्तिशून्य समाधि, अजपाजाप और अनहद नादकी अनुभूतिकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और शाश्वत है ।

अनुक्रमणिका

लेखककी अन्य रचनायें

१	हिन्दी साहित्यकी भूमिका	३।।)
२	बाणभट्टकी आत्मकथा	४।।)
३	प्राचीन भारतके कलात्मक विनोद	३)
४	सूर-साहित्य (प्रेसमे)	
५	विचार और वितर्क	३)
६	हिन्दी साहित्य	७)
७	नाथ सम्प्रदाय	४।।)
८	अशोकके फूल	३)
९	मध्यकालीन धर्म-भावना	३)
१०	कल्पलता	३)
११	निबध सग्रह	५)
१२	स पृथ्वीराज रासो	५)
१३	साहित्यका मर्म	१)
१४	हिन्दी साहित्यका आदिकाल	२।।।)



प्राप्तिस्थान—

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर लिमिटेड,

हीराबाग, बम्बई ४